भारत-परिचय
ग्रन्थ-माला

सम्पादक
वासुदेवशरण अग्रवाल

१

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।"

भारतीय दर्शन-सार

पुस्तकालय
सं० ...
1178

लेखक
बलदेव उपाध्याय

सस्ता साहित्य मण्डल-प्रकाशन

प्रकाशक

मार्तण्ड उपाध्याय
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली।

संस्करण

पहला
१९६२

मूल्य

साढ़े पांच रुपये

मुद्रक

श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स,
दिल्ली।

यह ग्रन्थमाला

'भारत-परिचय-ग्रन्थमाला' की योजना का उद्देश्य है भारतवर्ष की बहुमुखी संस्कृति का सरल परिचय निम्नलिखित बारह पुस्तकों के माध्यम से पाठकों के लिए प्रस्तुत करना—

भारत, हमारा देश
भारतीय भूगोल
भारतीय इतिहास
भारतीय धर्म
भारतीय दर्शन
भारतीय साहित्य
भारतीय कला और संस्कृति
भारतीय राजनीति
भारतीय जीवन
भारतीय जन
भारतीय प्रदेश-परिचय,
भारतीय लोक-जीवन

प्रत्येक पुस्तक २० × ३० सोलह पेजी लगभग तीन-चारसौ पृष्ठों की होगी। पुस्तक के लेखक का चुनाव उस-उस विषय के विशेषज्ञ विद्वानों में से किया गया है। पुस्तकें जिस क्रम से तैयार होती जायंगी, उसी क्रम से प्रकाशित होती रहेंगी। आशा है, योजना के अन्तर्गत इन पुस्तकों के द्वारा भारतीय इतिहास, संस्कृति और जीवन का सामान्य परिचय एकत्र उपलब्ध कराया जा सकेगा।

काशी विश्वविद्यालय,
वाराणसी

—वासुदेवशरण अग्रवाल
सम्पादक

प्रकाशकीय

महात्मा गांधी ने एक स्थान पर लिखा है—"मेरा निश्चित मत है कि संसार में किसी संस्कृति का भण्डार इतना भरा-पूरा नहीं है, जितना हमारी संस्कृति का है। हमने उसे जाना नहीं है।"...

संस्कृति की भांति भारतीय दर्शन, भारतीय कला, भारतीय साहित्य, भारतीय लोक-जीवन आदि का भण्डार भी अत्यन्त समृद्ध है, लेकिन हम उससे परिचित नहीं हैं।

आज जबकि देश के सर्वांगीण विकास के लिए विभिन्न क्षेत्रों में प्रयत्न हो रहे हैं, आवश्यक है कि हम अपने देश का अच्छी तरह से परिचय प्राप्त करें।

इस ग्रन्थ-माला की योजना के पीछे यही मूल हेतु है। बारह पुस्तकों में पाठकों को भारत के भूगोल, इतिहास, धर्म, दर्शन, कला, संस्कृति आदि की विशद जानकारी मिल जाय, इस प्रकार का प्रयास है।

हमें यह सूचना देते हुए हर्ष होता है कि इस ग्रन्थ-माला का सम्पादन भारतीय संस्कृति के परम उपासक और उन्नायक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कर रहे हैं और प्रत्येक पुस्तक उस विषय के अधिकारी विद्वान द्वारा लिखी जा रही है।

प्रस्तुत पुस्तक में, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, भारतीय दर्शन का परिचय कराया गया है। भारतीय दर्शन का विषय बड़ा गहन-गम्भीर है और उसपर विपुल सामग्री उपलब्ध है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विषय-प्रतिपादन बहुत ही सरल ढंग से किया गया है और प्रायः सभी आवश्यक बातों का इसमें समावेश कर दिया गया है। अधिकारी विद्वान द्वारा लिखी होने के कारण पुस्तक की प्रामाणिकता स्वयं-सिद्ध है।

हमारा प्रयत्न है कि इस माला की अन्य पुस्तकें भी पाठकों को शीघ्र ही सुलभ हो जायं।

—मंत्री

भूमिका

भारतीय दर्शन का यह संक्षिप्त परिचय पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है। दार्शनिक तत्त्वों को जानने की इच्छा रखनेवाले सामान्य जन को दृष्टि में रखकर इसकी रचना की गई है। इसलिए भाषा को शास्त्रीय परिभाषा से अलग रखकर सीधे-सादे ढंग से यहां सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में भारतीय दर्शन के मूल स्रोत का विवेचन है। द्वितीय खण्ड वेदबाह्य विचारधारा का प्रतिपादक है, जिसमें चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों का विवरण है। तृतीय खण्ड षड्दर्शनों का वर्णन करता है, जिसमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त का पृथक्-पृथक् विवरण दिया गया है। चौथे खण्ड में वेदान्त के इतर सम्प्रदायों का वर्णन है। ग्रन्थ के अन्त में उपसंहार में दर्शनों में समन्वय दिखलाया गया है। आशा है, पाठकों के ज्ञान-वर्द्धन में यह सहायता करेगा। यदि इस ग्रन्थ के अनुशीलन से पाठकों की रुचि दर्शन के तथ्यों को समझने की ओर बढ़ी तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ।

—बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

खण्ड १

१. भारतीय दर्शन का मूल स्रोत १—११५

१. विषय-प्रवेश १

२. श्रौत दर्शन ५४

३. गीता का तत्त्वज्ञान ८५

खण्ड २

२. वेदबाह्य दर्शन ११६—२०४

१. चार्वाक-दर्शन ११६

२. जैन-दर्शन १३५

३. बौद्ध-दर्शन १५८

खण्ड ३

३. आस्तिक दर्शन २०५—३६६

१. न्याय २०७

२. वैशेषिक २३२

३. सांख्य २५३

४. योग २८३

५. मीमांसा ३०७

६. वेदान्त ३२६

खण्ड ४

४. वेदान्त के इतर सम्प्रदाय ३६७—३९१

१. रामानुज-मत ३७०

२. निम्बार्क-मत ३७३

३. माध्व-मत ३७६

४. चैतन्य-मत ३७८

५. वल्लभ-मत ३८३

उपसंहार ३९२—३९४

अनुक्रमणिका ३९५

भारतीय दर्शन-सार

खण्ड १

भारतीय दर्शन का मूल स्रोत

१. विषय-प्रवेश
२. श्रौत दर्शन
३. गीता का तत्वज्ञान

: १ :

विषय-प्रवेश

दर्शन भारतीय मनीषियों के द्वारा अनुभूत सत्य का परिचय देनेवाला साहित्य है। प्रकृति ने भारतवर्ष को अपनी क्रीड़ा-वाटिका बनाया है। फलतः यहां भौतिक जीवन के निर्वाह करनेवाले साधनों की परिपूर्णता प्राचीनकाल से रही है। इसलिए यहां के विद्वानों ने तपस्या तथा स्वाध्याय के बल पर अध्यात्म तत्त्व का विशेष चिन्तन कर प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन ही नहीं किया, प्रत्युत अपने जीवन को भी उन तत्त्वों के अनुशीलन द्वारा पूर्णत्व की कोटि पर पहुंचाया है। दर्शन के मौलिक प्रश्न हैं—हम कौन हैं? कहां से आये हैं? हमारे सामने प्रतीत होनेवाला यह विशाल संसार क्या है? इससे हमारा क्या सम्बन्ध है? अनुभव का विश्लेषण किस प्रकार करना चाहिए? जीवन का उद्देश्य क्या है? इस उद्देश्य की सिद्धि के कौन-से साधन हैं? आदि-आदि। इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देने में और विविध समस्याओं के सुलझाने में भारतवर्ष के विचारकों ने जो सिद्धान्त अभिव्यक्त किये हैं, उन्हींका विवेचन भारतीय दर्शन की विविध धाराओं में, सम्प्रदायों में तथा महनीय ग्रन्थों में किया गया है। इस अध्याय में भारतीय दर्शन से संबद्ध सामान्य सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

दर्शन और विज्ञान

प्राणीमात्र के कार्य साधारणतया दृश्य जगत् में हुआ करते हैं। हमारा खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना सब कार्य दृश्य जगत् से ही सम्बद्ध है। दृश्य संसार से हमारा अभिप्राय उस संसार से है, जो हमारी इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य है, जिसके अस्तित्व की सूचना इन्द्रियां हमें देती हैं तथा

जिसका ज्ञान हमारी इन्द्रियों के द्वारा हुआ करता है। यह सिद्धान्त तो ठीक है; पर साधारण लोग इस बात से नितान्त अनभिज्ञ हैं कि अदृश्य जगत् इससे कहीं अधिक विशाल तथा महत्त्वशाली है। इस दृश्य जगत् पर अदृश्य जगत् का प्रभाव सदा और इतना पड़ता है कि उसकी कल्पना भी हमें नहीं हो सकती। समुद्र के ऊपर बहनेवाली हिमशिला का एक क्षुद्र अंश ही हमारी आंखों के सामने रहता है और उससे कई गुना अधिक अंश आंखों से ओझल रहता है। ठीक यही दशा इस विशाल जगत् की भी है। इसका जो अंश हम देख पाते हैं, वह तो परिमाण में बहुत ही छोटा है, पर जो हमारी इन्द्रियों से अप्रत्यक्ष-सा है, वह परिमाण में बहुत और महत्त्व में नितांत उपयोगी है। सच तो यह है कि यह दृश्य-अदृश्य का विभेद मानना—पार्थक्य स्वीकार करना—एक प्रकार की गलती है। इन दोनों की विभेदक रेखा कहां से आरम्भ होती है और कहांपर आकर इसका अन्त हो जाता है, इसे भला ठीक-ठीक कोई बतला सकता है ? इन दोनों का पारस्परिक इतना मेल है, आपस में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक को ठीक-ठीक समझने के लिए दूसरे को जानना नितान्त आवश्यक हो जाता है।

विज्ञान से परिचित लोग सदा कहा करते हैं कि अदृश्य जगत् की कल्पना एकदम विज्ञान-विरुद्ध है। विज्ञान तो केवल दृश्य जगत् की ही परीक्षा में व्यस्त है। उसे इस परीक्षा के सब साधन दृश्य जगत् में ही उपलब्ध हो जाते हैं; जगत् को ठीक-ठीक समझने तथा इसकी कार्यवाही को समझने के लिए विज्ञान को कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं होती। पर साधारण लोगों का यह विश्वास या ज्ञान बिल्कुल मिथ्या है। विज्ञान से उनका परिचय ऊपरी है। यदि वे विज्ञान के द्वारा उद्भावित सत्यों की गहराई तक पहुंचने का यत्न करेंगे तो उन्हें मालूम पड़ेगा कि आधुनिक विज्ञान अदृश्य जगत् में विश्वास ही नहीं रखता, प्रत्युत दृढ़ विश्वास रखता है। विज्ञान को पता चल गया है कि बिना अदृश्य जगत् में विश्वास किये दृश्य जगत् की घटनाओं की पूरी-पूरी व्याख्या हो ही नहीं सकती।

इधर बीसवीं सदी के आरम्भ से लेकर अबतक विज्ञान ने बड़ी उन्नति की है तथा करता ही जा रहा है। यह विश्वास अबतक दृढ़मूल-सा था कि विज्ञान केवल स्थूल पदार्थों के अस्तित्व को ही स्वीकार करता है। जो ठोस

है, वही सत् है, यह कल्पना कभी थी, परन्तु आज विज्ञान इसके आगे बढ़ गया है और इसी कारण वह रहस्यवादियों की कल्पनाओं को असत्य मानकर तिरस्कार करने के लिए उद्यत नहीं है। उदाहरण के लिए 'काल' की कल्पना को लीजिये। यह केवल काल्पनिक नहीं है, प्रत्युत भौतिक विज्ञान जगत् की विभिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए 'काल' की क्रीड़ा को आज प्रधान स्थान दे रहा है। पर काल तो स्थूल पदार्थ नहीं है? साधारणतया जिन पदार्थों को हम दृश्य मानते हैं, उनके सच्चे स्वरूप की खोज करने पर वे दृश्य नहीं मालूम पड़ते। हमारी चक्षुरिन्द्रिय बाह्य वस्तुओं के साथ जब सम्पर्क में आती है, तब देखने की क्रिया होती है। पर क्या यह प्रत्यक्ष दर्शन हुआ? बाहरी चीजों का प्रतिबिम्ब ही दृक्पटल (रेटिना) के ऊपर पड़ता है। हम इन प्रतिबिम्बों की व्याख्या करते हैं कि बाहरी चीज हरी-भरी लता है, लाल फूल है या सफेद कपड़ा है, या अपने सींगों को बराबर घुमाकर लोगों को भयभीत करनेवाला भैंसा है। इस प्रकार प्रतिबिम्बों के रूप को समझाने से बाहरी चीजों के रूप का पता चलता है। इस तरह हमारा यह ज्ञान अनुमान-जन्य हुआ। मन ही सत् रूप है। उसका ही काम बाहरी जगत् से नाड़ीमण्डल के द्वारा लाये गए इन्द्रिय-वासनाओं को समझाना और व्याख्या करना है। अतः उसका ज्ञान ही हमारे लिए प्रत्यक्ष ज्ञान है, इतर वस्तुओं का ज्ञान तो अनुमानसाध्य है तथा दूर की चीज है।

विज्ञान बाहरी जगत् के अनुभव को अकेले पूर्ण रूप से समझा नहीं सकता, क्योंकि उसमें कुछ ऐसे अंश भी हैं, जो आध्यात्मिक जगत् से संबंध रखते हैं। विज्ञान उनकी भी सत्यता को मानता है और इस प्रकार अपने अपूर्ण अंश की त्रुटि को पूरा करता है। भौतिक विज्ञान इस जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करते-करते अन्तिम व्याख्या में केवल सांकेतिक शब्दों पर ही आ जमता है। वह कहता है कि जगत् के मूल में 'शक्ति' (फोर्स) काम कर रही है, पर यह शक्ति भी क्या कोई स्थूल पदार्थ है? जब विशाल गगनमण्डल में नक्षत्रमालिका के रूप तथा बनावट की परीक्षा करने का अवसर ज्योतिर्विज्ञान के सामने आ उपस्थित होता है, तब उसे आश्चर्य से चकित ही हो जाना पड़ता है। आकाश में जितने तारे दिखलाई पड़ते हैं, उतने से न जाने कितने गुने अधिक तारामण्डल आकाश में निवास किया

करते हैं। वैज्ञानिक लोग पुकार-पुकारकर कहने लगे हैं कि समुद्र के तट पर जितने बालू के कण हैं, उससे अधिक ताराओं की संख्या आकाश में है और ये तारागण भी स्वयं एक विशाल सौरमण्डल के समान है, जिसमें हमारी पृथ्वी का अस्तित्व एक क्षुद्र बिन्दु से अधिक नहीं है। विज्ञान का यह कथन हमारे पौराणिकों के कथन का समर्थन कर रहा है। 'अनन्तावैं लोकाः'—लोक अनन्त हैं, उनका कभी तथा कहीं अन्त नहीं होता। इस विशाल अनन्त जगत् की घटना में वैज्ञानिक लोग एक अज्ञेय तथा अदृश्य शक्ति या शक्तिमान् की अबतक ठीक ढंग से अपरिमेय क्रीड़ा को कारणीभूत मानते हैं। सच है, यह जगत् सकलजगन्नियन्ता सर्वशक्तिमान् भगवान् की लीला का विलास है—हमारे महामुनीन्द्रों के द्वारा दृष्ट तथा परीक्षित इसी सत्य की पुष्टि आधुनिक विज्ञान से होने लगी है।

आधुनिक विज्ञान के लिए विकासवाद का सिद्धान्त अकाट्य है। गत शताब्दी के लगभग मध्यकाल में अंग्रेज वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन ने इस सिद्धान्त की उद्भावना प्रबल प्रमाणों के आधार पर की, यद्यपि दार्शनिकों को इस बात का अन्दाजा बहुत पहले से था। तबसे लेकर आजतक लगभग सौ साल में अनेक पुष्टिकारक प्रमाण उपलब्ध होते चले आ रहे हैं। विपरीत आलोचना का भी बोलबाला खूब था, पर परीक्षा की कसौटी पर कसने से यह सिद्धान्त खरा ही निकला। पहले इस सिद्धान्त में संशयालु वैज्ञानिकों का अभाव न था, पर आज तो यह सर्वमान्य सिद्धान्त है, जिसके आधार पर अन्य सिद्धान्तों की समीक्षा हो रही है और जिसका उपयोग विज्ञान में तो है ही, साथ-ही-साथ विज्ञानेतर विषयों की परीक्षा के अवसर पर भी किया जा रहा है। पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न विद्वानों के सामने आता है कि किस उद्देश्य को लेकर जगत् का विकास हुआ है। विकास का प्रयोजन कुछ परिलक्षित हो रहा है, अथवा केवल प्रयोजनहीन क्रियाकलाप की भांति यह भी प्रयोजन से नितान्त शून्य है, इसका उत्तर दो प्रकार से आजकल दिया जा रहा है। एक तो यह है कि इस जगत् के पदार्थों में एक प्राणात्मिका प्रवृत्ति स्वयं विद्यमान है, जो उन्हें विकास के मार्ग से ले जाकर अन्तिम लक्ष्य पर पहुंचा देती है। इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर वे जीवन धारण कर रहे हैं, अपनी लीला दिखला रहे हैं। यह मत है आजकल के सुप्रद्धि

फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां का, जो इस प्रवृत्ति को 'एलां वाइतल' (वाइटल अर्ज) के नाम से पुकारते हैं और जिन्होंने इसका सुविशद वर्णन अपने 'क्रीएटिव इवोल्यूशन' नामक विख्यात ग्रंथ में किया है। यह मत पदार्थों में ही एक प्रवृत्ति की सत्ता बतलाता है। पर दूसरा मत उन वैज्ञानिकों का है, जो इससे सहमत नहीं हैं। वे किसी बाह्य पदार्थ को ही विकास का कारण बतलाते हैं। वे किसी चेतन पदार्थ की सत्ता मानते हैं, जिसकी देख-रेख में इस विश्व की उत्पत्ति की घटना धीरे-धीरे क्रमिक विकास के अनुसार सुदूर काल से होती चली आ रही है और आगे भी चलती रहेगी। ये लोग एक 'यूनिवर्सल माइन्ड' की कल्पना मानकर विकासवाद के लिए कारण ढूंढ़ निकालते हैं।

विकास को समझाने का यह द्विविध मार्ग भारतीय दर्शन में भी विद्यमान है। सांख्य परिणाम के सिद्धान्त को मानता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परिणाम का फल यह दृश्यमान विश्व है। पर जड़ा प्रकृति में परिणाम के उन्मुख होने की प्रवृत्ति कहां से आई? सांख्याचार्य गण बछड़े के लिए गाय के थन से आप-से-आप बहनेवाले दूध का उदाहरण देते हैं। **'वत्स-विवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य'**। प्रकृति का परिणाम भी इसी प्रकार है। पर इसका मार्मिक खण्डन ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में किया गया है। 'प्रकृति के परिणाम' के विषय में श्री शंकराचार्य का यह वाक्य दूसरे पक्ष के सिद्धान्त का निचोड़ माना जा सकता है—

तत्सिद्धयर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात् प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुख-प्रवृत्तिता सापि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपद्यते, मृदादिष्वदर्शनात् रथादिषु च। चेतनस्यैव प्रवृत्तिर्दृष्टा नाचेतनस्य ब्र० सू० २।२।२ भाष्य

आशय यह है कि जगत् की रचना के लिए प्रकृति में प्रवृत्ति माननी पड़ेगी। प्रकृति स्वभाव से सत्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है। जब वह इस साम्यदशा से हटती है, तब उसमें प्रवृत्ति होती है। उस समय गुणों में न्यूनाधिक भाव आ जाता है। कोई गुण प्रधान बन जाता है और कोई उसका अंग। तब विशिष्ट कार्य को पैदा करने की ओर वह झुकती है। प्रश्न यह है कि जड़ प्रकृति में यह प्रवृत्ति कहां से आई?

जड़ मिट्टी का टुकड़ा चेतन कुम्भकार के द्वारा चालित होने पर घड़े का रूप धारण करता है। चेतन सारथी की अध्यक्षता में रथ चलता है। इसी प्रकार किसी चेतन की देख-रेख में जड़ प्रकृति में प्रवृत्ति आती है। स्वयं उसमें इस प्रवृत्ति का उदय हो नहीं सकता। जगत् के समस्त उदाहरण इसीके समर्थक हैं।

ऊपर दिया गया वैज्ञानिकों का मत ठीक इस मत से मेल खा रहा है। अतः विकासवाद को समझाने के लिए किसी अदृश्य पदार्थ की कल्पना विज्ञान को करनी ही पड़ती है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के सिद्धान्तों की पुष्टि आजकल उन्नत विज्ञान के द्वारा पूर्ण मात्रा में की जा रही है। यह उन सिद्धान्तों की प्रामाणिकता को क्या प्रबल रूप से सिद्ध नहीं कर रहा है?

दर्शन और सत्य

सत्य की महिमा प्रत्येक धर्म में है, चाहे वह धर्म छोटा हो या बड़ा। सत्य सार्वभौम धर्म है, प्रत्येक धर्म के माननेवाले को उसपर आस्था है। वैदिक धर्म ब्रह्म को सत्य स्वरूप मानता है—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**। ईसाई बाइबिल गाड (ईश्वर) को 'ट्रुथ' (सत्य) नाम से पुकारती है। इस्लाम खुदा को 'हक' (सत्य) कहकर पुकारता है। इस प्रकार ही प्रत्येक धर्म में सत्य का स्थान बड़ा ऊंचा है। इस ब्रह्माण्ड का सबसे बड़ा तत्त्व सत्य से अभिन्न माना जाता है। यह व्यवस्था प्रायः हरेक धर्म में देखी जाती है। पर सत्य की जितनी महिमा हिन्दूधर्म में है, सत्य पर हिन्दुओं की जैसी निष्ठा है वैसी अन्यत्र नहीं देखी जाती। हिन्दुओं के समान सत्यनिष्ठा अन्य धर्मावलम्बियों में मिलनी असम्भव नहीं तो विरल अवश्य है।

महाभारत के आदिपर्व में ६८ अध्याय से ७४ अध्याय तक शकुन्तला का उपाख्यान बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। राजा दुष्यन्त मालिनी तीर पर कण्व के आश्रम में गया। कण्व की अनुपस्थिति में उनकी पोष्यपुत्री शकुन्तला के साथ उसकी बातें हुई। उसने उसके रूप पर मुग्ध होकर उसके साथ विवाह का प्रस्ताव कर डाला। शकुन्तला ने उसे स्वीकार तो किया,

पर एक शर्त पर कि उन दोनों की सन्तति सिंहासन की अधिकारिणी बने। राजा ने इसे मान लिया। वह वहां से हस्तिनापुर चला गया; उधर शकुन्तला के पुत्र हुआ। कण्व को सन्देह हुआ कि राजा इसे भूल गया है। अतः पुत्र के साथ शकुन्तला को उसने राजा के पास भेजा। उस समय शकुन्तला ने राजा के सामने सत्य की जो महत्ता बतलाई है, वह वास्तव में मननीय है—

"सौ कूपों से बढ़कर वापी (तालाव) होता है; सौ वापी से बढ़कर क्रतु-यज्ञ होता है; सौ यज्ञों से बढ़कर पुत्र होता है और सैकड़ों पुत्रों से बढ़कर सत्य होता है। यदि सहस्रों अश्वमेध तथा सत्य तराजू पर तौलने के लिए एक साथ रखे जायं, तो सत्य का ही पलड़ा भारी होता है, भारी होने से वही झुकता है। सब वेदों का अनुशीलन, सब तीर्थों में स्नान तथा सत्य-- ये तीनों समान हो सकते हैं अथवा न भी हो सकते हैं। सत्य के समान कोई धर्म नहीं है; सत्य से बढ़कर कोई वस्तु है ही नहीं; झूठ से बढ़कर तीव्र वस्तु इस संसार में नहीं है।" (अ० ७४। १०२-१०५)

इसमें सत्य की कितनी ऊंची प्रशंसा है! यह केवल कोरी प्रशंसा ही नहीं है, प्रत्युत उस समय में सत्य की निष्ठा वास्तव में सर्वव्याप्त थी—

सत्यधर्मच्युतात् पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किं पुनरास्तिकः॥

--आदिपर्व ७४।९७

नास्तिक ईश्वर को नहीं मानते, वेद में श्रद्धा नहीं रखते, परलोक की हँसी उड़ाते हैं। पर सत्य पर उनकी निष्ठा अटल होती है। यदि कोई आदमी सत्य से च्युत होता है तो वे उससे उसी भांति उद्विग्न होते हैं जैसे क्रोधी सांप से आदमी डरकर भाग खड़ा होता है। नास्तिकों की सत्य पर ऐसी आस्था है तब वेद में श्रद्धाशील आस्तिकजनों की तो कथा ही न्यारी है। यह श्लोक हमारे लिए बड़े महत्त्व का है। नास्तिक हिन्दुओं की सत्य-निष्ठा इतनी दृढ़मूल है, तब आस्तिक हिन्दुओं की बात क्या कही जाय?

उद्योग-पर्व में 'हठवश सब संकट सहे गालव नहुष नरेश' में निर्दिष्ट गालव ऋषि का उपाख्यान कुछ विस्तार के साथ वर्णित है। उन्होंने ययाति राजा की पुत्री माधवी की कृपा से गुरु विश्वामित्र को आठ सौ श्यामकर्ण

घोड़ों के दानरूपी घोर प्रतिज्ञा को पार किया था। ययाति को अन्त में स्वर्ग मिला, पर पुण्य के क्षय हो जाने पर उन्हें पुनः इस भूतल पर आना पड़ा। यहां आकर उन्होंने चार राजाओं को यज्ञ करते देखा। उन्हें पता नहीं था, पर ये चारों उनकी पुत्री माधवी के पुत्र होने से उनके दौहित्र थे। इन चारों ने अपने पुण्यों को राजा को दे दिया, जिससे ययाति को फिर से स्वर्गप्राप्ति हुई। इसी प्रसंग में उशीनर के पुत्र राजा शिवि ने अपनी सत्यनिष्ठा की जो बात कही है, वह विशेष उल्लेखनीय है। इतनी निष्ठा अन्यत्र कहीं मिल सकती है? राजा ने कहा—बालकों के विषय में, स्त्रियों के विषय में, हँसी-मजाक में, प्रतिज्ञा के अवसर पर, विपत्ति में मैंने कभी झूठ नहीं कहा; सदा सत्य ही बोलता था। इस सत्य के बल पर आप स्वर्ग चले जायं। हे राजन्! मैं प्राणों को छोड़ने के लिए तैयार हूं, इस विशाल राज्य को भी छोड़ सकता हूं, अपने काम-सुख को भी छोड़ सकता हूं, पर मैं सत्य को कभी छोड़ नहीं सकता। इस सत्य के बल से आप स्वर्ग चले जायं।

यथा प्राणांश्च राज्यं च राजन् कामसुखानि च।
त्यजेयं न पुनः सत्यं तेन सत्येन खं व्रज॥

—उद्योग-पर्व १२२।१०

इसका फल भी तुरन्त हुआ। राजा ययाति फिर स्वर्ग चले गए। राजा शिवि जैसी सत्यनिष्ठा कहीं देखने को भी न मिलेगी। जो मनुष्य हृदय पर हाथ रखकर प्रतिज्ञापूर्वक कह सकता है कि किसी भी प्रसंग में, जीवन की विकट स्थिति में तथा आनन्ददायक अवस्था में, उसने कभी झूठ नहीं कहा, वह सचमुच आदर्श चरित्रवाला पुरुष है। भारतवर्ष में ऐसे उदाहरण साधारण रूप से मिलते हैं, पर अन्य देश में ऐसा चरित्र मिलना नितान्त दुष्कर है।

इसका कारण यह है कि हमारे रग-रग में सत्य की निष्ठा भरी है। हिन्दुओं के हृदय में सत्य के प्रति वास्तविक श्रद्धा है, गहरा सम्मान है। यह भारतीय सभ्यता की प्रधान विशेषता है। सत्यपरायणता हिन्दू संस्कृति तथा धर्म का प्राण है। आज इस कलिकाल में भी, हिन्दुओं के हृदय में, जितना प्रेम, श्रद्धा, सम्मान सत्य के लिए विद्यमान है, उतना शायद ही कहीं अन्यत्र देखने को मिल सकेगा। हमारे घरों में 'सत्यनारायण' की पूजा शुभ

अवसर पर, अमावस्या तथा पूर्णिमा पर, किसी मांगलिक कार्य के आरम्भ होने पर बराबर होती है। इस पूजा का प्रधान उद्देश्य यही है कि प्रत्येक हिन्दू के हृदय पर सत्य की महिमा की अमिट छाप डाल दी जाय। 'सत्य' ही नारायण है, इस सिद्धान्त का प्रचार जैसा हमारे धर्म में दिखलाई पड़ता है वैसा अन्यत्र शायद ही हो। सत्य भगवान् के पूजन के अन्दर कथा-श्रवण का प्रसंग आता है। इन कथाओं की छानबीन करने से यही शिक्षा मिलती है कि सत्य बोलनेवाले का कल्याण सदा होता है और सत्य के तिरस्कार करनेवाले का अमंगल अवश्यम्भावी होता है। सत्यनारायण की कथा का प्रधान पात्र एक व्यापारी सज्जन है, जो बार-बार प्रतिज्ञा कर उसमें टल जाता है, अपनी नाव में रखी गई अमूल्य सम्पत्तियों को 'लतापत्रादि' कहकर प्रश्न-कर्ता दण्डी को झूठी सूचना देता है। परिणाम तुरन्त होता है। वह राजा के द्वारा दण्ड पाता है, घोर कारागार में ठूंस दिया जाता है। 'सत्य'-पूजन की प्रतिज्ञा करने पर क्लेश से मुक्त हो जाता है तथा सांसारिक कल्याण को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार हिन्दुओं में जिस तरह सत्य भगवान् की पूजा की जाती है, भला वैसी पूजा अन्यत्र दीख पड़ेगी? हमारी सत्यनिष्ठा विलक्षण है, श्लाघनीय है और अनुकरणीय है।

सत्य के रहस्य को समझना सहज काम नहीं है। इसकी छानबीन विशेष विद्वान् ही कर सकता है। हमारे ऋषियों ने इस तत्त्व की आलोचना बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से की है। सत्य का आदर्श स्वरूप क्या है? इस मृषाबहुल जगत् में उस आदर्श का कितना पालन हो सकता है? किन विकट परिस्थितियों में पड़कर हमें उस आदर्श को व्यवहार के अनुरूप तथा अनुकूल लाना पड़ता है?—इत्यादि अनेक प्रश्न इस विषय में उपस्थित होते हैं, जिनके समुचित उत्तर हमारे धर्म तथा दर्शन-ग्रन्थों में दिये गए हैं। इनके अध्ययन से हमें सत्य के यथार्थ स्वरूप के निर्णय करने की कुंजी मिल जाती है।

सबसे पहले 'सत्य' शब्द की व्युत्पत्ति तथा तज्जन्य अर्थ पर ध्यान देना चाहिए। 'सत्य' की व्युत्पत्ति 'निरुक्त' में अनेक प्रकार से दी गई है। यास्क से पहले शकटायन नामक आचार्य ने इस शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओं के

योग से बतलाई है। 'सत्य' के दो खण्ड हो सकते हैं—सत् और य। इन खण्डों के लिए उन्होंने दो धातुओं का उपयोग किया है। 'सत्' अस् (होना) धातु से बना साक्षात् रूप है, पर 'य' इ धातु (जाना) के प्रेरणार्थक रूप (आययति) का एक अंशमात्र है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सत्य का अर्थ होगा—**सन्तमर्थम् आययति प्रत्याययति गमयतीति सत्यम्** (दुर्गाचार्य) अर्थात् विद्यमान रहनेवाले पदार्थ को जो बोध कराये, वह 'सत्य' हुआ। जो वस्तु जिस रूप में विद्यमान है, उसका उसी रूप में बोध कराना 'सत्य' के नाम से पुकारा जाता है। इस निरुक्ति में दो धातुओं ('अस्' धातु और 'इ' धातु) का उपयोग किया गया है; यह ढंग यास्क को पसन्द नहीं है। अतः उन्होंने स्वयं इसकी व्याख्या दो प्रकार से करके दिखलाई है। **सत्यं कस्मात् ? सत्सु तायते सत्प्रभवं** भवतीति वा। 'सत्य' कैसे हुआ? एक कारण तो यह है कि सज्जनों के रहते उसका तान या विस्तार किया जाता है अर्थात् सज्जनों के पास झूठ नहीं बोला जा सकता। उनमें कुछ ऐसी सात्त्विक शक्ति रहती है कि जिसके वशीभूत होकर वक्ता सत्य बोलने के लिए बाध्य हो जाता है। दूसरा कारण यह है कि सत्य 'सत्'-जनों से प्रसूत होता है। अर्थात् जो सत्‌जन हैं, वे सत्य ही बोलते हैं। सत्य से इतर भाषण कभी नहीं करते। इन दोनों प्रकारों में एक ही धातु का उपयोग कर सत्य की निरुक्ति की गई है। इन निरुक्तियों को एक साथ निरीक्षण करने से सत्य के सामान्यरूप का परिचय भली-भांति प्राप्त हो जाता है। जिस वस्तु की सत्ता जिस रूप में हो उसका उसी रूप में ज्ञान कराना सत्य का काम है। सज्जन (सत्‌जन) और सत्यभाषी दोनों समानार्थक शब्द हैं। सत्‌जन वे ही हैं, जो सत्य भाषण करते हैं और सत्य का विस्तार सज्जनों के पास किया जाता है। सत्पुरुष में ऐसी शक्ति देखी जाती हैं कि कोई कितना भी झूठ बोलनेवाला हो उसके पास उसे सत्य बोलने के लिए कुछ बाध्य-सा होना पड़ता है।

यह तो हुआ 'सत्य' का निरुक्तिगम्य अर्थ। अब इसके स्वरूप की मीमांसा पर ध्यान देना चाहिए। 'पातंजल सूत्रों' के 'व्यास-भाष्य' में यह मीमांसा भली-भांति की गई है। वाचस्पति ने 'तत्त्ववैशारदी' तथा विज्ञान-भिक्षु ने 'योगवार्तिक' में इसके स्वरूप को और भी सरल रूप से समझाने

का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। महर्षि पतंजलि ने जिन पांच 'यमों' को बतलाया है (**अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः** २।३०), उनमें अहिंसा के अनन्तर 'सत्य' का स्थान है। इसी सूत्र की व्याख्या में 'व्यास-भाष्य' में बड़ी महत्त्वपूर्ण बातें बतलाई गई हैं।

सत्य में वाणी और मन दोनों यथार्थ होते हैं, अर्थात् इन्द्रियों की सहायता से जो वस्तु जिस रूप में देखी गई है या अनुमान के साधनों से जिस रूप में उसका अनुमान किया गया है, उसका उसी रूप में मन में रखना तथा शब्दों के द्वारा उसी रूप का प्रकट करना वाङ्मनस् का यथार्थ होना कहलाता है। सत्य का सम्बन्ध केवल वाणी से नहीं होता, प्रत्युत उसका निश्चित सम्बन्ध मन से रहता है। वाणी के द्वारा किसी वाक्य का उच्चारण ठीक ढंग से भले होता रहे, पर यदि मन में छल भरा हुआ है तो वह सत्य कहां का? यह तो केवल वाचिक सत्य हुआ। वाणी का उपयोग ही इसीलिए तो होता है कि अपने ज्ञान को दूसरे व्यक्ति पर संक्रमण किया जाय (**परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वाग् उक्ता**)। किसी पुरुष-विशेष को किसी वस्तु की कुछ जानकारी है। वह चाहता है कि उसका ज्ञान दूसरे किसी व्यक्ति को भी हो जाय। इस कार्य के लिए प्रधान साधन है हमारी वाणी। शब्द-प्रयोग करके हम अपने मनोगत भावों को अभिव्यक्त कर सकते हैं। आचार्य दण्डी ने इस विषय में बहुत ठीक कहा है—

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयंज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥

अर्थात्—यह समग्र तीनों भुवन घने अन्धकार के रूप में परिणत हो जायं, यदि शब्द नामक ज्योति इसे प्रकाशित न करे। अतः शब्द की उपयोगिता संसार के व्यवहार में कितनी है, इसे विशेष रूप से बतलाने की जरूरत नहीं।

अब यह वाणी सत्य कब हो सकती है? जब उसमें तीन दोषों को स्थान न दिया जाय। यदि इस वाणी में वंचना न हो, भ्रान्ति न हो, तथा प्रतिपत्ति-शून्यता न हो। **सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिशून्या वा भवेदिति**—व्यासभाष्य। विपरीत अर्थ के बतलाने की इच्छा से प्रयुक्त की जानेवाली वाणी को 'वंचिता' कहेंगे। अपने पुत्र की मृत्यु के विषय में द्रोणा-

चार्य के द्वारा पूछे जाने पर युधिष्ठिर का दिया गया सुप्रसिद्ध उत्तर 'वंचिता' वाणी का उदाहरण हुआ। अपने हृदय में बैठे हुए ज्ञान का यथार्थ संक्रमण यहां कहां हुआ ? हुआ उससे विपरीत अर्थ का बोध। अतः इस दोष से शून्य होने पर ही वाणी सत्य हो सकती है। 'भ्रान्ता' वाणी भ्रम से युक्त होती है। भ्रम कभी भी हो सकता है। ज्ञेय वस्तु के स्वरूप-निर्धारण के अवसर पर या विवक्षा के अवसर पर। प्रतिपत्ति-शून्यता का अभाव वाणी में तभी आ सकता है, जब अप्रसिद्धपदों का प्रयोग उसमें न हो। इन दोषों के होने पर मनोगत भावों की दूसरे के ऊपर अभिव्यक्ति यथार्थरूप से हो नहीं सकती। अतः इन दशाओं में हम उसे असत्य कहेंगे तथा इन दशाओं से निर्मुक्त होने पर ही उसे सत्य कहेंगे।

वाणी में इतनी बातों के होने पर भी एक अन्य गुण की आवश्यकता अबतक बनी हुई है। वह गुण है सर्वभूतोपकारिता (**एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय**)। वचनों को केवल श्रवण करके ही उनका कार्य समाप्त नहीं हो जाता, प्रत्युत उनको कार्यरूप में परिणत करने में ही उनका अन्तिम उद्देश्य सिद्ध होता है। यदि इस उद्देश्य की सिद्धि में प्राणियों का कल्याण-साधन नहीं होता तो वह वाणी सत्य से सर्वथा च्युत समझी जानी चाहिए। वाणी में वास्तविक सत्यता की सत्ता तभी माननी चाहिए जब उससे प्राणियों का उपकार हो, मंगल हो। यदि वाणी का प्रयोग प्राणियों का उपघात ही उत्पन्न करे तो उससे पाप ही होगा, ऊपर से देखने में भले वह पुण्य-सा प्रतीत हो। अतः उसके प्रयोग करनेवाले को उस पुण्याभास के लिए कठोर यातना सहनी पड़ती है। शब्दप्रयोग का उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ। उसका विषम फल फला। अतः वह पुण्य नहीं हुआ, प्रत्युत पुण्य-प्रतिरूपक हुआ। इसलिए खूब परीक्षा कर सब प्राणियों के हित-साधन करनेवाले सत्य वचन को बोलना चाहिए; यही 'व्यासभाष्य' के विवेचन का निष्कर्ष निकलता है।

इस पुण्यप्रतिरूपक का एक मनोरम दृष्टान्त वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका में दिया है। एक बूढ़े साधक तपस्वी थे, जिनका नाम 'सत्यतपाः' था। सत्य पर उनकी दृढ़ निष्ठा थी, गहरी आस्था थी। जंगल में रहकर वह तपस्या किया करते थे। स्थान था बड़ा बीहड़। एक दिन उधर से माल-असबाब से

लदा हुआ सौदागरों का एक झुंड उसी रास्ते से होकर निकला। तापस ने उसे देखा। कई घण्टों के बाद डाकुओं का एक दल उधर आ निकला और उस स्थान पर सत्यतपा को देखकर सौदागरों के जाने के मार्ग को उसने पूछा। अन्तिम परिणाम को बिना विचारे श्रद्धालु तापस ने सच्ची बात कह दी। परिणाम महाभयंकर हुआ। बेचारे सौदागर लूटे गए और अपने जीवन से भी उन्हें हाथ धोना पड़ा। सत्यतपा के वचन थे तो सत्य; पर उनका परिणाम नितान्त प्रतिकूल निकला। सर्वभूतोपकारिता के स्थान पर उनमें अमंगलकारिता भरी थी। इस सत्याभास के प्रयोगकर्ता तापस को इसके लिए उचित दण्ड भोगना पड़ा होगा, यह बतलाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

'व्यासभाष्य' के अनुसार की गई सत्य की यह मीमांसा 'महाभारत' के 'शान्तिपर्व' में किये गए विवेचन से सर्वथा साम्य रखती है। इन दोनों ग्रन्थों के विवेचन का सारांश नीचे के पद्य में मिलता है—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम॥

दर्शन में वर्णित सत्य का रूप भी इससे भिन्न नहीं है। दृष्टि का भेद होने पर मूल तथ्य में भेद के समान प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः सत्य सत्य ही है। उसके रूप में भेद की सम्भावना नहीं होती।

दर्शन और लोकोत्तर ज्ञान

प्राचीनकाल से ही इस देश में आत्मतत्त्व का अनुसंधान प्रवर्तित हुआ था। 'अहं' की प्रतीति किसको आश्रय करके एवं किसे अवलम्बन कर उठती है? इसकी आलोचना चिन्ताशील व्यक्ति मात्र ही करते थे। जो व्यक्ति तपस्वी, योगी तथा साधना-सम्पन्न थे, वे अपने योग-बल से अपने अंतःकरण तथा बाह्य इन्द्रियों का उत्कर्ष साधन कर लौकिक प्रत्यक्ष से कहीं श्रेष्ठ उच्च श्रेणी का प्रत्यक्ष ज्ञान लाभ करने में समर्थ होते थे। इन्द्रियों के दोष तथा अपटुतावश, पदार्थ की सूक्ष्मता के कारण या आवरणवश, या चित्त की कलुषता तथा प्राक्तन संस्कारों के कारण लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा सत्य का अभ्रांतस्वरूप साक्षात्कार करना सम्भव नहीं है। इसलिए वे लोग नैतिक

जीवन का उत्कर्ष सम्पादन तथा समाधि का अभ्यास अथवा अन्य किसी प्रकार के साधनाप्रणाली का अभ्यास आवश्यक समझते थे। बौद्ध लोग जिस शील तथा समाधि को प्रज्ञालाभ का हेतु मानते हैं, उसका हिंदू तथा जैन आचार्य भी समर्थन करते हैं। शील अर्थात् यम-नियमादि के द्वारा नैतिक विशुद्धि लाभ होने पर ही देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि सत्य-धारण करने की योग्यता प्राप्त करती है। इन्द्रिय तथा मन के संयम से बुद्धि के स्वच्छता लाभ कर लेने पर ही सत्य का शुभरूप अभ्रान्तरूप से चिन्तारूपी दर्पण में प्रतिबिंबित होता है। योग-साधना के द्वारा इस संयम तथा अंतःशुद्धि लाभ करना पड़ता है। इस प्रकार क्रिया-योग के द्वारा क्लेश तथा मलों को क्षीण कर समाधिजनित ज्ञानाग्नि द्वारा उन्हें जलाना होता है। इस प्रकार जब मन की चंचलता सम्यक् रूप से निरुद्ध हो जाती है, वृत्तिरोधावस्था में स्वयंप्रकाश सत्य अपने-आप अपने में प्रकाशित होता है। सत्य ज्योतिस्वरूप है और भास्वर है। उसके उदय होने से चित्त प्रकाशित और शान्त हो जाता है। उसके अज्ञान और चंचलता के बीज नष्ट हो जाते हैं। चित्त की अवचेतन भूमि में जो संस्कार विद्यमान हैं, वे सत्यज्ञान लाभ करने के एकदम विरोधी हैं। नाना प्रकार की वृत्तियां तथा वासनाएं सत्य ज्ञान लाभ करने के विरोधी रूप में चित्त की चेतन तथा अवचेतन भूमि में विद्यमान हैं। साधना के द्वारा स्वभावसिद्ध महाशक्ति का जब उद्बोधन होता है तब ये सब विरुद्ध शक्तियां अपने-आप निस्तेज हो जाती हैं। ऐसे समय ही सत्य का विमल रूप प्रकट होता है। इसमें किसी प्रकार के विकल्प का मिश्रण नहीं रहता। केवल अन्तर्बुद्धि (इंटयूशन) कहने से समाधिजनित प्रज्ञा का बोध नहीं हो जाता। यह और भी ऊपर की अनुभूति है। अंतर्बुद्धि से लेकर उन्मेष (रेवेलैशन) तक सब कुछ इसीके अन्तर्गत हैं। इस ज्ञान को प्रातिभ-ज्ञान कहते हैं। यह साक्षात् होता है। इसलिए इसमें भ्रांति की सम्भावना भी नहीं होती। फिर भी प्राप्त करते समय ठीक तरह से धारण न कर सकने से अर्थात् सामयिक रूप से चित्त में चांचल्य उत्पन्न हो जाने से इसमें भ्रांतिक बीज निहित हो जाते हैं। दिङ्नागाचार्य ने इसीलिए अभ्रान्तप्रत्यक्ष को 'कल्पनाशून्य' कहा है। 'पातंजल योगशास्त्र' में यही 'पर प्रत्यक्ष' नाम

से ख्यात है। यह निर्विकल्प होता है, किन्तु अन्य आधार में संचार के समय शब्दमूलक विकल्प का आश्रय इसे लेना होता है। श्रुति भी इसी 'पर-प्रत्यक्ष' को अनुमान का बीज मानती है। जो सब शास्त्र सत्य के निर्मल स्वरूप को प्रकाशित कर लोक-शिक्षा के कार्य में प्रवृत्त हुए हैं, उनके मूल में इसी तरह की अनुभूति या प्रत्यक्ष ज्ञान है। इस प्रकार की अनुभूति का उदय साधना के फलस्वरूप केवल विशेष आधारों में ही हुआ करता है। किन्तु अनुभूति के उदय के मूल में महाशक्ति अर्थात् विश्वातीत सत्ता का अनुग्रह सबको स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि इस प्रकार का ज्ञान मन या बुद्धि का धर्म नहीं है। मन या बुद्धि की वृत्ति जबतक संयत नहीं हो जाती तबतक इसका उदय ही नहीं होता। यह लोकोत्तर ज्ञान है। साधना के द्वारा क्षेत्र तैयार हो जाने पर तथा इसके धारण की योग्यता आ जाने पर यह महाज्ञान अनाहत रूप में अपने-आप आ जाता है। जिस महाभाग्यवान में इस ज्ञान का उदय होता है,वह देहधारी होने पर भी देहातीत महासम्पत्ति के अधिकारी हैं। वह शब्द के द्वारा इस ज्ञान को भाषा में निबद्धकर इसे सवि-कल्परूप देकर शास्त्र के रूप में या उपदेश-वाक्य के रूप में संसार को प्रदान करते हैं, तब वह आप्तपुरुष के नाम से ख्यात होते हैं। अभ्रान्तज्ञान, महाक-रुणा तथा करणादि का पटुत्व या सामर्थ्य, अर्थात् विशुद्ध इच्छाशक्ति, ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति इन तीनों का उनमें प्रकाश रहने के कारण वे 'आप्तपुरुष' नाम से परिचित होते हैं। जो लोग ईश्वर मानते हैं, वे परम आप्त से इन त्रिविधशक्ति-सम्पन्न पुरुष को लक्ष्य करते हैं। अतः ईश्वर के मानने या न मानने पर आप्तपुरुष तत्त्व निर्भर नहीं करता। क्योंकि सांख्य नित्य-सिद्धि ईश्वर नहीं मानता, फिर भी आप्तवचन स्वीकार करता है। इसी प्रकार मीमांसा ईश्वरास्तित्त्व को न स्वीकार करके भी नित्य वाक्य के रूप में वेद को स्वीकार करता है। वस्तुतः आगमों में वर्णित विमर्श-शक्ति ही इसका परमस्वरूप है।

इस लोकोत्तर ज्ञान को नित्य सिद्ध समझना चाहिए। मीमांसक लोग भी वेद के स्वरूप से यह समझते हैं। यह अभ्रान्त सर्वविषयक अनन्त ज्ञान है। आगम में इसे 'परावाक्' नाम देकर परमशिव से अभिन्न शक्तिरूप कहा गया है। इससे ही क्रमशः विभिन्न स्तरों में क्षीण होकर महाज्ञान का

अवतरण होता है। इस ज्ञान का आश्रय न कर व्यावहारिक क्षेत्र अनुमान-प्रवृत्त नहीं हो सकता। अनुमान का स्वभाव युक्ति या योजना है और इसके मूल में व्याप्ति-ज्ञान है। व्यापक ज्ञान की सम्भावना ही जहां नहीं है, वहां वास्तव में व्याप्ति का उदय ही कैसे होगा। सार्वभौम सत्य स्थापित करने के लिए देशकाल से अपरिछिन्न व्यक्तिगत संस्कारों से अनाविल विशुद्ध व्यापक ज्ञान चाहिए। खण्ड सत्य सब इसी महाज्ञान से निकलते हैं। यही 'निगमन' है। मूल में व्यापक ज्ञान मान लेने पर युक्तितर्क की अवतारणा फलदायक होती है, नहीं तो सबकुछ वितण्डा में परिणत हो जाता है। इसी कारण वेदान्त सूत्र में तर्क को अप्रतिष्ठ कहा गया है। वाकपदीयकार भर्तृहरि ने भी इसका समर्थन किया है।

दर्शन का अर्थ

लोकायतमत को छोड़कर साधारणतया यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के मूल में विशुद्ध अनुभूति-स्वरूप परमसत्य का प्रकाश है। इसे स्वीकार कर इसे समझने के लिए युक्ति तथा विचारधारा का उपयोग किया जाता है। अति प्राचीन काल से ही उपनिषदों में तथा अन्यत्र **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'** अर्थात् आत्मा ही दर्शन व साक्षात्कार का विषय है, यह सिद्धान्त सर्वत्र मान लिया गया है। दर्शन या दृष्टि शब्द के प्रयोग के मूल में भी यही सिद्धान्त है। जो लोग श्रद्धासम्पन्न अर्थात् सत्य धारण करने में उपयुक्त हैं, अनुकूल मनोवृत्ति से सम्पन्न हैं, वे गुरु से अथवा वेद आगमादि अपौरुषेय ग्रंथसमूह से अथवा चिदाकाश में स्वयं उद्भूत विवेक-वाणी से या अंतरात्मा की वाणी से पहले सत्य को शब्द के रूप में श्रवण करते हैं। यह श्रवण-व्यापार सबके क्षेत्र में बहिर इन्द्रिय द्वारा ही सम्पादित होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। विशुद्ध तथा संस्कार-मुक्त बाह्य इन्द्रिय अथवा शुद्ध अंतःकरण द्वारा यह शब्द गृहीत होता है। यह विशुद्ध विकल्परूप ज्ञान है, जो शब्द को आश्रयकर श्रद्धालु श्रोता के अंतःक्षेत्र में आविर्भूत होता है। यदि किसी आधार में चित्तगत या देहगत मलिनता न रहे तो इस शब्द के श्रवणमात्र से साक्षात् रूप में या परम्पराक्रम से अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है। इसे ही दर्शन या साक्षात्कार कहते है। आध्यात्म-मार्ग

के इतिहास में इसका दृष्टान्त विरल नहीं है। किन्तु यदि आधार में असंभावना-दोष रहे अर्थात् यदि चित्त सरल एवं स्वच्छ न होकर संशयाकुल हो तो शब्दजन्य ज्ञान चित्त में साक्षात्कार का रूप नहीं ग्रहण कर सकता। इन सब आधारों में श्रद्धा की मात्रा कम होने के कारण स्वभावत: ही इनमें संशय और तर्क उदित होता है, जिन्हें दूर करने के लिए मनन अथवा युक्ति-विचार की आवश्यकता होती है। युक्ति-विचार के क्षेत्र में स्वाभाविक नियमादि का पालन करना होता है, अर्थात् विचार-प्रणाली की जो संगति-पूर्ण धारा है, जिसे अवलम्बन न करने से युक्ति अभिनव ज्ञान का उन्मेषक न होकर असम्बद्ध प्रलाप मात्र हो जाता है, उसका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इसीका नाम 'यौक्तिक विचारणा का नियम' (लाज़ आफ रैशनल थिंकिंग) है। इस विचार की प्रणाली में पूर्व-वर्णित आप्त वाक्य को स्थापित करना होता है। यदि चित्त संशयाकुल न हो तो इसकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु यदि वह संशयाकुल हो तो इसकी आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि ऐसी अवस्था में श्रद्धा की मात्रा अपेक्षाकृत कम रहती है, और जितनी रहती है वह सत्य वाक्य को सिद्धान्त के रूप में हृदय में धारण करने में सहायता करती है और तर्क को कुतर्क में परिणत नहीं होने देती। यदि उतनी भी श्रद्धा हृदय में न हो तो विचारधारा के मूल में आश्रय के रूप में कुछ भी नहीं रहता। इस प्रकार तर्क व विचार अपने अन्दर चक्कर लगाया करते हैं। इससे तत्त्व का निर्णय नहीं हो, तो कुछ अंश तक केवल विजिभिषावृत्ति प्रशमित होती है। ऐसे स्थान पर अनवस्था दोष का होना अवश्यम्भावी है। चित्त के असम्भावना-दोष को दूर करने के लिए ही मनन शास्त्र की आवश्यकता है। लेकिन सभी भारतीय दार्शनिक एक स्वर से कहते चले आये हैं कि मनन के द्वारा आप्तजन से प्राप्त तत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान पूर्णरूप से नहीं प्राप्त किया जा सकता। अवश्य यह बात सत्य है कि श्रद्धा का आधिक्य हो तो ऐसा होना भी असम्भव नहीं। किन्तु जिस आधार में असम्भावना के अतिरिक्त विपरीत भावना भी विद्यमान है, वहां निदिध्यासन अथवा योगाभ्यास की आवश्यकता स्वीकार करना पड़ता है। असम्भावना न रहना भी यदि केवल विपरीत भावना रहे तो उसे दूर करने के योगाभ्यास की जरूरत होती है। किन्तु यदि क्षेत्र भी

श्रद्धा का अतिशय्य हो, आत्मप्रत्यय प्रबल हो, तो योगाभ्यास की आवश्यकता भी नहीं हो सकती है।

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः
मत्वा सततं ध्येयः एत दर्शनहेतवः।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन ये तीनों साधारणतया दर्शन के हेतु कहे जाते हैं। 'न्यायकुसुमांजलि' में उदयनाचार्य ने कहा है, "**न्यायचर्चेयम् ईशस्य मनन व्यपदेशभाक्श्रवणानन्तरगता**"—अर्थात् श्रवण के उपरान्त जो न्याय-चर्चा या दार्शनिक आलोचना युक्ति-तर्कपूर्वक की जाती है, वह वस्तुतः मनन का अंश होती है। यह कुछ अंश तक उपासना का ही प्रकार-भेद है। अद्वितीय दार्शनिक पण्डित उदयन का यह दृष्टिकोण विचार करने योग्य है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'आत्मतत्त्व-विवेक' के अंत में इस प्रकार की भावना का कुछ आभास दिया है।

भारतीय दर्शन का प्रस्थान-भेद

यद्यपि अति प्राचीन समय में शृंखलाबद्ध दार्शनिक विचार-धारा प्रचलित न थी, किन्तु दार्शनिक चिन्ता का प्रस्थानगत वैशिष्ट्य अति-प्राचीनकाल से ही था, जिसका पता हमें बौद्धों के पाली-साहित्य, जैनों के प्राकृत-साहित्य और उपनिषद् और महाभारत के शान्तिपर्व आदि की आलोचना करने में लग जाता है। स्वभाववाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद, कालवाद, प्रकृतिवाद, ईश्वरवाद प्रभृति असंख्य वादों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में बहुत स्थलों पर मिलता है। ये सब वाद विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों से निकले हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु इन्हें किसी निर्दिष्ट प्रकार की दर्शन-प्रणाली और धारा से युक्त नहीं किया जा सकता। सुश्रुत की टीका में (डल्लनाचार्य-कृत) बृहत्संहिता की टीका में (भट्ट उत्पल-रचित) प्राचीन सांख्य सप्तति की लुप्त कारिका में (जिसका उद्धार स्व० श्री बालगंगाधर तिलक ने किया था) तथा अन्यान्य ग्रन्थों के बहुत स्थानों में इनका उल्लेख तथा आनुषंगिक विवरण मिलता है। डा० श्रादर ने जर्मन भाषा में लिखित अपने एक स्वतन्त्र निबन्ध में भगवान् बुद्ध और महावीर के समय में प्रचलित सब वादों का संक्षिप्त विवरण दिया है।

'न्यायदर्शन' और वात्सायन-भाष्य के चतुर्थ अध्याय में कुछ वादों का उल्लेख है। 'कथा वत्थु' नामक पाली ग्रन्थ में बौद्ध संप्रदाय में परिचित कुछ वादों का उल्लेख मिलता है, लेकिन ये सब वाद कोई निर्दिष्ट दार्शनिक प्रस्थान नहीं हैं। अति प्राचीन समय में इस प्रकार के प्रस्थान भी नहीं थे। उदाहरण के लिए हम स्वभाववाद को लेते हैं, साधारणतया लोग लोकायत मत या चार्वाक मत को ही स्वभाववाद समझते हैं। एक दृष्टि से यदि देखा जाय तो यह समझना ठीक ही है, किन्तु सचाई तो यह है कि स्वभाववाद प्रत्येक दर्शन में किसी-न-किसी रूप में माना गया है। कार्यकारण-भाव की समालोचना के प्रसंग में जो स्वभाववाद का वर्णन मिलता है और जिसका उल्लेख उदयनाचार्य ने अपने ग्रंथ 'न्याय कुसुमांजलि' के प्रथम स्तबक में किया है, वही एकमात्र इसका दृष्टान्त नहीं है। सांख्य-दर्शन में अति प्राचीन काल से ही प्रकृति के परिणाम के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित थे। उनमें से एक यह है कि प्रकृति का परिणाम स्वाभाविक है। सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम दोनों ही स्वाभाविक हैं। दूसरे मतानुसार प्रकृति का परिणाम किसी वाह्य निमित्त के वश हुआ करता है। इस निमित्त के रूप में अधिकांश स्थल पर 'काल' को ग्रहण किया जाता है। किसी-किसी से श्वरसांख्य के मत में काल के स्थान पर ईश्वर की इच्छा ली जाती है। इस प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

दार्शनिक विचारधारा किस समय से सूत्राकार धारण कर श्रेणीबद्ध होने लगी; यह कहना बहुत ही कठिन है। इसमें सन्देह नहीं कि यह अति प्राचीन समय में यदि नहीं भी हुआ तो प्राचीन समय में तो अवश्य ही हुआ होगा। श्रेणीबद्ध होने के बाद कितने दार्शनिक प्रस्थान प्राचीन काल में दर्शन-कोटि में आ सके, यह निश्चित नहीं बताया जा सकता। फिर भी यह कहा जा सकता है कि उनकी संख्या कम न थी। 'षड् दर्शन समुच्चय' की टीका से तथा अन्यान्य बहुत स्थानों से इनका परिचय मिल जाता है। इन सब दर्शनों में लोकायत या चार्वाक-दर्शन को भी स्थान मिला है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'विद्या समुद्देश' प्रकरण में आन्वीक्षिकी और सांख्य के साथ लोकायत-मत को स्थान मिला है। षड्दर्शनसमुच्चय में भी लोकायत-मत है, सर्वदर्शन संग्रह में भी है। अतः लोकायत-दर्शन को दर्शन की श्रेणी के

बाहर नहीं रख सकते। लेकिन प्राचीन काल से ही आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न महर्षियों ने इस मत की उपेक्षा की है। बौद्ध, जैन, वैदिक या आगमिक आर्य-साहित्य से इसका पता लगता है।

भारतीय दर्शन-मुख्यतया दो विभागों में विभक्त किया जाता है—१. आस्तिक दर्शन और २. नास्तिक दर्शन। यहां आस्तिकता की कसौटी क्या है? सामान्यत: ईश्वर को न माननेवाले व्यक्तियों को 'नास्तिक' और ईश्वर के अस्तित्व में श्रद्धा रखनेवाले व्यक्ति को 'आस्तिक' माना जाता है। साधारणतया इन शब्दों के ये ही अर्थ लोक-व्यवहार में प्रचलित हैं। पाणिनि के अनुसार परलोक की सत्ता में विश्वास न रखनेवाला 'नास्तिक' कहलाता है। यहां ये दोनों ही अर्थ अभीष्ट नहीं हैं। 'नास्तिक' की धार्मिक परिभाषा वही है, जो मनु ने अपनी 'स्मृति' में निर्दिष्ट की है—**नास्तिको वेदनिन्दकः**—अर्थात् नास्तिक वही है, जो वेद की निन्दा करता है, वेद के प्रामाण्य में विश्वास नहीं करता और इसलिए वेद द्वारा प्रतिपादित धर्म, आचार तथा विचार में श्रद्धा नहीं रखता। दर्शन के प्रसंग में व्यवहृत इस शब्द का यही अर्थ अभीष्ट है। फलत: आस्तिक दर्शन वेद को प्रमाण माननेवाले तत्त्वज्ञान का सांकेतिक शब्द है, तो नास्तिक दर्शन उस प्रामाण्य को अस्वीकार करनेवाले तत्त्वज्ञान का द्योतक अभिधान है। इस दृष्टि से विचार करने पर नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत तीन दार्शनिक धाराएं स्वीकृत की जाती हैं—१. चार्वाक, २. जैन तथा ३. बौद्ध। ये तीनों ही वेद के अक्षुण्ण प्रामाण्य में विश्वास नहीं रखते और न वेद प्रतिपाद्य यज्ञयाग के अनुष्ठान को मानव-जीवन के लिए श्रेयस्कर साधन मानते हैं। चार्वाक-दर्शन के उद्भावक बृहस्पति नामक कोई आचार्य थे। आज बृहस्पति-प्रणीत कतिपय सूत्र (बार्हस्पत्य सूत्र) ही इस दर्शन की प्राचीनतम मौलिक निधि हैं। जैन-दर्शन का इतिहास बड़ा लम्बा है। इस धर्म के प्रतिष्ठापक आचार्य 'तीर्थंकर' के नाम से प्रख्यात हैं, जो संख्या में चौबीस हैं। इसके मौलिक धर्म ग्रन्थ-'अंग' के नाम से विख्यात हैं तथा इनमें निहित बीजों का विपुल विकास मध्ययुगी जैन दार्शनिकों के तर्क-बहुल ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। जैनधर्म अहिंसा का पक्षपाती है—'**अहिंसा परमो धर्मः**' उसीका मुख्य धार्मिक मन्त्र है। फलतः वह न विश्वास

करता है ईश्वर में, न वेद में और न वेद द्वारा प्रतिपाद्य हिंसा-बहुल यज्ञानुष्ठान में। जैन-दर्शन की नास्तिकता का यही कारण है। बौद्धधर्म के प्रतिष्ठापन का श्रेय सिद्धार्थ गौतमबुद्ध को दिया जाता है, जो इतिहास-प्रसिद्ध पुरुष थे। इस धर्म का मूल ग्रन्थ 'त्रिपिटक' है—सुत्त पिटक, विनय पिटक, अभिधम्म पिटक। इन पिटकों में विशेषतः अन्तिम पिटक में बौद्ध धर्म का दार्शनिक आधार बड़ी प्रौढ़ता के साथ प्रतिपादित किया गया है। इसकी चार दार्शनिक धाराएं कालान्तर में प्रवाहित हुई—१. वैभाषिक, २. सौत्रान्तिक, ३. योगाचार तथा ४. माध्यमिक। इनके सिद्धान्तों में पर्याप्त पार्थक्य है। साथ-ही-साथ इनमें मौलिकता भी कम नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्धधर्म का उदय जैनधर्म के अनन्तर माना जाता है। बौद्ध धर्म भी जैनधर्म के समान ही वेद प्रामाण्य का घोर विरोधी है। फलतः वह भी नास्तिक दर्शन की श्रेणी के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार ये तीनों दर्शन नास्तिक दर्शन के नाम से प्रख्यात हैं।

आस्तिक दर्शन की संख्या में भी पर्याप्त मतभेद है, परन्तु सामान्य रीति से वह छः प्रकार का माना जाता है। १. न्याय, २. वैशेषिक, ३. सांख्य, ४. योग, ५. कर्म-मीमांसा (या केवल 'मीमांसा') तथा ६. वेदान्त। इनकी तीन श्रेणियां बनाई गई हैं। न्याय-वैशेषिक प्रथम श्रेणी का प्रतिपादक है; सांख्य-योग दूसरी का तथा मीमांसा-वेदान्त तीसरी का। इन छहों दर्शनों के विकास का क्रम प्रायः समान रूप रखता है। सबसे प्राचीन वे ग्रन्थ हैं, जो सूत्र रूप में निबद्ध हैं। ये सूत्र-ग्रन्थ तत्तत् दर्शन के आजकल आरम्भिक ग्रन्थ भले ही माने जायं, परन्तु इन ग्रन्थों से इन दर्शनों का आरम्भ नहीं होता। इन दर्शनों का आरम्भ तो इन सूत्र-ग्रन्थों के निर्माण से भी प्राचीनतर है। कालान्तर में इन सूत्रों पर भाष्य लिखे गये तथा इन्हें सुबोध बनाने के लिए इन भाष्यों पर वार्तिक तथा व्याख्याएं निबद्ध की गई। स्वतन्त्र निबन्ध-ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ, परन्तु व्याख्यात्मक पद्धति ही दर्शन के विवरण की अपनी शैली है। न्याय-दर्शन के सूत्रों के रचयिता हैं—अक्षपाद गौतम, भाष्यकार हैं वात्स्यायन तथा वार्तिककार हैं—उद्योतकर। वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार हैं—कणाद; भाष्यकार हैं प्रशस्तपाद तथा व्याख्याकार हैं शंकर मिश्र (उपस्कार के लेखक)। सांख्य-

दर्शन के सूत्रकार हैं कपिल, भाष्यकार हैं विज्ञान भिक्षु ('सांख्य-प्रवचन' के कर्ता) तथा वृत्तिकार हैं अनिरुद्ध। ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' को सांख्य का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मानना चाहिए। योगदर्शन के सूत्रकार हैं पतञ्जलि, भाष्यकार हैं व्यास, वार्तिककार हैं विज्ञान भिक्षु, वृत्तिकार हैं भोजराज। मीमांसा के सूत्रकार हैं जैमिनी, भाष्यकार हैं शबरमुनि, वार्तिककार हैं कुमारिल, वृत्तिकार हैं प्रभाकर, निबन्धकार हैं शालिकनाथ तथा माधवाचार्य। वेदान्त के सूत्रकार हैं बादरायण व्यास, भाष्यकार हैं नाना मतों के व्याख्याता अनेक आचार्य, जिनमें शंकराचार्य (शारीरिक भाष्य--अद्वैत मत), रामानुज (श्रीभाष्य--विशिष्टाद्वैत मत), निम्बार्क (द्वैताद्वैत) मध्व (द्वैतवादी), वल्लभ (अणुभाष्य--शुद्धाद्वैत मत) आदि प्रमुख हैं। वृत्तिकार विभिन्न मतों में अनेक हैं। इस प्रकार षड्दर्शनों का साहित्य इन आचार्यों के विपुल वैदुष्य का निःसन्देह द्योतक है।

इन निगममूलक दर्शनों के अतिरिक्त आगममूलक दर्शनों का भी भारतीय विचारधारा के इतिहास में प्रमुख स्थान है। आगमों की विविधता तथा विपुलता निःसन्देह उनकी एक महनी विशिष्टता है। यहां आगमों के दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए विशेष स्थान नहीं है, तथापि स्वल्प परिचय विषय की पूर्ति के लिए देना नितान्त आवश्यक है। आगमों (या तन्त्रों) के तीन प्रकार हैं—

१. पांचरात्र—अर्थात् वैष्णव आगम।

२. शैव—जिसके भीतर पाशुपत, सिद्धान्ती, त्रिक तथा प्रत्यभिज्ञा मुख्य माने जाते हैं।

३. शाक्त—शक्ति को उपास्य माननेवाले दार्शनिकों के आचार-विचार इन आगमों में प्रदर्शित किये गए हैं। शाक्तों के भीतर अनेक भेद-प्रभेद हैं, परन्तु आचार और सिद्धान्त की दृष्टि से 'समय' तथा 'कौल' ये दो प्रधान भेद स्वीकृत किये जाते हैं।

भारतीय दर्शन के प्रस्थान-भेद का यह एक सामान्य परिचय है।

दर्शन का उपयोग

सांख्य की शिक्षा का उपयोग जीवन में किस प्रकार किया जा सकता

है ? यह विचारणीय विषय है। सांख्य ही क्यों ? समस्त भारतीय दर्शन के उदय का भी यही मूल कारण है। संसार में दुःख की सत्ता का अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। दुःख की सत्ता इतनी प्रबल है कि मनुष्य को पद-पद पर उससे विचलित होना पड़ता है। दुःख दूर करने के लिए मनुष्य कितना भी उद्योग करे, परन्तु वह हटाये नहीं हटता। एक ही प्रकार का दुःख होता, तो उसे हटाने का मार्ग भी सुगमता से मिल जाता, परन्तु यहां तो तीन दुःखों का अखण्ड तथा अच्छेद्य साम्राज्य विराजमान है, जो प्राणियों को अपने चंगुल में फंसाये रहता है। इन दुःखों के क्रमशः नाम तथा इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

१. **आध्यात्मिक**—इसका अर्थ है आत्मा अर्थात् देह से सम्बन्ध रखनेवाला दुःख। शरीर तथा मन से सम्बद्ध होने पर यही दो प्रकार का हो जाता है। शरीर-दुःख है व्याधि तथा मानस-दुःख है आधि (जैसे चिन्ता, उद्वेग, क्रोध आदि)। इन दोनों से सम्बद्ध दुःखों के प्रकार या प्रभेद का अन्त नहीं है। मनुष्य को कभी कोई रोग सताया करता है तो कभी कोई। **'शरीरं व्याधि मन्दिरम्'** की लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है।

२. **आधिभौतिक**—इसका अर्थ भूतों अर्थात् बाहरी पदार्थों से उत्पन्न होनेवाला दुःख। जैसे सांप तथा बिच्छू का काटना; चोरों के द्वारा लाठी से आघात आदि की गणना इस प्रकार में की जायगी।

३. **आधिदैविक**—अधिदेव जैसे भूत-प्रेतादि अमानव जीवों के कारण उत्पन्न दुःख। इन तीनों प्रकार के दुःखों के भी अनन्त विभेद हैं।

इन दुःखों से बचने तथा सुख पाने के लिए प्राणी सर्वदा सचेष्ट रहता है। उसकी समग्र क्रियाओं का, कार्यकलापों का एक ही उद्देश्य रहता है कि वह किसी प्रकार सुख की उपलब्धि करे तथा जीवन को सुखपूर्वक बितावे। परन्तु क्या यह कथमपि सम्भव है ? नहीं। सुख दुःख के साथ हमेशा मिश्रित ही मिलता है। ऐसी दशा में विशुद्ध सुख को जीवन में पाना मृग-मरीचिका ही है। फलतः सुख से ध्यान हटाकर दुःख की निवृत्ति की ओर ही ध्यान देना हमारा आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। परन्तु दुःख की निवृत्ति आत्यन्तिक होनी चाहिए अर्थात् निवृत्त हो जाने पर वह दुःख पुनः उत्पन्न न हो। यदि निवृत्त होने पर भी वह फिर पैदा हो जाता है तो

इस क्षणिक विराम या विश्राम से हमें लाभ क्या ? हमें चाहिए स्थायी उपाय, टिकाऊ औषध, हमेशा के लिए दु:खों से छुटकारा। और याद रखिये जीवन का यही लक्ष्य है और इसी लक्ष्य की प्राप्ति में सांख्य-दर्शन हमारे पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है।

प्रश्न यह है कि इन दुःखों के नाश के निमित्त शास्त्र के पास जाने की जरूरत ही क्या है ? क्या वैद्य और मानस-चिकित्सक की अचूक औषध हमें रोग से मुक्त नहीं कर सकती ? अवश्य कर सकती है। परन्तु इसका लाभ स्थायी नहीं होता और न दवा ही हमेशा अचूक होती है। एक रोगी को रोग में कारगर होने पर भी वही दवा उसी रोग की निवृत्ति में अन्यत्र लाभदायक सिद्ध नहीं होती। वैदिक अनुष्ठान की भी यही दशा है। यही कारण है कि अपने जीवन की लक्ष्य-सिद्धि के निमित्त साधक को शास्त्र की शरण लेनी पड़ती है।

वैदिक उपाय—यज्ञयागादिक क्यों इस कार्य में लाभदायक नहीं होते, इसका कारण, सांख्य की दृष्टि में, यह है कि वैदिक उपचार में अविशुद्धि है—यज्ञ में हिंसा होने से यजमान को अपने हिंसापरक अनुष्ठान के लिए कुछ पाप भी भोगना पड़ता है। वह उपचार क्षय तथा अतिशय से युक्त है। यज्ञ से मिलता है स्वर्ग, परन्तु यह स्वर्ग भी, अनेक कल्पों के बाद ही सही, अपना अन्त अवश्य पा लेता है। फलतः स्वर्ग नाशवान् होता है। उसमें अतिशय भी विद्यमान रहता है। यज्ञीय अनुष्ठानों के फलों में तारतम्य होता है, कोई छोटा होता है और कोई बड़ा। ऐसी दशा में आत्यन्तिक निवृत्ति दुःखों की न तो लौकिक उपायों से सिद्ध है, न वैदिक उपायों से। इसीलिए दर्शन के पास हमें जाना पड़ता है। वह बतलाता है—**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**—अर्थात् बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती। दु:खों का मूल कारण तो अज्ञान है, जिसका नाश ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। अज्ञान है अन्धकार के समान सब तथ्यों का आवरक, ढकनेवाला, और ज्ञान है आलोक के सदृश सब तत्त्वों का प्रकाशक। बिना चन्द्रोदय हुए अन्धकार दूर नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान-चन्द्र की रश्मियां बिखरकर मानस अन्धकार के गाढ़ पटल को दूर करने में समर्थ होती हैं। इसीलिए शास्त्रों, वेदों, पुराणों में ज्ञान की इतनी महिमा गाई गई है। तत्त्वों के विश्लेपण के विषय में दर्शन की भिन्न-

भिन्न धाराओं में वैषम्य भले ही दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ज्ञान की गरिमा के विषय में समस्त तत्त्वज्ञानियों में दो मत हैं ही नहीं। यही भारत में दर्शन का महत्त्व है, तत्त्वज्ञान का उपयोग है; जीवन को लक्ष्य तक पहुंचाने में ज्ञान की भूयसी विशिष्टता है; साधक को अपना मार्ग समुन्नत और प्रशस्त बनाने में दर्शन लाभ पहुंचाता है। परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि यह ज्ञान कोरा ज्ञान नहीं होना चाहिए, प्रत्युत उसे अपने जीवन में उतारना भी बहुत जरूरी है। जीवन अनुभूति के सहारे आगे बढ़कर लक्ष्य तक पहुंचता है। यदि ज्ञान-अनुभूति का रूप धारण कर जीवन के विषम मार्ग को सरल-शोभन, रुचिर-सुन्दर नहीं बनाता, तो वह वास्तविक लाभ हमें नहीं दे सकता। मुक्ति का साधक ज्ञान, वृत्तिज्ञान, कोरा ज्ञान, शाब्दिक ज्ञान न होकर अनुभूतिप्रधान होना चाहिए। इस विषय में शास्त्रकारों में मतैक्य है। सांख्य-दर्शन ने संक्षेप में दर्शन की उपयोगिता पर बहुत ही सुन्दर कहा है——

दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ
दृष्टे साऽपार्था चेत् नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्।

इस महत्त्वपूर्ण कारिका का आशय है कि तीनों (आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक) दुःखों के अभिघात से मनुष्य को उन दुःखों के दूर करनेवाले कारणों के जानने की इच्छा होती है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि दृष्ट उपायों की सत्ता विद्यमान है, तब शास्त्र के चिन्तन की क्या आवश्यकता? उत्तर है——बात ऐसी नहीं, दृष्ट उपाय ऐसे नहीं हैं, जो दुःखों को एकान्त रूप से (निश्चित रूप से) तथा अत्यन्त रूप से (अर्थात् सदा के लिए) नष्ट कर दें। इसीलिए इन दुःखों को सर्वदा के लिए तथा निश्चित रूप से नष्ट करने के लिए दर्शन-शास्त्र की आवश्यकता पड़ती है।

हमारे अपूर्ण जीवन को पूर्णत्व की कोटि में पहुंचा देना दर्शन का वास्तविक उद्देश्य है। भारतीय दर्शन जीवन की समस्याओं को अध्यात्म से सम्बद्ध समस्याओं को— भली-भांति सुलझाता है। प्रत्येक साधक अपने जीवन को पूर्ण बनाने का इच्छुक होता है और भारतीय दर्शन इसमें किस प्रकार सहायक होता है, यह विस्तार से समझने की आवश्यकता है।

हृदय में पूर्णत्व की आकांक्षा का उदय तभी होता है जब मनुष्य को अपनी अपूर्णता का ज्ञान हो जाता है और उसमें ज्ञानोद्दीपन की इच्छा

प्रकट होती है जबतक वह अपनेको अपूर्ण नहीं जानता, तबतक पूर्ण होने की इच्छा का उदय ही क्यों कर हो सकता है। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता (१३।११) में ज्ञान के साधनों के बीच **'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्'** को ज्ञान ही माना है-अर्थात् जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग दुःखदायी होते हैं और उनमें दोष भरा हुआ है; इस बात का बारम्बार विचार करना भी ज्ञानरूप ही है। जबतक इनमें दुःख का ज्ञान नहीं होता, तबतक यथार्थ सुख पाने की इच्छा का उदय नहीं हो सकता।

भोगों की इच्छा तथा पूर्णत्व की आकांक्षा में महान् अन्तर है। इच्छा सांसारिक वस्तुओं, स्वार्थनिष्ठ अधिकार, अपना प्रभुत्व, तुच्छ सुख तथा इन्द्रियजन्य भोग-विलास की चाह है, परन्तु पूर्णत्व की आकांक्षा इससे नितान्त भिन्न वस्तु है। दैवी वस्तुओं---जैसे सदाचार, दया, शुद्ध तथा प्रेम की चाह है। आकांक्षा मनुष्य के लिए अपनी त्रुटियों को दूर कर पवित्र जीवन बिताने के लिए एक बहुत ही आवश्यक साधन है। बहुतों की तो यह अनुभूति है कि मनुष्य पूर्णत्व की आकांक्षा के पंखों के द्वारा पृथ्वी से देवलोक को, अज्ञानता से ज्ञान को और अन्त में अन्धकार से उच्च ज्ञानलोक को प्राप्त कर लेता है। पूर्णत्व की आकांक्षा से हीन प्राणी तुच्छ, सांसारिक, विषयी तथा अनुत्साही बना रहता है। यदि मनुष्य अपनी वास्तविक उन्नति चाहता है, तो उसके हृदय में पूर्णत्व की आकांक्षा की दीपशिखा जलनी ही चाहिए। पंखों से रहित पक्षी उड़ नहीं सकता; उसी भांति पूर्णत्व की आकांक्षा के बिना मनुष्य न तो अपनेको उच्च बना सकता है, न विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त कर सकता है। वह सामान्य प्राणी के समान अपनी इन्द्रियों का दास तथा विषयों के अधीन बना रहता है और निर्बल होने के कारण वह घटनाओं की परवर्तन-धारा में इधर-उधर लुढ़कता रहता है।

पूर्णत्व की आकांक्षा से सम्पन्न मानव की स्पष्ट पहिचान है—अपनी तुच्छ दशा से असन्तोष तथा उच्च बनने की चाह। जिस प्रकार प्रबुद्ध मानव आगे बढ़ना चाहता है; निद्रा से जागकर अपनेको ज्ञान के मार्ग पर बढ़ते हुए पाता है, उसी प्रकार इस आकांक्षावाला मनुष्य भी अपनी वर्तमान हीन-दीन दशा की बुराई से परिचित हो जाता है और चाहता है कि

वह श्रेष्ठतम स्थिति को प्राप्त करे। इस प्रकार की आकांक्षा करने से मनुष्य को कल्पनातीत विलक्षण फल प्राप्त होते हैं। कठिन-से-कठिन वस्तु उसके लिए सुलभ बन जाती है; वास्तविक उन्नति का मार्ग खुल जाता है; उसके हृदय में दिव्य ज्ञान तथा प्रसाद के सब द्वार खुल जाते हैं। कविता, संगीत, गीति आदि पवित्र तथा सुन्दर वस्तुओं के पाने का मार्ग भी तभी खुल जाता है, जब वह अपने हृदय को आकांक्षा की उदयभूमि बनाने के लिए तैयार हो जाता है। पर यह आकांक्षा स्थिर भाव से होनी चाहिए। आज दिव्य वस्तु के लिए इच्छा तो हुई किसी उपदेशक की शिक्षा से, परन्तु कल ही वह लुप्त हो जाती है, क्योंकि हमारा हृदय दुर्बल होता है, हमारी भावना कमजोर होती है; हममें अन्तःसत्त्व, भीतरी बल का अभाव होता है।

ऊपर कहा गया है कि सांसारिक विषयों में दोष का दर्शन, ज्ञान का अन्यतम साधन है। इसका अर्थ यह है कि जबतक संसार के विषयों का स्वाद मनुष्य को मीठा लगता है तबतक वह उनसे ही सन्तुष्ट रहता है—आगे बढ़ना ही नहीं चाहता। परन्तु जब वह उस मीठी वस्तु को तीता मानने लगता है, तब उसके हृदय में ऊंचे-ऊंचे विचार उत्पन्न होते हैं। मानव की वर्तमान दशा का वर्णन भागवत के इस श्लोक में बड़ी सुन्दरता से किया गया है—

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
कामानलं मधुलवैः शमयन् दुरापैः॥

(७।९।२५)

कानों को सुख देनेवाले सांसारिक विषय मृगतृष्णा के समान हैं। कहां वे और कहां यह शरीर जो, सम्पूर्ण रोगों के उद्‌गम का स्थान है। परन्तु तिसपर भी इन बातों को भली-भांति जानने पर भी, प्राणी को संसार से वैराग्य नहीं होता। वह छोटे-छोटे मीठे मधु के टुकड़ों से अपने काम की आग को शान्त करता रहता है और समझता है कि इसी प्रकार सब कामनाएं स्वतः शान्त हो जायंगी। ऐसी दयनीय स्थिति है इस मानव की। ऐसी दशा में

दिव्य ज्ञान की आकांक्षा का जन्म कहां हो ? उसका जन्म तो तब होता है जब वह सांसारिक सुखों से वंचित हो, अपवित्रता के कारण दुःख पाने लगे अथवा शोक से नितान्त विह्वल-चित्त हो। मतलब यह है कि जिसे वह अब-तक अपनी प्रिय वस्तु समझता आया है, उससे उसे धक्का लगना चाहिए। प्रेम का प्रवाह नीचे की ओर न जाकर ऊपर की ओर होना चाहिए। तभी ऐसी उच्च आकांक्षा का उदय होता है।

ऐसी दशा में मनुष्य में उन्नत होने की इच्छा प्रथम आवश्यक साधन है। मनोविज्ञान का यह पक्का नियम है कि जिस वस्तु की जितनी स्पृहा होती है, वह वस्तु उतनी जल्दी ही मिलती है। मनुष्य यदि तुच्छ विषयों की इच्छा तीव्र रूप से करता है तो उसे वे मिल जाते हैं। अतः उच्च तथा श्रेष्ठतम भावों की ओर हमें अपने मन को पहले झुकाना चाहिए। सदा पवित्र विचारों को मन में स्थान दो। गंदे विचारों से बढ़कर अपवित्रता क्या हो सकती है ? विचार ही मनुष्य को पवित्र तथा अपवित्र बनाता है। यदि विचार पवित्र है तो मनुष्य पवित्र है। यदि विचार ही अपवित्र हैं तो मनुष्य भी अपवित्र है। इससे आगे बढ़ने की पहली सीढ़ी है—पवित्र विचारों को जगाना। इस मार्ग का पथिक जीवन में कभी असफल नहीं होता।

मनुष्य ही अपनी त्रुटियों, अभावों तथा अपवित्रताओं के लिए उत्तर-दायी है। यदि वह समझता है कि ये वस्तुएं कहीं बाहर से उसमें आ गई हैं, तब तो वह उन्हें भगाने की, हटाने की कभी कोशिश ही नहीं करता। इसलिए अपनी जिम्मेदारी पहले समझनी चाहिए। अपना अपराध ही नहीं सम-झेगा तो उन्हें दूर कैसे और क्यों करेगा ? मनुष्य को चाहिए कि वह पहले अपने अपराधों को समझे और अपनी बुराई को देखे। कबीर ने ऐसे जीव की भावनाओं को इस दोहे में पूर्णतया प्रकट किया है—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो तन देखा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

परन्तु एक बात ध्यान देने की यह है कि बिना परिश्रम तथा प्रयत्न किये अध्यात्म की सिद्धि नहीं होती।

'या लोकद्वयसाधनी चतुरता सा चातुरी चातुरी।'

वही चतुरता वास्तव में चतुरता है, जो दोनों लोकों को सिद्ध करनेवाली होती है।

जिससे लोक भी सुधरे और परलोक भी सुधरे, वही तो चतुरता है। परिश्रम दोनों के लिए जरूरी होता है। जिस प्रकार व्यापारी लगातार परिश्रम करने से सांसारिक सफलता को पाता है, साधक की भी वही दशा होती है। परमार्थ का मार्ग गुलाब का फूल नहीं है। वह बड़ा ही कंटकाकीर्ण है। उसपर संभल-संभलकर कदम रखना पड़ता है। प्रयत्न पग-पग पर करना पड़ता है।

जब पूर्णत्व की आकांक्षा का हर्षावेग मन को स्पर्श करता है, तब उसे तुरन्त ही सुधार डालता है और अपवित्रता को दूर हटाने लगता है; परन्तु इस स्थिति को बनाये रखने के लिए सतत तथा सुदृढ़ प्रयत्न चाहिए। मन में एक अच्छी भावना का जन्म हुआ, परन्तु वह देर तक नहीं टिकती। वह संकुचित और क्षणिक होती है। भावना के हटते ही चित्त फिर उसी खंदक में जा गिरता है। अपवित्रताएं पुराने अभ्यास से उसे चारों ओर से घेर लेती हैं। इसीलिए अध्यात्मपथ के पथिक को अपने प्रयत्न को निरन्तर नूतन बनाये रखने की आवश्यकता होती है।

शुद्ध जीवन का प्रेमी सदा अपने मन को पूर्णत्व की आकांक्षा के उत्साह-दायी प्रकाश से नया बनाता रहता है। वह प्रातःकाल उठता है और प्रबल विचारों तथा सतत प्रयत्न से अपने मन को दृढ़ करता है। वह जानता है कि मन का स्वभाव ऐसा है कि वह एक क्षण भी विचार में लगा हुआ नहीं रह सकता और यदि वह उच्च विचार तथा शुद्ध आकांक्षाओं से वश में रखे जाते हुए सत्य-मार्ग में नहीं चलाया जायगा तो अवश्यमेव तुच्छ विचार तथा भोग इच्छाओं का दास बनकर बुरी राह में फंस जायगा।

भोगेच्छा के समान उच्च आकांक्षा भी दैनिक अभ्यास से पाली जाती है और पुष्ट की जाती है। दैविक पथप्रदर्शक के समान इसे खोजकर मन में प्रवेश कराया जा सकता है या उपेक्षा करके मन में घुसने नहीं दिया जा सकता। प्रतिदिन शांत स्थानों में (मुख्य या खुले मैदान में) कुछ समय के लिए जाकर पवित्र हर्षावेग की लहरों को उठाने के लिए मानसिक शक्तियों का आह्वान करने से हम लोग अपने मन को महान् आत्मिक विजय तथा

दैविक महिमा के लिए प्रस्तुत करते हैं, कारण कि ऐसे ही हर्षावेग से ज्ञान उत्पन्न होता है। शान्ति का प्रारम्भ इसीसे होता है। मन शुद्ध वस्तुओं का ध्यान कर सके, इसके पहले इसे उनकी श्रेणी में पहुंचाना चाहिए। उच्च आकांक्षा वह साधन है, जिसके द्वारा इसकी शुद्धि हो सकती है। इसकी सहायता से मन बहुत ही ऊंचा उठता है और दिव्य लोक तक पहुंच-कर ईश्वरीय वस्तुओं का अनुभव करने लगता है। मन इसीके द्वारा विवेक पाता है और सच्चे ज्ञान के दैविक प्रकाश से सत्य-पथ पर चलना सीख लेता है। आशय यह है कि सदाचार के लिए पिपासित रहना, शुद्ध जीवन के लिए बुभुक्षित रहना, पूर्णत्व की आकांक्षा के द्वारा हर्ष तथा उत्साह पाना, यही ज्ञान की प्राप्ति के लिए सच्चा मार्ग है। दिव्य मार्ग का यही आरम्भ है।

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को सदा सोचते रहना चाहिए कि 'कोऽहं का च मे शक्तिः' अर्थात् मैं कौन हूं ? मेरा स्वरूप क्या है तथा मेरी शक्ति कितनी है ? ऐसा जागरूक व्यक्ति ही आगे बढ़ने का अधिकारी होता है और आगे बढ़कर वह अपने लक्ष्य को पा लेता है। जो विषकृमि के समान विषयों में ही आनन्द मनाया करता है, वह कभी आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिए मनुष्य को अपनी वर्तमान दशा में दोषों को देखकर दिव्य जीवन, दिव्य आनन्द,शाश्वत सुख के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। पूर्णत्व की आकांक्षा इसी उत्कर्ष की सूचक एक महनीय भावना है। याद रखो— '**महान् भावयन् महान् भवति**' बड़े की भावना करने से मनुष्य महान् बनता है। फलतः यह भावना लक्ष्य पर पहुंचानेवाली आरम्भ की सीढ़ी है।

भारतीय दर्शन और मनोविज्ञान

भगवान् ने मन के रूप में हमारे भीतर एक दैवीशक्ति से सम्पन्न वस्तु को निहित कर रखा है। हम नित्य-प्रति मन की शक्तियों को देखते हैं, परन्तु उसकी गहराई के भीतर कभी नहीं उतरते। यदि हम सावधानी से उसमें उतरें तो हमें पता चलेगा कि उसके भीतर कितनी शक्तियां अन्तर्निहित हैं। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने मन को 'शिवसंकल्प' होने की अनवरत प्रार्थना की है। मन जो भी संकल्प करता है, उसे कार्यरूप में परिणत कर देता है।

अतएव आवश्यक है कि मन का संकल्प 'शिव' हो, 'रौद्र' न हो; विधायक हो, विनाशक न हो; कल्याण का स्रष्टा हो, विनाश का रचयिता न हो। जितने बड़े-बड़े मंगल कार्यों की संघटना हम देखते हैं, उनके भीतर यह मन का 'शिवसंकल्प' सदा जागरूक रहता है। किसी भी कार्य को व्यवहार के स्तर पर आने से पहले मानसिक तथा वाचनिक स्थिति से होकर जाना ही पड़ता है। इसलिए अपने यहां एकाकारता का प्रतीक है—मनसा-वाचा-कर्मणा का सिद्धान्त। उपनिषदों का यही कथन है कि व्यक्ति मन के द्वारा जो चिन्तन करता है, उसीको वचनों के द्वारा प्रकट करता है तथा आगे चलकर उसे ही वह कार्य के रूप में निष्पन्न करता है। अतएव यदि आप किसी शुभ कार्य को करने के लिए उद्यत हैं तो सर्वप्रथम अपने मन के संकल्प को कल्याणकारी बनाइये। वही मूल स्रोत है। कार्य-मन्दाकिना का मन ही स्रोतभूत हिमाचल है। कार्य-सरिता अपनी पुष्टि तथा समृद्धि के लिए वहां से पवित्र संकल्प-सलिल को एकत्र करती रहती है। यह माना हुआ सिद्धान्त है कि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की शक्ति विलक्षण तथा व्यापक है। जो वस्तु जितनी ही सूक्ष्म होती है, उसकी शक्ति उतनी ही अधिक तथा गहराई तक पहुंचानेवाली होती है। होमियोपैथिक औषधों के चुनाव में यही तो सिद्धान्त काम करता है। जो दवा जितनी सूक्ष्म होगी, उसका प्रभाव उतना ही अधिक, चिरस्थायी तथा दीर्घकालीन होगा। **'बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः'** भारवि के इस कथन का संकेत ऐसी ही सूक्ष्म औषध की ओर है।

मन अणु माना गया है। उसकी शक्ति आणविक शक्ति है। आजकल की भाषा में वह 'ऐटमबम' की तरह कार्यशाली है। बम का प्रयोग हानि के लिए ही हो रहा है, परन्तु वह विधायिनी शक्ति के उत्पादन के लिए भी लगाया जा सकता है और आज का वैज्ञानिक उसी उपाय के खोजने में लगा है, जिससे वह संचालित शक्ति हानि न उत्पन्न करके लाभ ही पैदा करे। मन की भी ठीक यही दशा है। वह हमारे शरीर के भीतर रहनेवाला 'ऐटम बम' ही है। वैदिक ऋषियों ने मन की दो शक्तियों पर विशेष रूप से जोर दिया है। एक शक्ति है—नयन-शक्ति और दूसरी है नियमन-शक्ति। इस सुप्रसिद्ध मन्त्र में इन्हीं दोनों शक्तियों की ओर लक्ष्य किया गया है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

इस मन्त्र में सुन्दर सारथि की उपमा मन से तथा इन्द्रियों की उपमा घोड़ों से बड़े सुन्दर ढंग से दी गई है। 'अश्व' तथा 'वाजी' शब्द सामान्यतः घोड़े के लिए प्रयुक्त होते हैं। परन्तु दोनों में अन्तर है। अश्व है साधारण घोड़ा, जो टिक-टिक करता हुआ अपना रास्ता तै किया करता है; परन्तु 'वाजी' है वह तीव्र गतिवाला, जोरों से दौड़नेवाला घोड़ा है, जिसे यदि न रोका जाय तो वह किसी भयानक दुर्घटना में अपने सवार को डाल देगा। सुयोग्य सारथि प्रथम प्रकार के घोड़ों को मार्ग में ले जाता है--उन्हें चाबुक मारकर आगे बढ़ने को बाध्य करता है, परन्तु वह वाजी को उन्मार्ग में जाने से रोकता है, लगाम को जोरों से खींचकर। एक का वह नयन करता है, तो दूसरे का नियमन (नियन्त्रण)। मन का ठीक यही कार्य है। कुछ आदमी स्वभाव से इतने शिथिल होते हैं कि मन को उन्हें प्रेरित करने की आवश्यकता होती है और कुछ ऐसे उद्धत होते हैं कि उन्हें विवेक-मार्ग पर रोककर रखने की आवश्यकता होती है। मन दोनों ही कार्य करता है। वह हृदय में प्रतिष्ठित होता है (हृत्प्रतिष्ठम्) तथा कभी वृद्ध नहीं होता (अजिरम्)। शरीर जीर्ण-शीर्ण भले हो जाय, झुरियां भले लटकने लगें, भले ही वह अपने पैरों पर सीधे न खड़ा हो सके और लकुटिया टेककर ही वह चल-फिर सके; परन्तु क्या मन की दशा वैसी होती है? वह एकदम युवा बना रहता है, शक्तियों का पुंज बना रहता है। जिस प्रकार पृथ्वी के नीचे से झरना स्वयं फूट निकलता है, उसी प्रकार मन की शक्तियां भी वृद्धावस्था में भी उससे फूटकर निकला करती हैं। यह निश्चित है कि मन कभी बूढ़ा नहीं होता। वह नितान्त वेगशाली है। उससे शीघ्रगामी वस्तु का पता अभी तक नहीं है। शीघ्रगमन में मन ही उपमानभूत है। इस विषय में वह कभी उपमेय नहीं होता। लंका को पार करनेवाले मारुत-नन्दन हनुमान्‌जी 'मनोजव' बतलाये गए हैं। ऐसे प्रभावशाली मन के संकल्प--इच्छाएं--शिव हों, कल्याणकारी हों--वैदिक ऋषि की यही प्रार्थना है

श्रौर इससे सुन्दर प्रार्थना श्रौर हो ही क्या सकती है। गीता कहती है-- '**योयच्छ्रद्ध: स एव स:**।'मनुष्य श्रद्धा का पुंज है। वह संकल्प का खजाना है। इसीलिए संकल्प के शिवत्व की प्रार्थना की गई है।

मन में बड़ी भारी शक्ति भरी हुई है। मन तो जीता-जागता डायनमो है, जिससे अपनी इच्छा के अनुसार बिजली पैदा की जा सकती है। मन जो इच्छा करता है, वह एक दिन पूरा हुए बिना न रहेगी। जितना मन शुद्ध होगा, उतना ही जोर उसकी इच्छा में बना रहेगा। प्राचीन ऋषि-मुनियों की बातें हमने पुराणों में सुनी हैं। मन उनका इतना सात्विक था कि जिस वस्तु की उन्होंने इच्छा की, वह तुरन्त पैदा हो जाती थी। आजकल अशुद्ध मन यह काम नहीं कर सकता; पर इसे तो कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि उसमें असीम शक्ति भरी हुई है।

तब हमें अपने मन से कैसे काम लेना चाहिए? मन जिधर जायगा, उधर ही उसकी शक्ति खर्च होगी। मान लीजिये कि मेरा मन किसी लोभ्य वस्तु पर लगा हुआ है, तब तो उतनी उसकी शक्ति घट जायगी। यदि दूसरी ओर से भी उसी जोर की अभिलाषा हो तो दोनों मिलकर अनुकूल भाव का अनुभव करेंगे। पर यदि उधर से अनुकूल भाव की प्रेरणा नहीं हुई तो हमारा मन बेहाथ हो जायगा, उसकी सारी शक्ति मारी जायगी। इस कारण वह अपनेको हीन और क्षीण पायगा। इस संसार के पदार्थ नश्वर ही तो हैं। अतः उनमे यदि मन लगा तो कभी-न-कभी सम्बल के नाश हो जाने पर मन की क्या बुरी दशा होगी, इसका भी तो विचार करना चाहिए। स्त्री में मन लगा है। कभी वह संसार से चल बसती है। जिस प्रकार बिना जंजीर की नाव आंधी के समय नदी की उत्ताल तरंगों के ऊपर थपेड़े खाती हुई सीधी नहीं रह सकती, उलटकर सरिता के नीचे जाने लगती है, ठीक वही दशा इस आश्रयहीन मन की हो जाती है। शोक चारों ओर से इसे थपेड़े मारने लगता है। विकलता की आंधी चारों ओर से बहने लगती है। फल यही होता है कि चित्त काबू में नहीं रहता, पागल हो जाता है। किसीका थोड़े समय के लिए और किसीका तो सदा के लिए। मन की प्रवृत्ति के वेगावेग के ऊपर यह परिणाम अवलम्बित रहता है। यह तो हुई नश्वर आश्रय पर अवलम्बित रहनेवाले मन की दुर्दशा की करुण-कहानी।

ऐसे मन को ठहराने के लिए हमें दृढ़ आश्रय की आवश्यकता होती है। एक तो वह स्वयं चंचल ठहरा, जविष्ठ ठहरा, फिर यदि वह चंचल विषय की ओर लगाया जायगा, तब वह और भी चंचल हो उठेगा। तूफान के समय मल्लाह अपनी नाव को ठोस जमीन में खूंटों को गाड़कर टिकाता है। यदि जमीन दलदली हो तो न तो नाव का पता चलेगा और न मल्लाह का। दोनों बेकिनार हो रहेंगे। ठीक यही दशा मन की है। यदि दृढ़ आश्रय पर उसे हम नहीं टिकायेंगे तो वह हमें कहीं का न रखेगा। न इस घाट लगेगा और न उस घाट। वह हमें अथाह सागर में ले जाकर झोंक देगा। इसीलिए संतों का कहना है कि मन को बांधने के लिए दृढ़ रस्सी चाहिए, उसे टिकाने के लिए दृढ़ आधार चाहिए, उसे पकड़ रखने के लिए दृढ़ प्रलो-भन चाहिए। तभी वह काबू में आ सकता है। हम नहीं कहते कि उसे मार डालो। उसे जीवित रहने दो। वह मारे मरेगा नहीं। परन्तु उसका उपद्रव करने का जो स्वभाव है, उसे तो दूर भगा दो। उसे शुभ कर्मों में लगाओ, यही ऋषियों का साग्रह कथन है।

इसके लिए हम क्या करें? मन का उपयोग अपने हित में कैसे करें? उपाय तो आपातत: कठिन है। पर अभ्यास से कौन वस्तु साध्य नहीं होती। पहले तो इसे बाहर जाने ही न दीजिये। जितना बाहर जायगा, उतना ही यह क्षीणशक्ति——हीनवीर्य——होता जायगा। इसकी शक्ति को भीतर-ही-भीतर संचित कीजिये। किसी भी इष्टदेव में इसे लगा दीजिये। बस, अन-श्वर देवता के साथ यह सदा खेला करे। यदि यह रूप का लालची है तो घनश्याम की पीताम्बर-कलित मयूर-पुच्छधारी वनविहारी छवि को सदा निरखा करे। यदि मधुर शब्दों के सुनने की अभिलाषा उठती है तो तीनों लोकों को भुला देनेवाली काम-मन्त्र से अनुप्राणित मुरली की आवाज को सुना करे। यदि हाथ-पांव अपने-अपने काम करने के लिए उतावले हो रहे हैं तो इन्हें भगवान् के ही काम में लगा दो। हाथ भगवान् के विग्रह की पूजा करें तथा पांव मन्दिर में जा-जाकर अपनी चरितार्थता अनुभव किया करें। यदि नाक से सुगन्धित वस्तु के सूंघने की इच्छा है तो वनमाली के शरीर-स्पर्श से परिचित होनेवाली पुष्पमाला तथा तुलसी की गन्ध का आनन्द लिया करो। ये वस्तुएं हैं किनकी? उनकी, जो इस जगत् के

नियन्ता हैं, सबके आधार हैं, सदा और सर्वत्र रहनेवाले हैं। यदि ऐसे व्यक्ति में हमारा मन लगा रहेगा तो क्या उसकी शक्ति कभी क्षीण होगी। क्या उसे कभी विचलित होने का अवसर आयेगा ? नहीं, कभी नहीं। आनन्दमयी मां के साथ जो मन क्रीड़ा करता है, उसे असुख कहां ? सच्चिदानन्द के साथ जो रहता है, उसे बेचैनी कहां ? गोपी-सखा के साथ जो वृन्दावन की हरियाली का मजा लेता है, उसे उदास या सूखा रहने का अवसर कहां ?

अतः भारतीय दर्शन कहता है——छोड़ो पुत्र-कलत्र की ममता। छोड़ो उनमें चित्त लगाना, जोड़ो इसे भगवान् के अरविन्द-सुन्दर चरण-द्वन्द्व में। तभी कल्याण होगा। तभी एकान्त मंगल होगा। तभी विषय वा गुणों से मुक्ति-लाभ करोगे, अन्यथा नहीं।

भारत में दर्शन का महत्त्व

किसी भी जाति तथा राष्ट्र की सभ्यता के मापक साधनों में सबसे अधिक महत्वशाली मैं दर्शन या तत्त्वज्ञान को मानता हूं। जो जाति अध्यात्म के चिन्तन में प्रवीण होती है, जिसका तत्त्वसमीक्षण अधिक तथा गंभीर होता है, जो अपने आचार और व्यवहार का निर्णय विचार की कसौटी पर कसकर करती है, जो जाति अपने व्यवहार के साथ-ही-साथ अपने अध्यात्म के विचार में भी समर्थ होती है, वही जाति संस्कृति तथा सभ्यता के इतिहास में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। सभ्यता का प्रथम प्रभात किस देश के गगन में सबसे पहले उदित हुआ ? इस प्रश्न की मीमांसा करते समय पश्चिमी विद्वान् मिस्र देश का नाम बड़े आदर तथा गौरव के साथ लेते हैं, परन्तु मिस्र के दार्शनिक तथा साहित्यिक चिन्तनों पर विचार करने से हमें मौनावलम्बन ही करना पड़ता है। भौतिकवाद का अनुरागी राष्ट्र अध्यात्म-चिन्तन का प्रेमी कभी नहीं हो सकता। मिस्र की सभ्यता भौतिकता में सनी थी, भौतिक सुख की प्राप्ति ही उस देश के राजाओं का परम लक्ष्य थी। फलतः रम्य तथा सुन्दर प्रासादों का रचयिता शिल्पी ही मिस्री सभ्यता में परम सम्मान का भाजन था; हृदय की कली को मनोरम कविता लिखकर खिलाने वाले कवि की न वहां पूछ थी और न उन्नत तत्त्वज्ञान के अभ्यासी

दार्शनिक की वहां प्रतिष्ठा थी। फलतः अध्यात्म-चिन्तन के अभाव में मिस्र देश की सभ्यता को हम सम्मान की दृष्टि से नहीं देख सकते। 'कवि' को आदर देनेवाली जाति ही सभ्यता की कसौटी पर खरी उतरती है। पश्चिमी जगत् में प्राचीन यूनानी तथा पूर्वी संसार में चीनी तथा भारतीय जाति ही 'कवि' के गौरव को समझती है और उसे सम्मान प्रदान करने में सदा अग्रसर रही है। इसीलिए इन जातियों का प्रभाव सभ्यता के प्रसार में बहुत ही अधिक रहा है। हमारी दृढ़ धारणा है (और इसके लिए हमारे पास प्रचुर प्रमाण भी है) कि सभ्यता का उदय सप्तसिंधु-प्रदेश में सबसे पहले हुआ। हमारा पूरा विश्वास है कि भारतीय कवि की यह सूक्ति—

प्रथम प्रभात उदय तव गगने।
प्रथम सामरव तव तपोवने॥

केवल प्रतिभा का विलास नहीं है, अपितु इतिहास की कसौटी पर भी खरी उतरती है। 'कवि' का जितना सम्मान हमारी पुण्यमयी भारत-भूमि में होता रहा है, उतना अन्यत्र नहीं।

'कवि' का मूल व्यापक अर्थ है इन्द्रियों से अगोचर तत्त्वों का साक्षात्-कार करनेवाला व्यक्ति। **कवयः क्रान्तदर्शिनः**। और 'ऋषि' शब्द का भी यही महत्त्वपूर्ण अर्थ है। आध्यात्मशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् का प्राचीन अभि-धान 'कवि' ही है और इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हम गीता तथा उपनिषदों में ही नहीं पाते, प्रत्युत संहिताओं में भी यह महनीय शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त उपलब्ध होता है। कठोपनिषद् के अनुसार कवि लोग सूक्ष्म बुद्धि से ग्राह्य ब्रह्म की ओर जानेवाले मार्ग को छुरे की धार के समान तेज़ तथा दुर्गम बतलाते हैं—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥ (३।१४)

प्रश्न (५।७), मुण्डक (१।२।१), महानारायण (१।३), मैत्री (२।७)—में सर्वत्र कवि का प्रयोग मूल अर्थ में मिलता है। श्वेताश्वतर ने जगत् के मूल कारण के विषय में कवियों के विभिन्न मतों का निर्देश किया है (**स्वभावमेके कवयो वदन्ति**—६।१)। गीता '**कवयोऽप्यत्र मोहिताः**' (४।१६) तथा '**संन्यासं कवयो विदुः**' (१८।२)—आदि स्थलों में इसी

औपनिषदिक अर्थ का अनुसरण करती है। ऋक्-संहिता में इस शब्द का प्रयोग बहुलता से मिलता है—**समानमेकं कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते** (७।८६।३)। ध्यान देने की बात है कि 'कवि' शब्द का प्रयोग स्वयं उस साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म के लिए भी अनेक स्थलों पर किया गया है। ईशावास्य की वाजसनेयी श्रुति उस पुरुष को 'कवि' कहकर पुकारती है—**कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधन् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः** (मन्त्र ८)। महानारायण उपनिषद् के अनुसार परमेश्वर अनन्त और अव्यय होने के अतिरिक्त कवि भी है—**अनन्तमव्ययं कविम्** (महानारायण ११।७) उपनिषदों के स्वर में अपना स्वर मिलाकर श्रीभगवद्गीता भी यही कहती है—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः। (गीता ८।६)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि अध्यात्म-विद्या का वेत्ता पुरुष 'कवि' के नाम से अभिहित होता है। स्वयं परमेश्वर भी इसी 'कवि' की पवित्र पदवी से मण्डित है। इससे बढ़कर दर्शन-शास्त्र की प्रतिष्ठा की सूचना क्या हो सकती है?

भारतवर्ष में 'कवि' का आदर सदा से होता रहा और आज भी यह समादर का भाव लेशमात्र भी क्षुण्ण नहीं हुआ है। प्राचीन यूनान में भी अध्यात्म विद्या के अनुरागी व्यक्तियों की कमी न थी, दार्शनिक भी कम नहीं थे, परन्तु समग्र यूरोप के अध्यात्म-शिक्षण के विषय में गुरुस्थानीय यूनान की काली करतूतों को देखकर हम भारतीयों के हृदय में विस्मय तथा विषाद की भावना उठ खड़ी होती है। यूनानी लोगों ने ही मिलकर अपने देश के सबसे बड़े दार्शनिक सुकरात को विष देकर मार डाला था और दूसरे बड़े दार्शनिक अफलातूं (प्लेटो) को उनके ही एक भक्त शिष्य ने सरे बाजार में गुलाम बनाकर बेच डाला था। पश्चिमी जगत् की मूर्धन्य जाति का यह दुराचरण, दार्शनिकों की इतनी अवहेलना, किसे अचम्भे में नहीं डालती? परन्तु भारत तथा भारतीय सभ्यता से अनुप्राणित समग्र पूर्वी देशों में दार्शनिकों का बोलबाला था, समाज के वे अग्रणी थे, राष्ट्र के वे निर्माता थे, समाज को परमकल्याण की ओर ले जानेवाले वे महनीय नेता थे। चीन की यही दशा है। भारत की तो बात ही निराली है। भगवान् मनु का

निःसन्दिग्ध प्रमाण है—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

(१२।१००)

वेदशास्त्र का ज्ञाता सेना के संचालन तथा राज्य पर शासन करने के योग्य है। दण्डविधान तथा सब लोकों का आधिपत्य करने का अधिकारी वही है।

प्लेटो भी मनु के इस कथन से प्रभावित हुए थे। उन्होंने आदर्श राष्ट्र के संचालन का भार दार्शनिक के ऊपर ही रखा था। यद्यपि 'रिपब्लिक' में इन्होंने बड़ी युक्तियों से इस मत का समर्थन किया, पर वह हवाई महल ही बनाते रहे, उनका स्वप्न कभी कार्यरूप में परिणत न हो सका, वह मृगमरीचिका से बढ़कर सिद्ध न हो सका। परन्तु भारत में राज्य का सूत्र अध्यात्मवेत्ता व्यक्तियों के हाथों में रहा करता था। राजर्षि जनक की ओर आपका ध्यान आकृष्ट कर देना ही पर्याप्त होगा।

राजर्षि जनक मिथिला के माननीय नरेश थे, परन्तु साथ-ही-साथ अपने युग के परम प्रवीण अध्यात्मवेत्ता याज्ञवल्क्य के शिष्य होने के नाते वह तत्त्वज्ञान के आदरणीय ज्ञाता थे। बृहदारण्यक उपनिषद् में ही उनके उदात्त अध्यात्मतत्त्वों का हमें परिचय नहीं मिलता, प्रत्युत महाभारत के शान्ति-पर्व के अन्तर्गत पंचशिख जैसे प्रख्यात सांख्यवेत्ता तत्त्वविद् के साथ अध्यात्म-विषय पर उन्हें वाद-विवाद करते हुए भी हम पाते हैं। गीता की दृष्टि में वह आदर्श कर्मयोगी थे। इस प्रकार यवन देश में जो सिद्धान्त कल्पना-जगत् में भ्रमण करता रहा, वही यहां भारतवर्ष में पूर्णतया चरितार्थ हुआ। भारतवर्ष में दार्शनिकों का कोरा आदर ही नहीं होता था, प्रत्युत देश के शासन की बागडोर भी ऐसे व्यक्तियों के हाथ में देकर भारत व्यावहारिक कल्याण की ओर से सदा निश्चिन्त रहता था।

तत्त्वों के अन्वेषण की प्रवृत्ति भारतवर्ष में उस सुदूर प्राचीन काल से है, जिसे हम 'वैदिक युग' के नाम से पुकारते हैं। ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन युग से ही भारतीय विचारों में द्विविध प्रवृत्ति और द्विविध लक्ष्य के दर्शन हमें होते हैं। प्रथम प्रवृत्ति प्रतिभा या प्रज्ञा-मूलक है तथा द्वितीय प्रवृत्ति

तर्कमूलक है। प्रज्ञा के बल से पहली प्रवृत्ति तत्त्वों के विवेचन में कृतकार्य होती है और दूसरी प्रवृत्ति तर्क के सहारे तत्त्वों के समीक्षण में समर्थ होती है। अंग्रेजी शब्दों में पहली को हम 'इन्टयूशनिस्टिक' कह सकते हैं और दूसरी को 'रैशनलिस्टिक'। लक्ष्य भी आरम्भ से ही दो प्रकार के थे—धर्म का उपार्जन तथा ब्रह्म का साक्षात्कार। ऋग्वेद के एक ऋषि प्रातिभ-ज्ञान के बल पर जगत् के मूल तत्त्व की व्याख्या करते हुए अद्वैत तत्त्व के अन्वेषण में समर्थ होते हैं। वह कहते हैं—**आनीदवातं स्वधया तदेकम्** (ऋ १०।१२९।२) उस समय एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपनी शक्ति से सांस लेती थी, उसे छोड़कर और कोई दूसरा था ही नहीं। उसी वेद का दूसरा ऋषि तार्किक बुद्धि का प्रयोग कर लोगों को प्रोत्साहन दे रहा है—**संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्** (१०।१९।१२) अर्थात् आपस में मिलो, विषय का विवेचन करो तथा एक-दूसरे के मन को जानो। इन उभय प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ने का फल वैदिक युग में सर्वत्र दीख पड़ता है। तर्क-मूलक प्रवृत्ति के वैदिक कर्मकाण्ड के ऊपर प्रभाव पड़ने का फल हुआ 'कर्म-मीमांसा' की उत्पत्ति। मीमांसक ही हमारे पहले दार्शनिक हैं और पूर्वमीमांसा पहला दर्शन है, जिसमें तर्क का उपयोग कर यज्ञ-विधानों में व्यवस्था स्थिर की गई। वेद के यज्ञयागादिकों में आपाततः अनेक विरोध साधारण दृष्टि से दीख पड़ते हैं। इन्हीं विरोधों का परिहार तार्किक बुद्धि से सम्पन्न कर दार्शनिकों ने पूर्व-मीमांसा को जन्म दिया। मीमांसा के 'न्याय' कहलाने का यही रहस्य है। प्रज्ञा-मूलक और तर्क-मूलक प्रवृत्तियों के परस्पर सम्मिलन से आत्मा के औपनिषद तत्त्वज्ञान का स्फुट आविर्भाव हुआ। उपनिषदों के ज्ञान का पर्यवसान आत्मा और परमात्मा के एकीकरण को सिद्ध करनेवाले प्रतिभामूलक वेदांत में हुआ।

इस प्रकार उभय मीमांसाओं में पूर्व-मीमांसा तर्कमूलक प्रवृत्ति का फल है तो उत्तर-मीमांसा प्रातिभ-ज्ञान पर अवलंबित है। उपनिषद्-काल में ही शुद्ध तर्क-मूलक तत्त्व-ज्ञान का भी ऊहापोह होता रहा, जिससे प्रकृति-पुरुष के द्वैत को सिद्ध करनेवाले सांख्य का, व्यावहारिक योग का, बहुत्व-वादी वैशेषिक का तथा 'समानतन्त्र' रूप न्यायदर्शन का उदय हुआ। कुछ विद्वानों ने उपनिषद् से सम्बन्ध विच्छेद कर निरपेक्ष भाव से अपनी स्वतन्त्र

तार्किक बुद्धि के द्वारा तत्त्वों का समीक्षण किया। इसीका परिणाम हुआ जैनियों का स्याद्‌वाद, बौद्धों का शून्यवाद और विज्ञानवाद तथा चार्वाकों का भूतात्मवाद। अतः उपनिषदों से ही समग्र भारतीय दर्शनों का विकास सम्पन्न हुआ, इस कथन में किसी प्रकार के इतिहास से विरोध नहीं है।

उपनिषदों के मूल स्रोत का पता हमें संहिताओं में लगता है। भारतीय दार्शनिक विकास की जो पद्धति साधारणतया हमें सिखलाई जाती है, वह नितांत दोषपूर्ण है। पश्चिमी विद्वानों का आग्रह है कि संहिताओं में केवल कर्मकाण्ड पर ही जोर दिया गया है। ज्ञान-काण्ड का उदय तो कर्म-काण्ड के विरोध रूप में उपनिषदों में ही सर्वप्रथम हुआ। परन्तु उपनिषदों का अध्ययन इस धारणा को निरवलम्ब तथा भ्रान्त सिद्ध कर रहा है।

उपनिषदों में अनेक विद्याओं का विवरण मिलता है, जिनमें मधु-विद्या अन्यतम है। इस विद्या का तात्पर्य है कि जगत् तथा यहां के प्राणी आपस में एक-दूसरे के साथ उपकार-उपकारी भाव से सम्बद्ध हैं। पृथ्वी तथा जल आदि वस्तुओं से जगत् के प्राणियों का कल्याण होता है और ये प्राणी भी पृथ्वी आदि का उपकार करते हैं। इसकी सम्भावना का कारण यह है कि इन दोनों के पीछे आत्मा की सत्ता रहती है। आत्मा पृथ्वी, जल आदि पदार्थ को प्रकाशित करता है और वही आत्मा जगत् के प्राणियों को भी प्रकाशित करता है। इस विद्या का उपदेश अथर्ववेद के ज्ञाता दध्यच् नामऋषि ने अश्विनी कुमारों को दिया था। इस विद्या के उपदेश का स्पष्ट संकेत ऋग्वेद के एक मन्त्र (१।११६।१२) में भी किया गया है। इससे स्पष्ट रूप से जाना जाता है कि ऋग्वेद की संहिता में बीजरूप से निर्दिष्ट विद्या का पल्लवन उपनिषद् में किया गया है।

इस विषय को सिद्ध करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में मधु-विद्या का बड़ा ही सुन्दर तथा साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है।

इसी प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद के द्वितीय अध्याय के आरंभिक पांच मन्त्र वाजसनेयी संहिता के ११वें अध्याय से उद्धृत किये गए हैं। द्वैतवाद का प्रधान उद्‌बोधक मन्त्र—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(मुण्डक ३।१।१)

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६३वें सूक्त की बीसवीं ऋचा है तथा अथर्ववेद के नवम काण्ड के नवम सूक्त का बीसवां मन्त्र है। इस मन्त्र का अक्षरार्थ तो यहहै—साथ-साथ रहनेवाले और समान आख्यानवाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। उनमें से एक तो स्वादिष्ट अर्थात् मीठे कर्मफल (पिप्पल) का भोग करता है और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है। परंतु इसका भावार्थ है कि इस शरीर में जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों एक साथ पक्षियों के समान आलिंगन किये हुए निवास करते हैं। उन दोनों से जीव अपने कर्म से प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख रूप फल को अविवेकवश भोगता है; परन्तु दूसरा पक्षी, जो पहले पक्षी से नितान्त भिन्न है, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप सर्वज्ञ ईश्वर का प्रतिनिधि है। ईश्वर कर्म के फल को न ग्रहण करता है और न भोगता है। वह केवल द्रष्टारूप से ही रहता है। अपनी केवल सत्ता से भोक्ता और भोग्य दोनों का ही प्रेरक है।

ऐसी दशा में उपनिषदों को नवीन ज्ञान के आलोक से हम आलोकित कैसे मानें? संहिताओं में ज्ञान के मूल तत्त्वों का दिग्दर्शन ऋषियों ने अपने प्रातिभ-चक्षु से निरीक्षण कर स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता का वर्णन अनेक सूक्तों में में उपलब्ध होता है। इसके सबसे सुन्दर दृष्टान्त ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०।९०) अदिति सूक्त (१।८९) तथा अथर्ववेद के स्कम्भ सूक्त (१० काण्ड, ७-८ सूक्त), और उच्छिष्ट सूक्त (११।९) हैं। वह सहस्र सिरवाला, सहस्र नेत्र तथा सहस्र पादवाला 'पुरुष' चारों ओर से इस पृथ्वी को घेरकर परिमाण में दश अंगुल अधिक है—**अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्**। पुरुष सूक्त की यह स्पष्ट उक्ति है कि जो कुछ इस समय वर्तमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है तथा जो कुछ उत्पन्न होनेवाला सब पुरुष ही है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्। (पु०सू० मन्त्र २)

गौतम ऋषि का अनुभूत सत्य है कि अदिति ही आकाश है, अदिति ही अन्तरिक्ष है, अदिति ही माता, पिता तथा पुत्र है। अदिति ही समस्त देवता-

रूप है और वही समग्र वर्णों की समष्टि है। जो कुछ उत्पन्न हुआ है और जो होनेवाला है, वह सब अदिति ही है।

अदिति द्यौ रदितिरन्तरिक्ष--
मदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

(ऋग्० १।८९।१०)

अथर्ववेद इसी परम तत्त्व को 'स्कम्भ' तथा 'उच्छिष्ट' के अभिधानों से पुकारता है। जगत् का आधार होने से वह ब्रह्म ही स्कम्भ है। दृश्य प्रपंच के निषेध रहने पर जो अवशिष्ट रहता है, वही 'उच्छिष्ट' है। अतः 'उच्छिष्ट' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ प्रपंच-विरहित, बाध-रहित ब्रह्म। अथर्व श्रुति कहती है--

उच्छिष्ट पर नाम-रूप अवलंबित रहता है; उच्छिष्ट पर सब लोक आश्रित रहते हैं; उच्छिष्ट ही इन्द्र और अग्नि है। यह समग्र विश्व उसीके भीतर सम्यक् रूप से स्थापित है--

उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्ट लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥

(अथर्व ११।९।१)

वेदान्त के इतिहास में 'नामरूप' की कल्पना कितनी महत्त्वपूर्ण है, इसे दर्शन के प्रेमियों को बतलाने की आवश्यकता नहीं। बौद्ध-दर्शन में भी 'नामरूप' की विशिष्ट कल्पना है। इन दोनों का मूल यही है। 'स्कम्भ' आत्म-तत्त्व का ही पर्यायवाची है, इसके लिए श्रुति का स्पष्ट निर्देश है--

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो--
रात्मानं धीरमजरं युवानम्॥

(अथर्व १०।८।४४)

वह परमात्मा कामना से रहित है। वह बुद्धि की प्रेरणा करता है। वह अमर है, नित्य है, कभी मरता नहीं। वह स्वयं उत्पन्न होनेवाला है,

क्योंकि उसका उत्पादक कोई भी नहीं होता। वह पूर्ण आनन्द से तृप्त रहता है। कहीं से उसमें कमी नहीं रहती। उसी धीर (बुद्धि के प्रेरक), अजर (कभी वृद्ध न होनेवाले) तथा सर्वदा युवा रहनेवाले आत्मा को जाननेवाला व्यक्ति मृत्यु से कभी नहीं डरता। उस आत्मतत्त्व का ज्ञान ही मानव को अभय बनाता है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि उपनिषदों ने संहिता के मन्त्रों में निहित सूचनाओं तथा चिन्तनों का ही उपबृंहण किया है। ज्ञान-काण्ड का प्रथम अवतार उपनिषदों में ही हुआ--इस भ्रान्त धारणा को हम जितनी जल्दी अपने हृदय से उखाड़ फेंके, उतना ही अच्छा है।

भारतीय दर्शनों का विकास उपनिषदों में बीजरूप से निहित तथा व्यक्तरूप से प्रतिपादित सिद्धान्तों को लेकर हुआ है। हमारी दृष्टि से हमारे षड्दर्शनों के विकास का यह प्रकार है। औपनिषद तत्त्वज्ञान का पर्यवसान 'तत् त्वमसि' मंत्र में था। इस मंत्र के द्वारा वैदिक ऋषियों का यह गम्भीर शंखघोष है कि तत् तथा त्वं--ब्रह्म तथा जीव--की नितांत एकता है। समष्टि में जो 'तत्' है, वह व्यष्टि में 'त्वं' है। 'अद्वैत तत्त्व' धर्म के साक्षात्कार करनेवाले वैदिक ऋषियों की दार्शनिक संसार के लिए महती देन है। प्रातिभज्ञान से उसकी स्फुरणा पहले हुई, तर्क से उसकी प्रतिष्ठा पीछे सिद्ध की गई। इसी तत्त्व को हृदयंगम करने के लिए दर्शन विकसित हुए। उपनिषद के पश्चाद्वर्ती युग के सामने यही विषम समस्या थी कि इस तथ्य का साक्षात्कार किस प्रकार किया जाय। कतिपय दार्शनिक लोग कहने लगे कि विभिन्न गुणवाले जीव और भौतिक जगत्--पुरुष तथा प्रकृति--के गुणों के ठीक-ठीक न जानने से ही यह संसार है। प्रकृति-पुरुष के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से तत्-त्वं की एकता सिद्ध होती है। अनात्मख्याति से भेद तथा सम्यक् ख्याति (सम्यक् ज्ञान) से अभेद है। इस सम्प्रदाय का नाम हुआ सम्यक् ख्याति अर्थात् सांख्य। यह तो हुआ केवल बौद्धिक साक्षात्कार। परन्तु इससे काम चलता न देख उसे व्यावहारिक रूप से प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति ध्यान-धारणा की व्यवस्था करनेवाले 'योग' से हुई। इस प्रकार सांख्य और योग एक ही तत्त्व-ज्ञान के दो पक्ष हैं। बौद्धिक पक्ष का नाम है--सांख्य और व्यवहार पक्ष का

अभिधान है--योग। कालान्तर में जीव-जगत् के यथार्थ रूप को जानने के लिए उनके गुणों की छानबीन करना आवश्यक प्रतीत होने लगा। इस प्रकार आत्मा तथा अनात्मा के गुण-विवेचन के लिए--अर्थात् उनकी विशिष्टता जानने के लिए 'वैशेषिक' की उत्पत्ति हुई। परन्तु ज्ञान-प्राप्ति की परिष्कृत पद्धति के अभाव में यह विवेचन सुचारु रूप से सम्पन्न हो नहीं सकता। अतः ज्ञान की शास्त्रीय पद्धति के निरूपण के लिए 'न्याय' का जन्म हुआ। न्याय है शुष्क तर्कवादी। अनेक विद्वानों की दृष्टि में केवल तर्क से अध्यात्म का ज्ञान हो नहीं सकता और इसलिए इन्होंने श्रुति की ओर अपनी दृष्टि फेरी। 'श्रुति की ओर लौटो'--इस सिद्धान्त का प्रचार होने लगा। दार्शनिकों ने वेद के पूर्वकाण्ड (कर्म-काण्ड) की विवेचना करना आरम्भ कर दिया और इसी विवेचन का परिणाम हुआ कर्म-मीमांसा का उदय। परन्तु इस दर्शन के विशेष अनुशीलन ने व्यक्त कर दिया कि मानवों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियां केवल कर्म की उपासना से तृप्त नहीं हो सकतीं। अतः उत्तर-काण्ड (ज्ञान-काण्ड) की मीमांसा होने लगी और इसीका पर्यवसान 'वेदान्त' में हुआ। इस प्रकार औपनिषद 'तत्त्वमसि' महावाक्य की यथार्थ व्याख्या करने के लिए इस क्रम से षड्दर्शनों की उत्पत्ति हुई--सांख्य और योग, वैशेषिक तथा न्याय, कर्म-मीमांसा तथा वेदान्त।

भारतीय दर्शन के सच्चे स्वरूप के विषय में आज भी अनेक भ्रान्त धारणाएं हमारे हृदय में विद्यमान हैं। इसका कारण कुछ तो अपने दर्शन-ग्रन्थों से अपरिचय है और बहुत-कुछ पाश्चात्य शिक्षकों की शिक्षा का दुष्परिणाम है। स्वार्थी लोगों ने हमारे दर्शन को निराशावादी कहकर बदनाम कर रखा है। परन्तु इसमें प्रवेश करके इसका अवलोकन करने से तो यह दर्शन नितान्त आशावादी के रूप में झलक उठता है। तथ्य कथा कुछ दूसरी ही है। भारत में दर्शन का जन्म दुःखों की जिज्ञासा तथा उनके दूर करने के उपायों के चिन्तन से ही होता है (**दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ--सांख्यकारिका** १)। इस भवसागर में प्राणी क्लेशों के लहरों के थपेड़ों को खाकर, पद-पद पर विपत्तियों से आक्रान्त होकर इतना अधीर हो उठता है कि उसे जीवन नैराश्य की दीर्घ परम्परा प्रतीत होने लगता है। दर्शन ही उसे सच्चा आश्वासन देकर उस पार ले जानेवाली

नौका के समान सबको आश्रय देकर पार पहुंचा देता है। यदि हमारे दार्शनिकों की जिज्ञासा दुःख ही तक समाप्त होती तो हम उन्हें निराशावादी मानने के लिए कथमपि उद्यत होते; परन्तु वे तो आगे बढ़ते हैं और वे उसके कारणों को ढूंढ़कर उससे सदा (वास्तविक मोक्ष) छुटकारा पाने का मार्ग बतलाते हैं। मोक्ष-शास्त्र भी चिकित्सा-शास्त्र के समान ही चतुर्व्यूह है। रोग,रोग-हेतु, आरोग्य तथा भैषज्य इन चार तथ्यों के ऊपर वैद्यक शास्त्र आश्रित है। उसी प्रकार मोक्ष-शास्त्र भी संसार, संसारहेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय के ऊपर अवलम्बित है। आनन्दमय आत्मा की प्राप्ति को चरम लक्ष्य माननेवाला दर्शन नैराश्यवादी क्योंकर हो सकता है? यह तो साधारण बुद्धि के बाहर की बात है। हमारा दर्शन परम आशावादी है। वह मनुष्यों को सदैव आगे बढ़ने का उपदेश देकर उस गन्तव्य देश की ओर ले जाता है,जिसे पाने के बाद अन्य कोई प्राप्तव्य वस्तु अवशेष ही नहीं रहती। इसके पाने का मार्ग अवश्य कठिन है, परंतु मार्ग तो है। क्या यह नैराश्यवाद का सूचक है? उपनिषद के शब्दों में--

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥

(कठोपनिषद् १।३।१४)

कठोपनिषद का यह प्रख्यात मन्त्र मानवों को जागृति की ओर बढ़ने के लिए उपदेश दे रहा है। वह कहता है--अरे अविद्या-ग्रस्त लोगों, उठो, अज्ञान निद्रा से जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। ज्ञान का पंथ बड़ा ही कठिन है। जिस प्रकार छुरे की धार तेज और दुस्तर (कठिनता से पार करने लायक) होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं। फलतः योग्य आचार्यों से मिलकर तत्त्वज्ञान के रहस्य को प्राप्त करो।

यह आशावादी दर्शन का शंखनाद है।

भारतीय तत्त्वज्ञान की व्यापक दृष्टि किस विद्वान् के समादर का पात्र नहीं बनती? यहां के दार्शनिकों ने 'सत्' की व्याख्या करने में अनुभवगम्य विषय की ओर ध्यान देने की अपेक्षा अनुभवकर्ता विषयी की ओर अधिक ध्यान दिया है। तर्क-बुद्धि का अनुसरण कर आत्मा को तुच्छ अनात्मा से

पृथक् करना विद्वानों का प्रधान कार्य था। इस प्रकार **आत्मानं विद्धि— आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**—आत्मदर्शन ही यहां का मूल मन्त्र रहा है। परन्तु आत्मा का परोक्ष-ज्ञान न होकर अपरोक्ष ज्ञान होना चाहिए। इस विषय में हमारा दर्शन अन्य दर्शनों से बहुत-कुछ आगे है। वह तत्त्वज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा देता है। जिस प्रकार दृश्यमान विविधता के अन्तस्तल में विद्यमान रहनेवाली एकता का निरूपण करनेवाला अद्वैतवेदान्त तात्त्विक विवेचन की पराकाष्ठा को सूचित करता है, उसी प्रकार विभिन्न मानस-वृत्तियों का सर्वांगीण निरूपण कर योग तत्त्वज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा देता है। भारतीय दर्शनों की आलोचना करने से दो सामान्य सिद्धान्त दृष्टिगत होते हैं। पहला है नानात्मक जगत् की पारमार्थिक एकता, यह है तार्किक सिद्धान्त अर्थात् वेदान्त। दूसरा है ध्यान, धारणा, समाधि के द्वारा इस अनुस्यूत एकता अर्थात् अर्थात् मूलभूत आत्म-तत्त्व का साक्षात् अनुभव। यह है व्यावहारिक सिद्धान्त योग। भिन्न-भिन्न दर्शनों में इन सिद्धान्तों की मान्यता आंशिक रूपेण या पूर्ण रूप से स्वीकृत की गई है।

हमारे दर्शन जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के चैतन्य की विशद व्याख्या करने में निरत हैं। जाग्रत् दशा की व्याख्या करने से द्वैतवाद तथा बहुत्ववाद (प्लुरेलिज़्म) के समर्थक तत्त्वज्ञान का उदय होता है। स्वप्न-दशा की व्याख्या विषयी-प्रधान दर्शन (सबजेक्टिविज्म) की जननी है और सुषुप्त का धार्मिक निरूपण रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म) का जनक होता है। पाश्चात्य दर्शन जाग्रत् दशा तथा तन्सम्बन्ध चैतन्य के समझाने में ही विशेष व्यस्त है। पाश्चात्य मनोविज्ञान मन की अवचेतन दशा का विवरण हाल में प्रस्तुत करने लगा है। इसीलिए हम वहां इस त्रिविध अनुभव के एक अंश की व्याख्या पाते हैं। परन्तु हमारा दर्शन इस अनुभव के प्रत्येक अंश का ग्रहण कर उसके यथार्थ निरूपण करने में कृत-कार्य हुआ है। इसीलिए अनुभव की पूर्ण व्याख्या यहां की चिन्तनधाराओं की भूयसी विशेषता रही है।

भारतीय दर्शन स्वानुभूति को विशेष महत्त्व देता है। आत्मसाधन के जो तीन प्रकार—श्रवण, मनन, निदिध्यासन—उपनिषदों में प्रतिपादित किये गए हैं, वे परानुभूति को स्वानुभूति में परिणत करने के क्रमिक मार्ग

हैं। महर्षियों की अनुभूति को प्रदर्शित करनेवाला ग्रन्थ वेद है। इसके तत्त्वों को श्रवण करना चाहिए। ज्ञान को निःसंदिग्ध बनाने के लिए मनन की नितान्त आवश्यकता है। मनन युक्तियों के सहारे किया जाता है। वेद में प्रतिपादित सिद्धान्त सन्देह-रहित हैं, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। परन्तु जबतक साधक उन्हें तर्क की कसौटी पर नहीं कसता, तबतक उनकी सत्यता में उसे विश्वास नहीं जमता। इसीलिए मनन की आवश्यकता होती है। हमारे दर्शनशास्त्र की व्यावहारिकता का यह प्रधान निदर्शन है कि वह निर्धारित तथ्यों को कार्यरूप में परिणत करने का आदेश देता है। जो दर्शन पृथ्वीतल से बहुत ऊपर उठकर कल्पना के साम्राज्य में विचरण किया करता है, वह जनता के विशेष लाभ के लिए नहीं होता। दर्शन तो वही ठीक है जो जनसाधारण की उलझी विपत्तियों में आश्वासन तथा सान्त्वना दे, विह्वल चित्त को सन्तोष प्रदान करे और आश्वस्त चित्त के लिए निःश्रेयस का मार्ग बतलावे।

दर्शन हमारा जीवन है। धर्म और दर्शन के सामंजस्य का यही कारण है। भारत में विचार-शास्त्र पण्डित जनों की कमनीय कल्पना का प्रस्फुटन नहीं है, अपितु उसका अधिराज्य इस व्यावहारिक पृथ्वीतल पर है। दर्शन-शास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है। जैसा विचार, वैसा आचार। बिना धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है। धर्म का प्रासाद खड़ा करने के लिए दर्शन उसकी नींव रखता है। कोई भी धर्म-तत्त्व तबतक विद्वानों का प्रियपात्र नहीं बन सकता, जबतक वह दर्शन की नींव पर खड़ा नहीं होता। भारत में इस सामंजस्य का मधुर रूप दिखलाई पड़ता है। धर्म के सहयोग से भारतीय दर्शन की व्यापक व्यावहारिक दृष्टि है और दर्शन की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित होने से भारतीय धर्म आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है तथा वह तर्कहीन विचारों तथा विश्वासों से अपने-आपको बचा सका है। दुःख की निवृत्ति के खोज से धर्म उत्पन्न होते हैं और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का एकमात्र उपाय यही दर्शन है। परमात्मदर्शन, परमेश्वर का दर्शन, ब्रह्मलाभ, 'स्व' को 'पर' में निमग्न कर देना, यही

उन्नत दर्शन है। इस प्रकार धर्म की पराकाष्ठा का ही नाम दर्शन है। पराकाष्ठा से अभिप्राय यह है कि सच्चे दर्शन से सबका सामंजस्य, सबकी परस्पर अनुकूलता, सबकी तुष्टि और पुष्टि हो जाती है। आत्मदर्शन जिस प्रकार दर्शन का चरम लक्ष्य है, उसी प्रकार वह परम धर्म भी है। मनु और याज्ञवल्क्य आत्मदर्शन को ही परम धर्म मानते हैं—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद् ह्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥

(मनुस्मृति अ० १२।८५)

द्रव्याचार-दया-हिंसा-यज्ञ-स्वाध्याय कर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥

(याज्ञवल्क्य-स्मृति)

सब ज्ञानों में आत्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। वही सब विद्याओं में अग्रगण्य है, क्योंकि उसीसे अमरत्व की प्राप्ति होती है। यह तो मनु का वचन है। याज्ञवल्क्य का वचन भी इसीसे मिलता-जुलता है। उनका कथन है कि द्रव्य का दान, आचार, दया, अहिंसा, यज्ञ तथा वेद का अध्ययन—ये सब धर्म के नाम से अभिहित होते हैं। परन्तु इन धर्मों में भी सबसे बड़ा धर्म है योग के द्वारा आत्मा का दर्शन।

इस पुण्यभूमि भारत में गंगा और यमुना के सम्मिलन के समान धर्म और दर्शन का मधुर मिलन भारतीय संस्कृति के परम सामरस्य का सूचक है। भगवती श्रुति दोनों का मूल है। उस मूल को तिरस्कृत कर देने पर दोनों की स्थिति आपत्तियों से घिरी रहती है। केवल तर्क से किसी बात का ठीक निर्णय नहीं हो सकता। इसीलिए श्रुति का आश्रय आदरणीय है। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में इस तत्त्व का विवेचन बहुत ही ठीक किया है—

प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
कियद् वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥
तत्तद् उत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना।
अनुपासितवृद्धानां विद्या नाति प्रसीदति॥

विभिन्न वैदिक दर्शनों के द्वारा अभ्यास प्रज्ञा विवेक को प्राप्त करता है। अपने ही तर्क के अनुसंधान से कितने तत्त्वों का उन्नयन किया जा

सकता है ? जिन्होंने तत्वज्ञानी पुरुषों की उपासना नहीं की है और जिन्होंने प्राचीन वैदिक आगमों के आधार का सर्वथा परित्यागकर अपनी ही उत्प्रेक्षा से तत्त्वों की समीक्षा की है, उनकी विद्या अत्यन्त प्रसन्न नहीं होती ।

भारतवर्ष के आधुनिक स्वातन्त्र्य युग में तत्त्वचिन्तकों का उत्तर-दायित्व और भी बढ़ गया है। यहां एक आदर्श समाज के संगठन की आवश्यकता सर्वोपरि प्रतीयमान है। यह आदर्श समाज किस पुरुषार्थ का प्रधानतया अवलम्बन कर प्रतिष्ठित हो सकेगा ? यह आज भी विचारणीय विषय है, जिसका समाधान राजनैतिक नेता की अपेक्षा समाज-शास्त्र का मर्मज्ञ तत्त्ववेत्ता ही अधिक जागरूकता के साथ कर सकता है। यूरोपीय समाज की प्रतिष्ठा अर्थमूलक है, परन्तु उस समाज का आदर्श क्या कभी भारत में मान्य हो सकता है ? उत्तर का संकेत निषेध की ओर है। भारतीय संस्कृति धर्म, अर्थ तथा काम, इस पुरुषार्थत्रयी के सन्तुलन पर आश्रित है। वह धर्म की उपेक्षा कर अर्थ और काम के पक्ष को कभी प्रबल बनाने के पक्ष में नहीं रही है और न वह अर्थ-काम के आमूल निरसन की पक्षपातिनी रही है। भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र है---पुरुषार्थों का सन्तुलन ।

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकभक्तः स नरो जघन्यः ।
तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे ॥

इस महनीय सिद्धान्त का तात्पर्य है कि धर्म, अर्थ और काम---इन तीनों का एक साथ समान रूप से सेवन करना चाहिए। जो मनुष्य तीनों में से किसी एक की ही सेवा में आसक्त है, वह 'जघन्य' कहलाता है। जो तीनों में से किन्हीं दो का उपासक है, वह 'मध्यम' कहलाता है, परन्तु धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों में अभिरत व्यक्ति 'उत्तम' कहलाता है।

धर्म की आसक्ति भी उसी प्रकार उपेक्षणीय है, जिस प्रकार अर्थासक्ति तथा कामासक्ति। इस त्रिवर्ग के पारस्परिक सम्बन्ध की समीक्षा हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाती है---

अर्थ का मूल है धर्म तथा अर्थ का फल है काम। अर्थ का वृक्ष धर्म के बीज से उत्पन्न होता है तथा काम के फल को फलता है। इस त्रिवर्ग का मूल है निवृत्ति, जिसे मोक्ष कहा जाता है। 'महाभारत' के श्लाघनीय शब्दों में हम कह सकते हैं---

धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते।
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते॥

इस प्रकार भारतीय सामाजिक दर्शन में अर्थ तथा काम की कथमपि उपेक्षा नहीं है, इन्हीं मूल तत्त्वों के ऊपर लोक-व्यवहार के निर्वाह के कारण इनकी उपेक्षा सम्भव भी नहीं है। परन्तु इन्हें धर्म के आश्रय में, नियन्त्रण में, रखने से ही समाज का कल्याण है। इसके अभाव में निश्चय ही समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है, व्यक्ति तथा समाज का संघर्ष हो जाता है, तथा नियमतः वह समाज विघटित हो जाता है। इसका प्रधान कारण यह है कि स्वच्छन्द अर्थ-काम की प्रकृति तथा धर्म की प्रकृति में महान् अन्तर है। धर्म का लक्ष्य होता है भेद के बीच अभेद की प्रतिष्ठा, वैषम्य के मध्य साम्य की प्रतिष्ठा, विरोध के भीतर मिलन की प्रतिष्ठा तथा बहुत्व के भीतर एकत्व की प्रतिष्ठा। अर्थ-काम प्राणियों को भेद, वैषम्य, विरोध तथा बहुत्व की ओर ले जाते हैं। ये मनुष्य को परार्थ को पराभूत करके स्वार्थ के साधन में नियोजित करते हैं। धर्म का आदर्श परार्थ-साधन के भीतर से ही प्रत्येक की स्वार्थसिद्धि का पथप्रदर्शन करना है। अर्थ और काम की अनुप्राणना दूसरों के सुख और स्वाधीनता को पददलित करके अपनी चरितार्थता और गौरववृद्धि करने की शिक्षा देती है, परन्तु धर्म की अनुप्राणना दूसरों की सेवा में आत्मोत्सर्ग करके, दूसरों को सुख और स्वाधीनता प्रदान कर अपने जीवन को सार्थक बनाने की शिक्षा देती है। भारतीय संस्कृति में इसीलिए यज्ञ की इतनी महिमा है। त्याग के भीतर से ही स्थायी सौख्य की उत्पत्ति होती है। दान के भीतर से ही यथार्थ स्थायी प्राप्ति प्रकट होती है। यह विश्व यज्ञ के द्वारा निश्चित ही विधृत है तथा परिचालित है। समष्टि के कल्याण में व्यष्टि के आत्मोत्सर्ग द्वारा और व्यष्टि के पोषण में समष्टि के शक्ति-नियोग के द्वारा, त्याग के भीतर से भोग की व्यवस्था के द्वारा और विश्व के सभी विभागों में सबका सप्रेम सहयोगिता के द्वारा जगत् विधृत है, इस जगत् की शृंखला और सामंजस्य सुरक्षित है तथा जगत् का क्रमशः अभ्युदय होता है।

शिव के द्वारा दक्षप्रजापति के यज्ञ-विध्वंस की पौराणिक कहानी का गूढ़ निर्देश इसी तथ्य की ओर है। इस विश्व के भीतर सामूहिक मंगल

तथा कल्याण का प्रतीक है शिव तथा विश्व में नाना प्रकार के चमत्कारी भौतिक द्रव्यों के जनक भौतिकवाद का प्रतिनिधि है दक्ष प्रजापति। 'दक्ष' का अर्थ है सामर्थ्य अर्थात् भौतिक पदार्थों पर सामर्थ्य प्राप्त करना। यह दक्ष प्रजापति है नित-नूतन प्रजाओं की सृष्टि में समर्थ है। 'शिव' का अर्थ है परम कल्याण। दक्ष यदि शिव के साथ संघर्ष करता है, यदि भौतिकवाद परम मंगल तथा आध्यात्मिक कल्याण की भावना को पछाड़ने के लिए बद्धपरिकर है तो बिना उसका मस्तक छिन्न-भिन्न किये कल्याण नहीं। अनियन्त्रित भौतिकवाद आध्यात्मिकता को उदरस्थ करने में किसी प्रकार रुक नहीं सकता, यदि उसका मस्तक उड़ा न दिया जाय। विश्व के संतुलन में शिव का प्राधान्य अपेक्षित है, दक्ष का नहीं। विश्व को चरम लक्ष्य की ओर ले चलने के लिए शिव का सामर्थ्य है, दक्ष का नहीं। शिव का वाहन क्या है ? वृषभ, जो सांकेतिकता की दृष्टि से धर्म का ही प्रतीक है। शिव वृषभ पर चढ़कर चलते हैं। कल्याण धर्म का आश्रय लेकर प्रतिष्ठित होता है। धर्म का आश्रय छोड़ देने पर कल्याण का उदय कभी नहीं हो सकता। इसीलिए धर्मविहीन समाज की कल्पना भारत की पुण्यमयी भूमि में नितांत निराधार है, अप्रामाणिक है, सर्वथा अनुपादेय है।

भारत के अध्यात्मवेत्ता डंके की चोट पर प्रमाणित करते आ रहे हैं कि अर्थ की उपासना स्वार्थमयी प्रवृत्ति की जननी है। वह कभी परम सौख्य की ओर मानव-समाज को कथमपि अग्रसर नहीं कर सकती। हिरण्यकशिपु के पुत्ररूप में प्रह्लाद का जन्म अवश्य होता है, परन्तु पुत्र ही पिता के सर्वनाश का कारण बनता है। इस घटना का रहस्य नितान्त गूढ़ तथा उत्तेजक है। 'कशिपु' का अर्थ है शैय्या, सेज। **'सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः'** भागवत की इस प्रख्यात सूक्ति में कशिपु का तात्पर्य शैया से ही है। अतः 'हिरण्यकशिपु' का अर्थ है सोने की सेज पर सोनेवाला प्राणी, भोग-विलास में आसक्त मानव। 'प्रह्लाद' का तो स्पष्ट अर्थ है प्रकृष्ट आह्लाद अर्थात् सातिशय आनन्द। धनी के घर ही प्रह्लाद जन्मता है। 'हिरण्यकशिपु' के घर प्रह्लाद नहीं जन्मेगा, तो क्या वह दीन-हीन, टूटी खाट पर सोनेवाले, दरिद्र के घर पैदा होगा ? पहाड़ से प्रह्लाद गिराया जाता है, परन्तु वह मरता नहीं। पहाड़ों पर घूमने से विलासी पुरुष का आनन्द कम नहीं होता

है, प्रत्युत वह बढ़ता है। जल में डुबाने से प्रह्लाद नहीं मरता। आज भी समुद्र की सैर आनन्द उपजानेवाली होती है, परन्तु हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद का संघर्ष अवश्यंभावी है। भोग की भित्ति पर आनन्द टिक नहीं सकता। त्याग के संग में ही आनन्द चिरस्थायी होता है। प्रह्लाद ने स्वयं इस आध्यात्मिक तत्त्व का संकेत इस सुन्दर पद्य में किया है—

> बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
> नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः।
> तप्तस्य तत्-प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्टः
> तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम्॥
>
> ——भागवत ७।९।१९

भगवान् की उपेक्षा ही दुःखों की जननी है। माता-पिता भी भगवान् के द्वारा उपेक्षित बालक के रक्षक नहीं हो सकते। औषधि रोगी की रक्षा नहीं कर सकती, क्योंकि औषधि देने पर भी मृत्यु देखी जाती है। नाव भी समुद्र में डूबते हुए प्राणी की रक्षा नहीं कर सकती। दुःखों से सन्तप्त मनुष्यों के दुःखों की निवृत्ति के जो उपाय हैं, वे आप-से-आप उपेक्षित लोगों के लिए केवल क्षणिक दुःख-निवृत्ति करते हैं, उनसे दुःखों की चिरस्थायी निवृत्ति नहीं हो सकती। अतएव प्रह्लाद का अस्तित्व भगवान् की अपेक्षा में, सत्ता श्रद्धा और आध्यात्मिक जीवन के यापन में ही हो सकता है।

भारतीय समाज की भव्य प्रतिष्ठा इसी मूलभूत तथ्य पर हो सकती है। आध्यात्मिक मार्ग की कुंजी इस छोटे-से पद्य में भागवतकार ने बड़ी सुन्दरता से बतलाई है——

> तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
> हृद्-वाग्-वपुर्भि-र्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥
>
> —भागवत १०।१४।८

श्लोक का भावार्थ—हे भगवन्, जो मनुष्य क्षण-क्षण पर आपकी कृपा ही बड़ी उत्सुकता से भली-भांति अनुभव करता है और प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ सुख या दुःख उसे मिलता है, उसे निर्विकार मन से भोगता है एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय से, गद्गद वाणी से और पुलकित शरीर से अपनेको आपके चरणों में समर्पित करता रहता है——इस प्रकार जीवन बितानेवाला

पुरुष आपके परम पद पाने का ठीक वैसा ही अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिता की सम्पत्ति का पुत्र स्वभाव से ही अधिकारी होता है।

मानव के आध्यात्मिक आचरमें तीन सोपान हैं--(क) कर्मों के फल को आसक्तिरहित होकर भोगना; (ख) भगवान् की अनुकम्पा का प्रतिक्षण प्रतीक्षण; (ग) हृदय से भगवान् का चिन्तन, वाणी के द्वारा गुणकीर्तन तथा शरीर के द्वारा वंदन। इन तीनों सोपानों के अभ्यास से प्राणी को उसी प्रकार मुक्ति प्राप्त होती है, जैसे पिता की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति पुत्र को प्राप्त होती है। आशय यह है कि ऐसा जीवन बितानेवाले पुरुष को मुक्ति दायभाग में प्राप्त होती है अर्थात् अवश्यमेव प्राप्त होती है। इस तथ्य को जीवन का मन्त्र बनाने की आवश्यकता है। भारतीय दर्शन व्यावहारिक दर्शन है, जो चिन्तन के द्वारा व्यवहार के प्रकार का निर्णय करता है। उच्च सिद्धान्तों की गवेषणा के साथ-साथ इस व्यावहारिक रूप को जनता के सामने रखने की आवश्यकता है।

दर्शन ही जीवन है। वहीहमारे धर्म तथा आचार की भित्ति है। वर्तमान समाज में विद्यमान धार्मिक तथा सामाजिक कलह बाहरी रूपों की ओर ध्यान देने का ही विषमय फल है। अतः अनेकता के भीतर हम एकता को पहचानें। तुमुल कलह तथा संग्रामसे छिन्न-भिन्न जगत् के लिए परस्पर बन्धुता का आदर्श उपस्थित करें। भगवान् करे उस दिन का मंगल प्रभात शीघ्र हो जब मानव पारस्परिक कलह को भुलाकर मानवता का मूल्य समझे तथा दार्शनिक दृष्टि को अपनाकर स्वयं जीये और दूसरों को भी जीने दे।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

पद्य का तात्पर्य है कि विश्व के समस्त-प्राणी, केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि सब जीव-जन्तु, विपत्तियों को पार करें। सब प्राणी कल्याण का दर्शन करें। सब प्राणी अपनी इच्छाओं को प्राप्त करें। सब प्राणी इस संसार में सब जगह आनन्दित हो। संसार के जीव आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन तीनों दुःखों से शान्ति प्राप्ति करें।

: २ :

श्रौत दर्शन

श्रुति या वेद या उपनिषदों के भीतर जो तत्त्वज्ञान है, उसे हम 'श्रौत दर्शन' के नाम से अभिहित करते हैं। 'दर्शन' शब्द विचारों की एक व्यवस्थित धारा की ओर संकेत करता है और ऐसा होना उचित ही है, क्योंकि दर्शन एक ही ज्ञानधारा का सुव्यवस्थित प्रवाह होता है। उपनिषदों में अनेक मननशील ऋषियों की अनुभूतियों का विशाल संग्रह है और आपाततः उनमें व्यवस्था का अभाव लक्षित होता है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। इन विचारों में भी व्यवस्था, एकता, समरसता है तथा सामंजस्य है। यद्यपि उपनिषदों में अन्य विभिन्न दर्शनों के भी बीज विद्यमान हैं,तथापि उनमें एकरूपता का अभाव नहीं है। इसलिए हमने उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के लिए 'श्रौतदर्शन' की संज्ञा प्रदान की है। उपनिषदों में आपाततः विरोधी सिद्धान्तों के अविरोध और सामंजस्य प्रदर्शित करने के लिए ही 'ब्रह्मसूत्रों' की रचना बादरायण व्यास के द्वारा की गई। उपनिषदों के तत्त्वों का निचोड़ दिखलाने के लिए ही भगवद्गीता का निर्माण किया गया। फलतः ये तीनों ग्रन्थ—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता—भारतीय दर्शन के पीठस्थानीय आधार ग्रन्थ हैं और इसीलिए ये प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रख्यात हैं। गीता तथा ब्रह्मसूत्र उपनिषन्मूलक होने से ही इतने महत्त्वपूर्ण हैं। फलतः उपनिषद् ही भारतीय दर्शन के आधार ग्रन्थ हैं, जिनमें निहित बीजों को ग्रहण कर कालान्तर में अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय तथा अभ्युदय हुआ। इस तत्त्वज्ञान से परिचय पाने से पहले वेद के महत्त्व, स्वरूप तथा प्रतिपादित धर्म की जानकारी रखना बहुत ही आवश्यक है। इसलिए इसका एक संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

महत्त्व

भारतीय दर्शन तथा धर्म के लिए तो वेद की महिमा अक्षुण्ण तथा

सर्वोपरि है ही, परन्तु आर्य धर्म के रूप-रंग जानने के लिए वेद से बढ़कर प्राचीन तथा प्रामाणिक ग्रन्थ दूसरा नहीं है। संसार के समस्त ग्रन्थों में वेद ही प्राचीनतम माना जाता है। हिन्दुओं की दृष्टि में वेद अपौरुषेय हैं, अतएव नित्य है, परन्तु जो वि ान् वेद को इतिहास तथा पुरातत्त्व की कसौटी पर कसने का आग्रह रखते हैं, उनकी दृष्टि में भी वेदों की रचना आज से छः हजार वर्ष से पहले ही हुई थी। अत्यन्त प्राचीन काल में आर्यजनों के आचार-विचार, रहन-सहन, धर्म तथा तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिए वेद से बढ़कर साधन हमारे पास नहीं है। जैमिनि का धर्म-परिभाषा के विषय में यह प्रख्यात सूत्र है—**चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः**। 'चोदना' मीमांसा का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है वेद के द्वारा प्रतिपादित विधि। फलतः धर्म के निर्णय करने में वेद ही सर्वाधिक प्रामाण्य है। वेद के विधि-वाक्यों (आदेश देनेवाले वाक्यों) के द्वारा जिस स्पृहणीय तथा प्रार्थनीय वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है, वही 'धर्म' है। स्मृति भी धर्म के लिए प्रमाण रखती है, परन्तु श्रुति के अनुकूल होने पर ही उसका प्रामाण्य मान्य है, अन्यथा नहीं। आशय यह है कि श्रुति तथा स्मृति के विरोध होने पर श्रुति को ही प्रमाण मानते हैं। इसीलिए मनु का कहना है—**प्रमाणं परमं श्रुतिः**—श्रुति ही धर्म के विषय में सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। इस प्रकार श्रुति या वेद प्रामाण्य धर्म के लिए सर्वातिशायी है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

विभाग

वेद के प्रधानतया दो विभाग हैं—संहिता और ब्राह्मण। 'संहिता' का अर्थ है समुदाय। 'संहिता' में वेद के मन्त्रों का समुदाय सुरक्षित है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन्हीं मन्त्रों की एक प्रकार से विस्तृत व्याख्या है, परन्तु विशेषतः यज्ञों के विविध विधानों और अनुष्ठानों का विस्तृत विवरण यहां दिया गया है। 'ब्राह्मण' के तीन खण्ड हैं—१. ब्राह्मण, २. आरण्यक तथा ३. उपनिषद्। ब्राह्मण यज्ञपरक ग्रन्थ हैं। आरण्यक ग्रन्थ वे हैं, जो जन-साधारण से दूर जंगल में पढ़े जाते हैं तथा जिनमें यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उपनिषद् से मुख्य तात्पर्य ब्रह्मविद्या से है,

जिसके अनुशीलन से प्राणी संसार के दुःखों से छुटकारा पाकर अनन्त सुख का अधिकारी बनता है। गौण तात्पर्य ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थों से है। उपनिषद् वेद का अन्तिम भाग है। इसलिए उसे 'वेदान्त' (वेद + अन्त) कहते हैं। 'वेदान्त' का एक दूसरा तात्पर्य भी है। अन्त का अर्थ सिद्धान्त भी होता है। फलतः वेदों के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के कारण भी इन ग्रन्थों को वेदान्त नाम से पुकारते हैं।

संहिता

वेद की संहिताएं मन्त्रों के समुदाय हैं। 'मन्त्र' क्या है? किसी देवता-विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होनेवाले अर्थ को स्मरण करानेवाले वाक्य को 'मन्त्र' कहते हैं। वैदिक संहिता चार हैं--(क) ऋक् संहिता, (ख) यजुः संहिता, (ग) साम संहिता तथा (घ) अथर्व संहिता। वेद तो वस्तुतः एक ही है, परन्तु यज्ञ की दृष्टि से महर्षि कृष्णद्वैपायन ने इसके पूर्वोक्त चार विभाग किये हैं। यज्ञ के पूर्ण अनुष्ठान के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है--होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। होता अनुष्ठान के अवसर पर विशिष्ट देवता के प्रशंसात्मक मन्त्रों का उच्चारण कर उस देवता का आह्वान करता है। होत्रकर्म के लिए उपयुक्त मन्त्रों का संग्रह ऋक् संहिता या ऋग्वेद के नाम से प्रख्यात है। अध्वर्यु का काम यज्ञों का विधिवत सम्पादन है और उसका विशिष्ट वेद यजुर्वेद है, जिसमें उसके लिए उपयोगी मन्त्रों का समुदाय संगृहीत है। उद्गाता (उच्च स्वर से गानेवाला) के लिए 'सामवेद' का संकलन है तथा ब्रह्मा (यज्ञकर्म का निरीक्षक) के लिए आवश्यक मन्त्र 'अथर्वसंहिता' में संकलित हैं। वेद का एक अन्य अभिधान 'त्रयी' भी है। इस नामकरण का कारण यह है कि वेदों के मन्त्र तीन प्रकार के होते हैं—ऋक्, यजुष् तथा सामन्। कुछ मन्त्र तो छन्दोबद्ध होते हैं अर्थात् गायत्री, त्रिष्टुप् आदि छन्दों में निबद्ध हैं। ऐसे मन्त्रों को ऋक् (ऋच् या ऋचा) कहते हैं। गद्यात्मक मन्त्रों की संज्ञा 'यजुः' (या यजुष्) है। ऋचाओं के ऊपर भिन्न-भिन्न स्वरों में गायन या गीति का विधान है, जिन्हें 'साम' कहते हैं। इन तीन प्रकार के मन्त्रों से सम्पन्न होने से वेद को 'त्रयी' नाम से पुकारते हैं।

ऋग्वेद अनेक देवों की भव्य स्तुतियों का एक विशाल भाण्डागार है। द्युतिमान् होना देवत्व का मुख्य लक्षण है। देव प्रकृति के विविध रूपों को अभिव्यक्त करनेवाले माने जाते हैं। प्रकृति के जो दृश्य और घटनाएं वैदिक आर्यों की दृष्टि में चमत्कारपूर्ण तथा विस्मयजनक हुई, उन्हें ही सामान्य रूप से 'देव' का अभिधान प्रदान किया गया है। देव के तीन रूप होते हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। इन तीनों दृष्टियों से देवत्व का प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध है। स्थान-विशेष से तीन देवता मुख्य हैं—(क) पृथ्वी-स्थान देव (जिनमें 'अग्नि' मुख्य है); (ख) अन्तरिक्ष-स्थान देव (जिसमें मुख्यता 'इन्द्र' या 'वायु' की है); (ग) द्युस्थान देव (जिसमें प्रधानता है सूर्य तथा सविता की)। इन तीनों मुख्य देवों की स्तुति के रूप समझने के लिए यहां तीन मन्त्र दिये जाते हैं—

(क) अग्नि

न यो वराय मरुतामिव स्वनः
सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः।
अग्निर्जम्भैस्तिगितै रत्ति भर्वति
योधो न शत्रून् स वना न्यृञ्जते॥

—ऋग्वेद १।१४३।५

भावार्थ—अग्नि को कोई रोक नहीं सकता। ऐसा है दुर्धर्ष अग्नि। इस दुर्धर्ष रूप को प्रकट करने के लिए तीन उपमाएं दी गई हैं। जिस प्रकार वायु की आवाज़ प्रचण्ड होती है, जिस प्रकार चारों ओर भेजी गई सेना दुर्धर्ष होती है, जिस प्रकार दिव्य वज्र का गर्जन प्रचण्ड होता है, उसी प्रकार अग्नि प्रचण्ड और अदमनीय है। अग्नि अपनी तीक्ष्ण ज्वालाओं से खाता है और नष्ट कर डालता है। जिस प्रकार योद्धा शत्रुओं को परास्त कर नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, उसी तरह अग्नि जंगलों को जला डालता है। इस प्रकार अग्नि के अदम्यरूप को दिखलाने के लिए वैदिक ऋषि नाना उपमाओं का प्रयोग करता है।

(ख) इन्द्र—ऋग्वेद के सूक्तों में इस बलिष्ठ देव की स्तुति बड़े ही भव्य मन्त्रों के द्वारा की गई है। इन्द्र मध्यलोक या अन्तरिक्ष के प्रधान देवता हैं। वह इतना बलवान् है कि उसकी सांस से पृथ्वी और आकाश

दोनों कांपते हैं। इन्द्र ने सृष्टि के आदि काल में हिलने-डुलनेवाली पृथ्वी को दृढ़ बना दिया, चंचल और चलायमान पर्वतों को स्थिरता प्रदान की, विस्तृत अन्तरिक्ष लोक को मापा और आकाश को स्तम्भित कर दिया। ऐसे प्रभावशाली इन्द्र की ओर वैदिक आर्यों का आकृष्ट होना स्वाभाविक है। जो काले रंग के दास लोग आर्यों पर आक्रमण किया करते थे, उन्हें इन्द्र ने परास्त कर पर्वत की गुफाओं में मार-भगाया और जिस प्रकार जूए के खेल में जुआड़ी लाखों रुपयों को जीत लेता है, उसी प्रकार इन्द्र ने भी शत्रुओं को परास्तकर लाखों रुपयों को छीन लिया है—

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि
यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।
श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाद-
दर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः॥

—ऋग्वेद २।१२।४

इन्द्र का प्रधान शत्रु वृत्र था, जिसे अवर्षण का दानव माना जाता है। वृत्र ने सब नदियों के पानी को रोक रखा था तथा बादल के भीतर पानी को बन्द कर रखा था। इन्द्र ने अपने मुख्य आयुध वज्र के सहारे वृत्र को मार डाला, जिससे सप्त सिन्धुओं के जल का प्रवाह चल निकला। चारों ओर सुख-समृद्धि विराजने लगी तथा अन्धकार दूर होकर प्रकाश चारों ओर फैल गया। इन्द्र-वृत्र का यह संग्राम प्रतीकात्मक है। प्रत्येक वर्ष वर्षा-ऋतु में अवर्षण होता है, पानी नहीं बरसता, तब वर्षा के देव इन्द्र उस अवर्षण को दूर कर चारों ओर वृष्टि कराते हैं। यही प्राकृतिक घटना इन्द्र-वृत्र-संग्राम के रूप में ऋग्वेद के मन्त्रों में बहुशः वर्णित है।

(ग) **सविता**—द्युस्थानीय देवों में प्राधान्य है सूर्य का। उनके भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार उन्हें विभिन्न नामों से पुकारते हैं। सविता, पूषा, सूर्य, मित्र, विष्णु आदि सूर्य के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं, जो उसके किसी विशिष्ट व्यापार को लक्षित कर दिये गए हैं। 'सविता' का अर्थ है प्रसव करनेवाला। सविता के उदय लेने पर ही जगत् में चेतनता का संचार होता है, नहीं तो वह मृतक के समान विद्यमान रहता है। वही सब क्रियाओं के उत्पादक होने के कारण 'सविता' का नाम धारण करता है। उसके क्रिया-

शील रूप को 'विष्णु' नाम से संबोधित किया जाता है। उसके स्वरूप के विषय में एक-दो मन्त्र यहां दिये जाते हैं—

चित्रं देवानामुदगादनीकं
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

—ऋग्वेद १।११५।१

सूर्य की स्तुति का यह मन्त्र है। चमकनेवाली किरणों का तेजपुंज रूप आश्चर्यजनक सूर्य-मण्डल उदयाचल के ऊपर उदित हो रहा है। यह मित्र, वरुण, अग्नि का नेत्र स्थानीय है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को उसने अपनी किरणों से व्याप्त कर लिया है। सूर्य स्थावर (स्थिर रहनेवाले) तथा जंगम (गच्छतीति) जगत् पदार्थों का आत्मा है। वह समग्र विश्व का कारण-भूत है। सूर्य के उदय लेने पर मृतप्राय: संसार पुनः चेतनायुक्त होता है। इसीलिए तैत्तिरीय आरण्यक (१।१४।१) का कथन है—

योऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणान् आदाय उदेति

अर्थात्—जो यह चमकता सूर्य उदय ले रहा है, वह सब प्राणियों के प्राणों को लेकर उदय ले रहा है।

सविता का जो सन्तत क्रियाशील स्वरूप है, वह वेद में विष्णु के नाम से अभिहित किया गया है। विष्णु के अनेक शौर्य-सम्पादक कार्य हैं, जिनमें मुख्य है—तीन डगों में समग्र विश्व को माप लेना। इसी विशिष्टता के कारण वह 'उरुगाय' तथा 'त्रिविक्रम' के नाम से भी प्रख्यात हैं—

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणे-
ष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥

—ऋग्वेद १।१५४।२

वीरता के कारण वह विष्णु ऋषियों के द्वारा प्रशंसित किया जाता है। वह उस भयंकर पशु (सिंह) के समान है, जो पर्वतों पर रहता है तथा पृथ्वी पर विचरण किया करता है। उसने तीनों डगों से समस्त विश्व को माप

लिया है और उसके तीन डगों के भीतर ही समस्त भुवन निवास करते हैं।

अन्य देवों की भी स्तुतियां वेद के सूक्तों में सर्वत्र उपलब्ध होती हैं। ध्यान देने की बात है कि वेद इन विभिन्न देवों को स्वतन्त्र, पृथक्-पृथक् मानता हुआ भी इन्हें एक ही महान् देव की विभिन्न अभिव्यक्तियां स्वीकार करता है। इस विषय का संकेतक यह प्रख्यात मन्त्र है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

—ऋग्वेद वे० १।१६४।४६

वह एक ही है, परन्तु विद्वान् लोग उसे बहुत प्रकार से निर्देश करते हैं। वही अग्नि है, यम है तथा मातरिश्वा है। संहिताभाग के तत्त्व-ज्ञान का यह एक संक्षिप्त निदर्शन है। एकत्व की भावना पर ही वैदिक देवतातत्त्व आश्रित है।

ब्राह्मण

संहिता तथा ब्राह्मण के स्वरूप तथा विषय का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। संहिता का स्वरूप दोनों प्रकार का है। अधिकांश संहिताएं छन्दोबद्ध हैं। उनके कतिपय अंश ही (कृष्णयजुर्वेदीय संहिताएं तथा अथर्वसंहिता का स्वल्प अंश) गद्यात्मक हैं, परन्तु ब्राह्मण सर्वथा गद्यात्मक ही है। विवेच्य विषय में भी अन्तर है। ऋक् मन्त्रों में देव-स्तुतियों का प्राधान्य है। अथर्व-मन्त्रों में नाना प्रकार के ऐहिक तथा पारलौकिक फल देनेवाले विषयों का विवेचन है। उसके सूक्त रोग-निवारण, सुयोग्य पति का वरण, घर बनाने, हल जोतने, बीज बोने आदि गार्हस्थ्य-सम्बन्धी कार्यों के लिए आशीर्वाद, राजकीय विषयों—जैसे शत्रु को परास्त करना, संग्राम में सेना का संचालन तथा तदुपयोगी साधनों—का विवरण आदि लौकिक विषयों का प्रतिपादन विस्तार से करते हैं। यजुर्वेद की संहिताओं में मुख्यतया दर्श पौर्णमास इष्टियों तथा अन्न यज्ञों का विस्तृत विवरण उपलब्ध किया

गया है। ब्राह्मणों का विवेच्य विषय इनसे नितान्त भिन्न होता है। ब्राह्मणों का मुख्य विषय है--विधि अर्थात् यज्ञ का विधान कब किया जाय? कैसे किया जाय ? उसमें किन साधनों की आवश्यकता होती है ? कौन उन यज्ञों के अधिकारी होते हैं ? इस प्रकार के योग की प्रक्रिया के विषय को सुलझाने के लिए ही इस साहित्य का उदय तथा अभ्युदय हुआ। यज्ञ के विषय में यदि कुछ विरोध प्रतीयमान होता है तो उसका परिहार करना भी ब्राह्मण का उद्देश्य है। शबरस्वामी के अनुसार ब्राह्मण की विधियों की संख्या दस है। कहने का सारांश यह है कि संहिता में स्तुति का प्राधान्य है तो ब्राह्मण में विधि का।

जैमिनि ने भी 'कर्ममीमांसा' में यह पूर्वपक्ष उठाया है कि "वेद में केवल विधि-वाक्यों का ही तो अस्तित्व नहीं है। उनके भिन्न विषयों के प्रतिपादन करनेवाले वाक्यों की भी यहां सत्ता है। फलतः ये वाक्य तो अनर्थक ही हैं; विध्यर्थक न होने से नितान्त व्यर्थ हैं" (**आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्**) सिद्धान्त पक्ष का कथन है कि इन वाक्यों की उपादेयता है। ये स्वतः उपयोगी नहीं है, प्रत्युत विधियों की स्तुति करने के कारण ये विधि-वाक्यों के साथ एक वाक्य हो जाते हैं। विधि की ही प्रशंसा में ये प्रयुक्त हैं और इसीलिए विधि-प्रतिपादित अर्थ के ही ये अवान्तर वाक्य समझे जाने चाहिए। अतः परम्परा या इनका उपयोग विधि-विधान में अवश्यमेव है—**विधिना तु एक। वाक्यात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः** (जैमिनि सूत्र १।२।७) यह विश्लेषण ब्राह्मणों के विषय को ही लक्ष्य कर प्रस्तुत किया गया है।

'ब्राह्मण' के विषय समझने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण शतपथ का विषय विवेचन यहां दिया जाता है। यजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ-ब्राह्मण की महत्ता इस घटना से है कि वह विभिन्न प्रकार के यज्ञयागों का बड़ा ही सांगोपांग तथा पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है, जो अन्य ब्राह्मणों में दुर्लभ है अथवा मात्रा में बहुत ही न्यून है। यज्ञ का आरम्भ वैदिक युग के आरम्भ-काल से है। पहले यज्ञ का विधान संक्षेप में ही होता था, परन्तु कालान्तर में यह यज्ञ-संस्था बहुत ही विस्तृत बन गई। यज्ञ के विभिन्न अंशों के यथावत अनुष्ठान पर विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। ब्राह्मण-युग यज्ञ-संस्था

के पूर्ण विकास का युग है, जिसका परिचय हमें विभिन्न ब्राह्मणों से लग सकता है। इस ब्राह्मण-साहित्य का भी अपने वर्ण्य विषयों के विस्तार, विचार तथा विवरण के कारण शतपथ ब्राह्मण मुकुटमणि माना जाता है।

शतपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से (अर्थात् वाजसनेयी संहिता से) है। इसलिए संहिता में निर्दिष्ट इष्टि और याग उसी क्रम से यहां भी उल्लिखित हैं। शतपथ के प्रथम नौ काण्डों में वाजसनेयी संहिता के प्रथम अठारह अध्यायों की क्रमबद्ध व्याख्या है, जिसमें ब्राह्मणोचित आख्यायिकाओं का भी यथास्थान निवेश यज्ञ के शुष्क वर्णनों को सजीव तथा रोचक बना देता है। इष्टियों में दर्श, पूर्णमास प्रधान तथा प्रकृति माने जाते हैं। दर्श-इष्टि प्रत्येक अमावस्या के अनन्तर प्रतिपद में सम्पन्न होती है और पूर्णमास इष्टि पूर्णिमा के दूसरे दिन होनेवाली प्रतिपद् में। इनके प्राधान्य के कारण इनका सांगोपांग विवरण शतपथ के प्रथम काण्ड में दिया गया है। इन इष्टियों के उपयुक्त मन्त्रों का निर्देश संहिता के प्रथम अध्याय की पंचम कण्डिका से लेकर द्वितीय अध्याय की २८वीं कण्डिका तक किया गया है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र का वर्णन प्रथमतः है। प्रत्येक आर्य गृहस्थ के लिए अग्नि का आधान करके उसमें प्रातः और सायं हवन करने की विधि है। इसीका नाम 'अग्नि होत्र' है, 'पिण्ड-पितृ-यज्ञ' पितरों की तृप्ति के उद्देश्य से किया जाता है। 'नवान्नेष्टि' में अगहन के महीने में नये अन्न के उत्पन्न होने पर उसीसे हवन का विधान है। 'चातुर्मास्य' भी एक विशिष्ट याग है। पूर्वोक्त चारों यागों का विवरण शतपथ के द्वितीय काण्ड में प्रस्तुत मिलता है।

तृतीय और चतुर्थ काण्ड का विषय सोमयाग है। सोमयाग में सोमलता को कूटकर उसका रस निकालते हैं और उसमें गाय का दूध तथा मधु मिलाकर उचित समय पर देवता के निमित्त आग में हवन करते हैं। सोमयाग का प्रकृतिभूत याग 'अग्निष्टोम' कहलाता है, जिसके उपयोगी मन्त्रों का संकलन वाजसनेयी संहिताके चौथे अध्याय से आरम्भ कर ८वें अध्याय की ३२वीं कण्डिका तक किया गया है। प्रकृतियाग होने के कारण 'अग्निस्टोम'का वर्णन तृतीय काण्ड में तथा इसकी विकृति होनेवाले ज्योतिष्टोम आदि इतर सोमयागों का वर्णन चतुर्थकाण्ड में दिया गया है। पंचमकाण्ड में

वाजपेय तथा राजसूय का विस्तृत विवरण है। राजसूय एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण याग है, जिसका मूर्धाभिसिक्त क्षत्रिय नरेश ही अधिकारी होता है। यह अभिषेक प्राचीन भारत में राजनैतिक आधिपत्य का सूचक एक महनीय व्यापार है। अभिषिक्त राजन्य राजसूय जैसे लम्बे याज्ञिक अनुष्ठान का सम्पादक होता था। षष्ठ काण्ड से लेकर दशम काण्ड तक 'अग्निचयन' का विशिष्ट और विस्तृत विवरण है। इन काण्डों में शाण्डिल्य का प्रामाण्य विशेष रूप के स्वीकृत है और उनकी सम्मति बड़े आदर के साथ उद्धृत की गई है। इन शाण्डिल्यकाण्डों में गान्धार, केकय और शाल्व जनपदों का उल्लेख किया गया है, जबकि इतर काण्डों में आर्यावर्त के मध्य भाग के निवासी अथवा पूरब के निवासियों का—कुरु, पांचाल, कोशलविदेह, सृञ्जय, आदि—उल्लेख मिलता है। इससे डा० मैक्डोनल ने निष्कर्ष निकाला है कि इन काण्डों के रचयिता याज्ञवल्क्य न होकर शाण्डिल्य हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं प्रतीत होती। प्राच्य लोगों के उल्लेख से यही जान पड़ता है कि याज्ञवल्क्य विदेह के निवासी थे और विदेह के राजा जनक उनके शिष्य थे। सम्भवतः शाण्डिल्य का सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम प्रान्तों से था और इसीलिए उनके निर्देश के संग में इन जनपदों का उल्लेख स्वाभाविक प्रतीत होता है। आर्यनिवास के तीनों खण्डों में इस समय पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का अभाव न था। ये तीन प्रान्त थे—(क) गन्धार और पंजाब, (ख) कुरु-पांचाल और मध्यदेश, (ग) पूरबी भाग, विदेह और कोशल। ब्राह्मणों में स्पष्ट वर्णन है कि व्याकरण का अध्ययन उत्तरी भाग में विशेष रूप से किया जाता था और कर्म-काण्ड का मध्यदेश में। वैयाकरण पाणिनि का जन्मस्थान गन्धार प्रान्त के शालातुर नामक स्थान में था तथा कुरु-पांचाल आर्य-संस्कृति का विकास-क्षेत्र था—इन बातों की संगति पूर्णरूप से जमती है। फलतः शाण्डिल्य के प्रामाण्य का उल्लेख होने पर भी इन काण्डों की रचना का श्रेय याज्ञवल्क्य को ही देना उचित प्रतीत होता है।

शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम चार काण्डों की विषय-योजना मूल संहिता के आधार पर है। ११वें काण्ड में पशुबन्ध, पंच महायज्ञ तथा दर्श पूर्णमास के अवशिष्ट विधानों का वर्णन है। भूतयज्ञ, मनुष्य-यज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ

और ब्रह्मयज्ञ---ये प्रख्यात यज्ञ 'महासत्र' के रूप में यहां अंकित हैं (११।५।६) स्वाध्याय--वेद का अध्ययन--ब्रह्मयज्ञ का ही रूपान्तर है, जिसकी यहाँ (११।५।७) भूयसी प्रशंसा बड़ी ही आलंकारिक शैली में की गई है। "ऋक् का अध्ययन देवों के लिए पयआहुति है, यजुष् का आज्याहुति, साम का सोमाहुति, अथर्वांगिरस का मेद आहुति तथा अनुशासन (वेदांग), विद्या, इतिहास-पुराण और नाराशंसी गाथाओं का अध्ययन देवों के लिए मधु की आहुति है।" और इसलिए शतपथ का वेद तथा वेदांग के अनुशीलन के लिए बड़ा ही प्रबल आग्रह है। (अनेक प्रमाणों से 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' का समर्थन इस काण्ड का महिमामय सिद्धान्त है। द्वादश काण्ड में द्वादश सत्र, संवत्सरसत्र, सौत्रायणी और और्ध्वदेहिक अनुष्ठान का विस्तृत वर्णन है, जो यज्ञ आरम्भ के दिन से लेकर लगातार बारह दिनों तक चलते हैं, उन्हें 'ऋतु' कहते हैं। बारह दिनों से अधिक दिनों (छह मास या कई सालों) तक चलनेवाले यज्ञों को 'सत्र' कहते हैं। द्वादशाह दोनों प्रकार का होता है--सत्र और अहीन। द्वादशसत्र और संवत्सरसत्र (वर्ष भर तक चलनेवाला यज्ञ) के अनन्तर सौत्रायणी नामक प्रख्यात याग का विवरण कुछ विस्तार के साथ किया गया है (१२।७।१)। इस याग के अध्यात्मिक रूप का भी विवेचन बड़ा मार्मिक है (१२।६।१)।

१३वें काण्ड में अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध तथा पितृमेध का विवरण है। मूर्धाभिषिक्त राजन्य को ही 'अश्वमेध' करने का अधिकार था। अश्वमेध अनेक दिनों में व्याप्त होनेवाला याज्ञिक विधान था, जिसमें यज्ञीय अश्व के हवन का विधान था। यज्ञ के प्रसंग में हम आगे चलकर इन यज्ञों का विशिष्ट विवरण प्रस्तुत करेंगे। १४व काण्ड में 'प्रवर्ग्य' का वर्णन है। अन्तिम पांच अध्यायों में (चौथे अध्याय से लेकर नौवें अध्याय तक) बृहदारण्यक उपनिषद् निबद्ध है, जिसका वर्णन उपनिषदों के प्रसंग में किया जायगा। इस प्रकार यज्ञ के नाना प्रकारों का विस्तृत, प्रांजल तथा प्रामाणिक विवरण देने में शतपथ ब्राह्मण अद्वितीय है; इस कथन में कथमपि विप्रतिपत्ति नहीं है।

यज्ञ के भीतर नाना कर्मों का अनुष्ठान पाया जाता है और वह भी एक विशिष्ट क्रम से सम्पन्न होता है। यह क्रम भी संयुक्तिक है। शतपथ ब्राह्मण

में इस क्रम के प्रत्येक पदार्थ की उपयोगिता सिद्धकरने के लिए बड़ी हीउदात्त और प्रांजल व्याख्या की गई है। तथ्य यह है कि भौतिक याग एक प्रतीकात्मक व्यापार है। अन्तर्याग तथा बहिर्याग में पूर्ण सामंजस्य तथा आनुरूप्य है। अग्नि समिन्धन होने पर दो आहुतियां प्रथमतः दी जाती हैं—मन के लिए पहली आहुति पूर्वाधार आहुति कहलाती है और वाक् के लिए दूसरी आहुति (उत्तराधार आहुति)। भौतिक रथ को ले चलने के लिए जैसे दो अश्वों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार यज्ञचक्र को खींचने के लिए मन्-वाक् की आवश्यकता होती है। मन किसी वस्तु का प्रथमतः संकल्प करता है, तब वाक् वचन-व्यापार के द्वारा उसका प्रतिपादन करती है। मन-वाक् के संयोग हुए बिना किसी भी कर्म का, विशेषतः यज्ञ जैसे अध्यात्म कर्म का, यथार्थ सम्पादन असम्भव है। इसी दृष्टि से दोनों आहुतियों की निष्पत्ति क्रमशः स्रुव तथा स्रुक् नामक पात्रों के द्वारा की जाती है। इस विश्व के भीतर दो प्रधान तत्त्व हैं—अग्नि और सोम—**अग्निसोमात्मकं जगत्**। अग्नि है अन्नाद (अन्न का भक्षण करनेवाला, पुरुषतत्त्व) तथा सोम है अन्न (उपभोग्य तत्त्व, स्त्री तत्त्व)। इन तत्त्वों का यथार्थ मिलन और सामंजस्य होने पर ही विश्व का कल्याण सम्पन्न होता है। अग्नि में सोम रस की आहुति देने का यही अभिप्राय है कि अन्नाद तथा अन्न के परस्पर सम्बन्ध से जगन्मंगल की साधिका सामग्रा प्रस्तुत होती है। उपनिषदों में यही तत्त्व 'रयि' और 'प्राण' के नाम से उल्लिखित है। यज्ञ की प्रत्येक छोटी-सी-छोटी क्रिया का भी स्वारस्य इसी मूलतत्त्व की पीठिका में पूर्णतया अभिव्यक्त करने का श्रेय शतपथ ब्राह्मण को है। पूर्वाधार की आहुति बैठे-बैठे ही दी जाती है तथा उत्तराधार की आहुति खड़े-खड़े दी जाती है। इस प्रक्रिया के भीतर विद्यमान तत्त्व का स्पष्टीकरण शतपथ में बड़े विस्तार के साथ किया गया है (१।४।५)। सच तो यह है कि यज्ञ का विधान साधारण दृष्टि से निर्जीव, आडम्बर-सा प्रतीत होता है। परन्तु शतपथ की व्याख्या के अनुशीलन से उसके अन्तर्निहित तत्त्वों का उन्मीलन यथार्थतः होता है।

उपनिषद्

वेद के अन्तिम भाग 'उपनिषद्' हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति होती है—

'उप + नि' उपसर्गक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर। सद् धातु के तीन अर्थ हैं--विशरण (नाश होना), गति (प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना)। उपनिषद् का मुख्य अर्थ है ब्रह्मविद्या, जिससे जीवों की अविद्या नष्ट हो जाती है, जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है तथा जिसके परिशीलन से गर्भवास आदि संसार के दुःख शिथिल हो जाते हैं। इस प्रकार ऊपर दिये गए सद् धातु के तीनों अर्थों पर ध्यान देने से 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ 'ब्रह्मविद्या' ही निष्पन्न होता है। यह तो मुख्य अर्थ हुआ 'उपनिषद्' शब्द का। इसका गौण अर्थ हुआ इस विद्या के प्रतिपादक ग्रंथ, और इसी अर्थ में यह शब्द बहुशः प्रचलित तथा सर्वतः मान्य है। शंकराचार्य ने अपने कठभाष्य में इस शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ की सिद्धि इसी प्रकार प्रदर्शित की है।

उपनिषदों के महत्त्व का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। यहां उनकी संख्या तथा विशिष्ट ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। उपनिषदों का सम्बन्ध वेदों की संहिताओं से है। उपनिषदों की मान्य संख्या एक सौ आठ है, जिनमें दस उपनिषद् सम्बद्ध हैं ऋग्वेद से, उन्नीस शुक्ल यजुर्वेद से, तैंतीस कृष्ण यजुर्वेद से, सोलह सामवेद से तथा इकत्तीस अथर्ववेद से इतनी ही संख्या मानना उचित नहीं। इधर अड्यार (मद्रास) की थिओसोफिकल सोसाइटी ने लगभग साठ ऐसे उपनिषदों को प्रकाशित किया है, जो अबतक प्रकाशित नहीं थे, परन्तु जिनमें से कतिपय का अनुवाद दारा शिकोह (सत्रहवीं शती) ने फारसी भाषा में किया था। यह तो प्रसिद्ध है कि दारा आध्यात्मिक विद्या का प्रेमी था और इसीसे आकृष्ट होकर उसने महत्त्वपूर्ण उपनिषदों का फारसी में अनुवाद कराया था, जिनके लैटिन अनुवाद को पढ़कर यूरोप के दार्शनिकों का ध्यान इन ग्रंथों की गम्भीरता तथा गौरव के प्रति आकृष्ट हुआ था।

इन उपनिषदों में भी लगभग एक दर्जन उपनिषद् ही ऐसे हैं, जो वेदान्त के तत्त्व प्रतिपादन की दृष्टि से नितान्त महनीय तथा रचना की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन माने जाते हैं। वे नीचे दिये जाते हैं--

(क) ऋग्वेदीय उपनिषद्--ऐतरेय तथा कौषीतकि।

(ख) सामवेदीय--केन तथा छान्दोग्य।

(ग) कृष्ण यजुः--तैत्तिरीय, महानारायण, कठ, श्वेताश्वतर तथा

मैत्रायणी।

(घ) शुक्ल यजुः—ईशावास्य तथा बृहदारण्यक।

(ङ) अथर्व—मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न।

इनमें भी दस उपनिषदों को शंकराचार्य के द्वारा भाष्य से संवलित होने का गौरव प्राप्त है, जो मुक्तिकोपनिषद् के इस प्रसिद्ध श्लोक में क्रमबद्ध दिये गए हैं—

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश॥

शंकर ने अपने भाष्यों में इनके अतिरिक्त छः उपनिषदों को प्रमाण देने के लिए उद्धृत किया है। ये ही लोकप्रिय उपनिषद् अन्य आचार्यों द्वारा व्याख्यात हैं तथा पठन-पाठन में विशेष रूप से समादृत हैं। रचना की दृष्टि से कुछ उपनिषद् गद्य में कुछ पद्य में और कुछ गद्य-पद्य दोनों में हैं। इनके समय का यथार्थतः निरूपण करना असम्भव-सा प्रतीत होता है, क्योंकि ये अनेक शताब्दियों के प्रयत्नों के फल हैं। इन्हें एक शताब्दी के भीतर सीमित करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

वैदिक तत्त्वज्ञान

मूल तत्त्व

वेद आध्यात्मिक विद्या का मूल ग्रन्थ है। उसमें जगत् के भीतर वर्तमान मूल तत्त्व का तथा उससे उत्पन्न होनेवाली सृष्टि का वर्णन है। 'मूल तत्त्व एक ही है', इस अद्वैतवाद की खोज वैदिक ऋषियों ने अपनी प्रातिभ अनुभूति पर सृष्टि के आदिकाल में ही कर ली थी। इस अनन्त कोटि प्रपंच का मूल तत्त्व एक ही है; इसकी सूचना देनेवाली अनेक श्रुतियां संहिता तथा उपनिषदों में बहुशः उपलब्ध होती हैं—

आनीदवातं स्वधया तदेकं।
तस्माद्धान्यन्न परं किञ्चनास॥

—ऋग्वेद १०।१२६

यह श्रुति नासदीय सूक्त की है। इसका तात्पर्य है कि एक ही तत्त्व बिना वायु की सहायता से (क्योंकि उस समय वायु की उत्पत्ति नहीं हुई

थी) अपनी शक्ति (स्वधा) के द्वारा प्राणसम्पन्न था। उसको छोड़कर, उससे पृथक् कोई भी वस्तु विद्यमान नहीं थी। अद्वैतवाद का यह उद्घोष श्रुतियों में अनेकशः उद्घोषित किया गया है—

एकं वा इदं विबभूव सर्वम्

अर्थात्—वह एक ही तत्त्व इस विश्व के रूप में नाना आकृतियों में प्रकट हुआ। यह विश्व नाना है, यह तो हमेशा प्रत्यक्ष होता है। नाना मनुष्य, नाना पशु, नाना पदार्थ—सर्वत्र संसार में नानात्व का, अनेकत्व का राज्य है, परन्तु यह अनेकत्व पैदा हुआ कहां से? उसके मूल में एक ही तत्त्व है। यही इस श्रुति का आशय है।

सदेव सौम्येदमग्र आसीत्
एक मेवाद्वितीयम्

अर्थात्—इस सृष्टि के आरम्भ में 'सत्' था। वह एक था तथा उससे भिन्न दूसरा पदार्थ नहीं था—

नेह नानास्ति किञ्चन

अर्थात्—इस जगत् में कोई भी वस्तु अनेक नहीं है। जो कुछ दृष्टि-गोचर हो रहा है, वह एक ही तत्त्व का विकास है। इन श्रुतिवाक्यों के अनु-शीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल तत्त्व एक ही है। उसे गुण तथा धर्मों के द्वारा समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि अभी तो गुण तथा धर्म का उदय ही सम्पन्न नहीं हुआ था। इसीलिए वह किसी इन्द्रिय के द्वारा न तो गम्य है और न मन के द्वारा उसका ग्रहण किया जा सकता है। इसलिए उपनिषद् का कथन है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, न मनो गच्छति।

अर्थात्—वहां न तो चक्षु जाती है, और न मन और वाणी की पहुंच वहांतक हैं। इसीलिए वह तत्त्व 'अवाङ्मनसगोचर' (वाक् तथा मन के द्वारा अगोचर) कहा गया है। यह कथन सर्वथा उचित है। तथ्य यह है कि हम अवस्था या धर्म को ही पहचानने की शक्ति रखते हैं। अवस्था और धर्म से अतिरिक्त मूल तत्त्व को समझने की क्षमता हमारी बुद्धि में नहीं है। हमारी अंगुली में सोने की अंगूठी है। इस रूप में आने से पहले वह सोने की गुल्ली थी। वही सोना कभी कंकण के रूप में, कभी अंगूठी के रूप में, कभी

कर्णाभरण के रूप में हमारे सामने आता है। हम सोने को इन्हीं अवस्थाओं के द्वारा ही पहचानते हैं। परन्तु यदि पूछा जाय कि सुवर्ण कैसा है? तो उसका यथार्थ रूप हम कथमपि वर्णित नहीं कर सकते। जगत् के समग्रपदार्थों के विषय में यही नियम है। सब अवस्थाओं को हटा दीजिये, सब धर्मों को दूर कीजिये। तब देखियेगा कि विश्व के भीतर एक ही तत्त्व झांकता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। इसीको श्रुति कहती है—**एकमेवा द्वितीयम्।**

ब्रह्म

इस मूल तत्त्व की संज्ञा है—**ब्रह्म**। ब्रह्म शब्द 'बृह्' धातु से निष्पन्न होता है, जिससे उसका अर्थ होता है अत्यन्त वर्धनशील तत्त्व। उसकी परिमिति कथमपि नहीं हो सकती। उसके विषय में श्रुति कहती हैं—**अणोरणीयान महतो महीयान्**—अर्थात्—वह अणु से भी सूक्ष्म है और महान् से बड़ा है। हम साधारणतः दो ही परिमाणों से अवगत हैं—अणु तथा महत्, छोटा और बड़ा। परन्तु ब्रह्म के विषय में इन दोनों ही परिमाणों की चर्चा नहीं की जा सकती। परिमाण उसी पदार्थ का होता है, जो देश तथा काल के द्वारा परिच्छिन्न रहता है। परन्तु ब्रह्म न तो देश के द्वारा परिच्छिन्न है और न काल के द्वारा, क्योंकि वह सर्वव्यापक है—संसार के अणु-अणु में व्याप्त होनेवाला है और कालातीत है। वह भूतकाल में विद्यमान था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। ऐसी दशा में उसे काल या देश के बन्धन में बांध रखना नितान्त असम्भव है। वह अपरिच्छेद्य तत्त्व है—उसका परिच्छेद (सीमित करना) किसी भी प्रकार से, धर्म से, गुण से अथवा अवस्था से सम्भव नहीं है। उपनिषदों में मूल तत्त्व के विषय में यही प्रामाणिक सिद्धान्त है।

पुरुष

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०।९०) में इस परब्रह्म का वर्णन 'पुरुष' शब्द के द्वारा किया गया है। वह पुरुष 'सहस्रशीर्षा' (हजार सिरोंवाला) बतलाया गया है। वह हजारों आंखवाला (सहस्राक्षः) तथा हजारों पैरवाला (सहस्रपात्) है। वह इस विश्व को चारों ओर से घेर-

कर दश अंगुल बाहर स्थित है। यह विश्व उस पुरुष के एक पाद में स्थित है और उसके तीन पैर तो अमृत हैं, जो आकाश में स्थित है। इस सूक्त के निम्न मंत्र में अद्वैतता का उद्घोष है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्

अर्थात्--पुरुष ही यह सबकुछ है, जो आज वर्तमान है, जो अतीत हो गया है और जो आगे भविष्य में उत्पन्न होनेवाला है। उसी पुरुष से यह विराट सृष्टि उत्पन्न हुई--नाना प्रकार के पशु, देवता, मनुष्य आदि। यह सृष्टि यज्ञ से उत्पन्न हुई, जो पुरुष को ही हविष् बनाकर सम्पन्न की गई थी। इसी सूक्त में वह प्रख्यात मन्त्र आता है, जिसमें चारों वर्णों की उत्पत्ति पुरुष के विभिन्न अंगों से बतलाई गई है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्
बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः
पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

—ऋग्वेद १०।९०।१२

अर्थात्—ब्राह्मण उस पुरुष का मुख था; क्षत्रिय उसके बाहु थे, वैश्य उसके उरु थे तथा उसके दोनों पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। चतुर्वर्ण के नाम का यह प्रथम निर्देश इसी सूक्त में किया गया है। इस प्रकार चन्द्रमा का उदय पुरुष के मन से, सूर्य का नेत्र से, इन्द्र और अग्नि का मुख से तथा वायु का प्राण से हुआ। अन्तरिक्ष (मध्यलोक) उसकी नाभि से उत्पन्न हुआ आकाश उसके मस्तक से, भूमि पैरों से, उसके कान से दिशाएं उत्पन्न हुई। इस प्रकार यह विश्व पुरुष से उत्पन्न हुआ है।

उच्छिष्ट

अथर्ववेद में यही परम पुरुष 'उच्छिष्ट' के नाम से उल्लिखित है। 'उच्छिष्ट' के सामान्य अर्थ को ध्यान में रखने से यह भ्रान्ति होनी स्वाभाविक है कि उस उन्नत पुरुष के लिए निकृष्ट वस्तुवाची इस शब्द का प्रयोग क्योंकर किया गया है। परन्तु तथ्य यही है। 'उच्छिष्ट' का अर्थ है शेष, सब वस्तुओं को हटाने के बाद बची हुई चीज। ब्रह्म भी तो ऐसा ही है। उसके विषय में हम न किसी धर्म की चर्चा कर सकते हैं, न किसी भाव

की, न किसी अवस्था की और न किसी गुण की। फलतः परिशेष होने के कारण ही वह इस शब्द के द्वारा व्यवहृत किया गया है। यही उच्छिष्ट विश्व की उत्पत्ति का कारण है।

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥

—अथर्व ११।७।१

अर्थात्—उच्छिष्ट का ही विलास यह विश्व है तथा इसके समग्र पदार्थ हैं—सूर्य, चन्द्रमा, द्यावापृथिवी, साम, ऋक्, यजुः आदि। इतना ही नहीं, ऋत और सत्य उच्छिष्ट के ऊपर आश्रित हैं। धर्म और कर्म, राष्ट्र और तप, भूत और भविष्य, वीर्य और लक्ष्मी—सब कुछ उच्छिष्ट के ऊपर ही अवलम्बित होकर अपनी स्थिति धारण करता है—

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले॥

—अथर्व ११।७।१७

वेदान्त की परिभाषा में ब्रह्म ही जगत का अधिष्ठान बतलाया गया है अर्थात् ब्रह्म के ऊपर आश्रित होकर ही यह समस्त जगत् अपनी सत्ता धारण करता है। यह समस्त विचारधारा अपने आधार के निमित्त इस उच्छिष्ट सूक्त की ऋणी है।

ब्रह्म के दो भाव

ब्रह्म का वास्तविक रूप तो निर्गुण ही है, परन्तु वही शक्ति से सम्पन्न होने पर 'सगुण' भी कहा जाता है। उपनिषदों में दोनों प्रकार की श्रुतियां उपलब्ध होती हैं। कतिपय श्रुतियां उसे सगुण बतलाती हैं और कतिपय निर्गुण। सगुणपरक श्रुतियां ये हैं—

एष सर्वेश्वरः एष भूताधिपति रेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय।

—बृहदा० ४।४।२२

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।

सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैः
द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।

—श्वेताश्वतर ३।३

इन मन्त्रों का आशय है कि वह सबका ईश्वर, प्राणियों का अधिपति, भूतों का रक्षक, लोकों का धारक सेतु है। उसकी सब तरफ आंखें हैं, सब तरफ मुख है, सब तरफ बाहु है, और सब तरफ उसकी गति है। उसने मनुष्यों का भुजाओं से युक्त और पक्षियों को पक्ष से युक्त किया। उसने आकाश और पृथ्वी को बनाया है। वह द्युतिमान है तथा अद्वितीय है।

इसी प्रकार उस सगुण ब्रह्म की विशिष्ट क्रियाओं का वर्णन यही उपनिषत् करता है और उसकी विशिष्टता की ओर हमारा ध्यान इस प्रख्यात मन्त्र में आकृष्ट करता है—

अपाणिपादो जवनोगृहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।।

—श्वेताश्वतर ३।१९

अर्थात्—उसके हाथ नहीं है, किन्तु ग्रहण करता है। उसके पैर नहीं हैं, किन्तु वह चलता है। उसके नेत्र नहीं है, किन्तु वह देखता है और कान न होने पर भी वह सुनता है। वह समग्र वेद्य पदार्थ को जानता है, किन्तु उसे कोई नहीं जानता। उसीको सबसे श्रेष्ठ महान् पुरुष कहते हैं।

अब निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को बतलानेवाली श्रुतियों को देखिये। उपनिषदों के हजारों मन्त्रों में इस रूप का स्पष्ट विवरण प्रस्तुत किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (३।८।८) में अक्षर-ब्रह्म के रूप का प्रख्यात वर्णन है—

"वह अक्षर ब्रह्म न तो स्थूल है, न अणु है; न तो नाटा है और न लम्बा है; न वह लाल है; न चिकना, न वह छाया है और न तम; न वायु है, न आकाश; न वह रस है, न गन्ध; न चक्षु से सम्पन्न है और न क्षोभ से; वह न वाक् है, न मन; न तेज है, न प्राण; न मुख, न मात्रा और वह न भीतर है, न बाहर।"

माण्डूक्य उपनिषद् (मन्त्र ७) में इसी रूप का वर्णन इसी प्रकार

निषेध मुखेन किया गया है। कठोपनिषत् (३।१५) बड़े संक्षेप में वर्णन करता हुआ कह रहा है--

अशब्द मस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाट्य तं मृत्युमुखात प्रमुच्यते ।।

अर्थात्--वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अक्षय, अगन्ध, अनादि, अनन्त, परात् पर वस्तु को जान लेने पर जीव मृत्यु के मुख से छुटकारा पा लेता है।

आशय यह है कि उस ब्रह्म के इदमित्थं रूप का वर्णन कथमपि नहीं किया जा सकता। यदि किया जा सकता है, तो निषेध रूप से ही, विधिरूप से नहीं। इसीलिए श्रुति की यह स्पष्ट घोषणा है कि वह नेति-नेति है—

अथातो आदेशो नेति नेति।
स एष नेति नेति आत्मा ।।

वह सत् और असत् दोनों से विलक्षण है। वह एक अद्वितीय शिव है—

न सत् न चासत् शिव एव केवलः।

—श्वेताश्वर ४।१८

ऊपर उद्धृत मन्त्रों का अनुशीलन करने से स्पष्ट है कि उपनिषद् ब्रह्म के दोनों भावों के निर्देश के लिए दो प्रकार के उल्लेख करता है। निर्गुण ब्रह्म के लिए अर्थात् ब्रह्म के निर्विशेष भाव के प्रकट करने के लिए उपनिषद् 'तत्' शब्द का प्रयोग करता है। सगुण ब्रह्म या ब्रह्म का सविशेष भाव 'सः' पद के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है, अर्थात् निर्गुण भाव के निर्देश स्थल में नपुंसक लिंग का और सगुण भाव के निर्देश-स्थल में पुलिंग का प्रयोग उपनिषद् करता है। '**अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम् अदीर्घम्**'—यहांपर निर्विशेष ब्रह्म का निर्देश अभीष्ट है, अतएव नपुंसकलिंगी प्रयोग है। इसके विपरीत '**सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः**' में सविशेष ब्रह्म का उल्लेख है। अतएव पुलिंग का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि निर्गुण और सगुण में, निर्विशेष और सविशेष में केवल भाव का ही प्रभेद है, वास्तव में कुछ भेद नहीं है। इसलिए जान पड़ता है कि उपनिषद् ने

कहीं-कहीं एक ही मन्त्र में नपुंसक तथा पुंलिंग दोनों का एक साथ ही प्रयोग किया है। दृष्टान्त के लिए मुण्डकोपनिषद के इस मन्त्र पर दृष्टिपात कीजिये, जिसके पूर्वार्द्ध में निर्गुण का तथा उत्तरार्द्ध में सगुण का वर्णन किया गया है—

यत् तद् अद्रेश्यम् अग्राह्यम् अगोत्रम् अवर्णम्
अचक्षुःश्रोत्रम् तद् अपाणिपादम्।

यहां नपुंसकलिंगी प्रयोग है। फलतः निर्गुण ब्रह्म का यह निर्देश है।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं
यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

—मुण्डक १।१।६

यहां सविशेष ब्रह्म का निर्देश है। फलतः यहां पुंलिंग का प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि उपनिषद् ब्रह्म के दोनों भाव में, सविशेष तथा निर्विशेष में, किसी प्रकार का अन्तर या भेद स्वीकार नहीं करता।

मूलतत्त्व की रसरूपता

मूल तत्त्व सत्, चित् तथा आनन्द रूप है। सर्वत्र तथा सर्वदा विद्यमान रहने के कारण वह 'सत्' है। ज्ञानरूप होने से वही 'चित्' रूप है और रस-रूप होने से वही 'आनन्द' कहा गया है। '**रसो वै सः**'—यह श्रुति मूल तत्त्व की रसरूपता सद्यः अभिव्यक्त कर रही है। इसे अनेक प्रकार से युक्तियुक्त समझा जा सकता है। हम सदा देखते हैं कि व्यक्ति के साथ आनन्द का गहरा सम्बन्ध है। जिसमें जितनी अधिक शक्ति होगी, उसमें उतना ही अधिक आनन्द होगा। मनुष्य तिर्यक् जीवों से, पशु-पक्षियों से, अधिक शक्ति-शाली है और इसलिए उसका आनन्द इन जीवों की अपेक्षा कहीं अधिक है। देवगण मनुष्यों से कहीं अधिक शक्तिशाली हैं। तभी तो मनुष्य उनके लोक में जाने के लिए यज्ञ-याग का सम्पादन करता है। फलतः देवों का आनन्द मानवों के आनन्द की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस प्रकार आगे बढ़ते हुए हम सर्वशक्तिशाली ब्रह्म तक पहुंच जाते हैं, जो संसार के प्राणियों में सबसे अधिक शक्तियों से सम्पन्न है। फलतः उसका आनन्द सबसे अधिक होता

है इस। विषय का प्रतिपादन तैत्तरीय उपनिषद् की आनन्द वल्ली (अष्टम अनुवाक) में बड़े विस्तार से किया गया है। मनुष्यों के आनन्द से बढ़ते-बढ़ते हम प्रजापति के आनन्द तक पहुंचते हैं और प्रजापति का सौ आनन्द ब्रह्मा का एक आनन्द होता है और वह ब्रह्मा का आनन्द जिसकी एक मात्रा है ऐसा होता है परमानन्द।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

शंकराचार्य ने इसके ऊपर अपने भाष्य में लिखा है—

स एष आनन्दः (हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणः) यस्य मात्राः समुद्राम्भस इव विप्रुषः प्रविभक्ता यत्रैकतां गताः, स एषः परमानन्दः स्वाभाविकोऽद्वैतत्वाद् आनन्दानन्दिनोश्च अविभावोऽत्र।

इस भाष्य का आशय यह है कि जगत् में मनुष्य के आनन्द से बढ़ता हुआ, सबसे बढ़कर होता है—हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) का आनन्द। यह आनन्द भी जिसका एक बिन्दुमात्र है या एकदेशमात्र है, वह है सबसे श्रेष्ठ तथा अधिक परमानन्द। जिस प्रकार समुद्र के जल की बूंदें वहां से निकलकर सर्वत्र प्रविभक्त हो जाती हैं और फिर अन्त में उसीमें एकत्व प्राप्त करती हैं; यही दशा इस परमानन्द की भी है। अद्वैत रूप होने से यह स्वाभाविक परमानन्द है, क्योंकि उसमें आनन्द और आनन्दी में कथमपि भेद नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि वह मूल तत्त्व निरतिशय आनन्दरूप है। उस आनन्द के लेश को लेकर अन्य प्राणी जीवित रहते हैं। इस विषय में बृहदारण्यक श्रुति बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहती है—

एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति।

—बृहदारण्यक ४।३।३२

मूलतत्त्व की अद्वैतता

आरम्भ में जो प्रतिपादन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि मूल तत्त्व अद्वैतरूप है अर्थात् वह एक ही है, उससे भिन्न इतर पदार्थ है ही नहीं। इस तथ्य का प्रतिपादन उपनिषदों में नाना प्रकार से किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में सत्यकेतु के ऋषि-पिता ने अनेक दृष्टान्तों के द्वारा इस तत्त्व का उपदेश दिया है—

यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् । मृत्तिकेत्येव सत्यम् —छान्दोग्य ६।१।४

इसका तात्पर्य यह है कि मिट्टी के एक ढेले को जान लेने से सारी मृण्मयी वस्तुएं (मिट्टी की बनी हुई चीजें) जान ली जाती हैं, क्योंकि वे मिट्टी के ही विकार हैं। यह नाम देना वाक्य की योजना मात्र है। मिट्टी ही सत्य है।

इसी प्रकार अनेक दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है। यह विविध वैचित्र्यमय विशाल जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है। यह वाक्य की योजना, नाम की रचना तथा रूप की प्रस्तावना मात्र है।

विचारणीय प्रश्न है कि जब ब्रह्म निर्गुण ठहरा, तब इस जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति कहती है—

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ॥

—श्वेताश्वतर ६।८

अर्थात्—उस परब्रह्म की विविध प्रकार की श्रेष्ठ शक्ति वेदों में बतलाई गई है। ज्ञान, बल तथा क्रिया नामक शक्तियां उसमें स्वभाव से ही विद्यमान रहती हैं। ये तीनों शक्तियां एक ही पराशक्ति के विभिन्न अभिधान हैं। उस शक्ति का नाम बल रखा जाता है। एक ही तत्त्व बल, शक्ति तथा क्रिया शब्दों के द्वारा अभिहित किया जाता है। जब वह सुप्त अवस्था में रहे अर्थात् कुछ करता हुआ न रहे, तब उसे 'बल' कहते हैं। वही जब कार्य करने के लिए समुद्यत होता है, तब उसका नाम 'शक्ति' पड़ जाता है और यह शक्ति ही अपनेको 'क्रिया' के रूप में प्रदर्शित करती हुई अन्त में लक्षित होती है। फलतः इस शक्ति के द्वारा ही वह शक्तिमान् विश्व के आविर्भाव में सफल और कृतकार्य होता है। इस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् दो पृथग्भूत तत्त्व से प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुतः एक ही तत्त्व है, क्योंकि अग्नि और दाहिका शक्ति के समान शक्ति और शक्तिमान् में कथमपि पार्थक्य नहीं होता, । अग्नि में जलाने की शक्ति स्वाभाविक है। परन्तु क्या वह शक्ति (दाहिका) अग्नि को छोड़कर एक क्षण के लिए अलग रह सकती है? नहीं, कभी नहीं। इस प्रकार ब्रह्म की शक्ति भी उससे कथमपि पृथक् नहीं रहती और न रह सकती है। फलतः ब्रह्म की अद्वैतता में

किसी प्रकार का विरोध या विकल्प लक्षित नहीं होता।

माया

ब्रह्म सर्वव्यापक या विभु तत्त्व है। वह देश-काल की परिधि से कथमपि परिच्छेद्य या सीमित नहीं होता। परन्तु उसकी शक्ति उसे परिच्छेद्य बनाती है। इसीलिए उस शक्ति का नाम है माया। 'मा' धातु का अर्थ है मिति या परिच्छेद या सीमित करना। अमित या अपरिच्छिन्न में मिति या परिच्छेद दिखलाने के कारण ही यह शक्ति 'माया' शब्द के द्वारा व्यवहृत की जाती है। यह माया 'अनिर्वचनीय' होती है, क्योंकि हम बतला नहीं सकते कि यह क्यों और किस प्रकार अपने कार्य में व्यापृत होती है। निष्कर्ष यह है कि शक्ति का नाम 'माया' और इसके द्वारा परिच्छिन्न होने वाले मूल तत्त्व का नाम 'पुरुष' हो जाता है। 'पुरुष' का यही अर्थ है—पुरिशेते, पुर में शयन करनेवाला अर्थात् एक परिधि में परिच्छिन्न दिखाई देनेवाला। श्वेताश्वतर उपनिषद् की यह प्रख्यात श्रुति स्मरणीय है—

मायां प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्

प्रकृति को माया जानो और महेश्वर को माया का पति समझो। यह समझना कि माया स्वतः अपने कार्य में प्रवृत्त होती है, भ्रान्त धारणा है। वह तो अपने पति के आदेश को लेकर ही अपने विभिन्न तथा विचित्र कर्मों में प्रवृत्त होती है। यह माया भी भगवान् की लीला है, जिसके कारण यह विश्व उद्भासित होता है—

प्रतीतिमात्रमेवैतद् भाति विश्वं चराचरम्।
यस्य चित्तमयी लीला जगदेतत् चराचरम्॥

जीवन-दर्शन

उपनिषदों के अनुसार जीवन बिताने की कला क्या है? किस प्रकार तथा किस उद्देश्य को सामने रखकर मानव को अपना जीवन बिताने की आवश्यकता है? इन प्रश्नों का उत्तर देना अब समुचित होगा। उपनिषदों की 'कर्तव्य-मीमांसा' (एथिक्स) का संक्षिप्त विवरण अब यहां प्रस्तुत किया

जा रहा है।

उपनिषद् भौतिक या व्यावहारिक जीवन तथा आध्यात्मिक जीवन के लिए एक मानक प्रस्तुत करता है, जिसको स्वायत्त करना प्रत्येक मनुष्य के लिए नितान्त आवश्यक है। व्यावहारिक जीवन के आदर्श का परिचय हमें उस अनुशासन या आदेश या उपदेश में सन्निविष्ट मिलता है, जिसे आचार्य विद्याध्ययन समाप्त कर घर लौटनेवाले अपने अन्तेवासी (स्नातक) को देता था। यह तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावली में उपलब्ध होता है। इस उपदेश को आजकल हमारे विश्वविद्यालयों में दीक्षान्त-समारोह के अवसर पर स्नातकों को सुना देने की परिपाटी चली गई है। इस उपदेश के अनुशीलन से वैदिक जीवन-दर्शन की एक भव्य झांकी हमारे सामने उपस्थित हो जाती है।

वैदिक अनुशासन

(क) **आचरण**--सदा सत्य बोलो तथा धर्म का आचरण करो—**सत्यं वद धर्मं चर**। सत्य की महिमा वैदिक जीवन में सर्वत्र अनुस्यूत मिलती है। इस महिमा को वर्णन करते समय ब्राह्मण तथा उपनिषद् संतुष्ट नहीं होते। प्रश्न उपनिषद् का कथन है कि जो झूठ बोलता है, वह जड़ से सूख जाता है। इसलिए अनृत बोलना कभी भी शोभा नहीं देता। सदा सत्य का व्यवहार करना चाहिए—

समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।
तस्मान्नार्हामि अनृतं वक्तुम्।

—प्रश्न ६।१

मुण्डक उपनिषद् सत्य के विजय की घोषणा करता है। सत्य ही जीतता है, विजय पाता है, अनृत नहीं। सत्य से देवयान मनुष्य के लिए विस्तृत होता है। आप्तकाम ऋषि लोग इसी यान का आश्रय लेते हैं—

सत्यमेव जयते नानृतम्
सत्येन पन्था विततो देवयानः।

येना क्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामाः ।
यत्र तत् सत्यस्य परं निधानम् ।।

—मुण्डक ३।१।६

(ख) **प्रमाद न करना**—मानव को कभी भी इन विषयों में प्रमाद—असावधानता नहीं करना चाहिए—स्वाध्याय में, सत्य में, धर्म में, कुशल में, हितसाधन में, स्वाध्याय तथा प्रवचन में, देव तथा पितरों के कार्यों में ।

(ग) **देवबुद्धि रखना**—माता को, पिता को, आचार्य को, तथा अतिथि को देवता समझना चाहिए (**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव**) । प्रत्येक मनुष्य को इन चारों का आदर करना, श्रद्धा रखना तथा पूजन करना चाहिए । ये हमारे लिए देवतुल्य हैं ।

(घ) **ब्राह्मणों के आचरण का अनुगमन**—जो आनन्दित कर्म हैं, उनका आचरण करना चाहिए, अन्यों का नहीं । गुरु का जो सदाचारयुक्त कर्म हो, उनका अनुसरण करना चाहिए, औरों का नहीं। जो कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण हमारे मध्य में हों, तो उनका आसन द्वारा सत्कार करना चाहिए । यदि स्नातक को कर्म के विषय में सन्देह हो, या आचार के विषय में सन्देह हो तो समाज में जो ब्राह्मण विचारशील, समाहित चित्त, समाहित कर्म, सद्भावयुक्त और धर्म काम हों, वे उस विषय में जैसा करें, स्नातक को भी वैसा ही करना चाहिए । निन्दित जनों के प्रति कैसा व्यवहार करना ? इसकी भी कसौटी वे ही ब्राह्मण जन हैं, जिनके गुणों का संकेत ऊपर किया गया है । उनके प्रति वे जैसा आचरण करें, वैसा ही करना चाहिए । फलतः ऐसे विचारशील ब्राह्मण का आचरण उपनिषद् की दृष्टि में अनुसरण के लिए प्रत्येक गृहस्थ का आदर्श होना चाहिए ।

(ङ) **दान का आचरण**—समाज के उचित निर्वाह के लिए दान-धर्म का आचरण उपनिषद् श्रेष्ठ बतलाता है । वह कहता है—दान देना चाहिए श्रद्धा के साथ, अश्रद्धा के साथ नहीं; सम्पत्ति के अनुकूल तथा शालीनता के साथ दान दो । भयपूर्वक दान दो तथा ज्ञानपूर्वक दान दो । इन उपदेशों से दान की महिमा स्पष्टतः अभिव्यक्त होती है । निष्कर्ष यह है कि तप, दान, आर्जव (ऋजुता, ईमानदारी), अहिंसा तथा सत्यवचन---ये पांच

सद्गुण इतने शोभन और उपादेय हैं कि इनके आचरण से मानव-जीवन सर्वथा आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है। इसलिए उनका आचरण उपनिषद् की दृष्टि में प्रत्येक मानव के लिए नितान्त हितकर तथा कल्याण-साधक होता है--

अथ यत् तपो दानमार्जवम् अहिंसा सत्यवचनमिति
ता अस्य दक्षिणाः ।

—छान्दोग्य ३।१७।४

आध्यात्मिक जीवन

इस प्रकार भौतिक जीवन बिताने वाला व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन का उपयुक्त पात्र होता है। उपनिषद् का इस विषय में मान्य सिद्धान्त है--

आत्मानमेव प्रियमुपासीत ।

--बृहदारण्यक १।४।८

आत्मा को ही प्रिय मानकर उपासना करनी चाहिए। तथ्य यह है कि इस जगत् में आत्मा ही प्रियतम वस्तु है। इसका प्रतिपादन याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपनी भार्या मैत्रेयी को उपदेश देते समय किया था। याज्ञवल्क्य जनक के गुरु मिथिला में रहनेवाले एक महान् तत्त्ववेत्ता थे। वृद्धावस्था में जब वह जंगल में तपस्या के निमित्त जाने लगे, तब उन्होंने अपनी सम्पत्ति का विभाजन अपनी दोनों पत्नियों में कर दिया। भौतिक बुद्धिवाली कात्मायनी ने तो अपना अंश चुपचाप ले लिया, परन्तु अध्यात्मरसिक होने के कारण मैत्रेयी ने उस सम्पत्ति को लेना अस्वीकार कर दिया, जिससे अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसने उस उपदेश के लिए आग्रह किया, जिससे मानव अमरत्व को पा सकता है। तब याज्ञवल्क्य ने अपना महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया, जो बृहदारण्यक उपनिषद् में रोचक ढंग से वर्णित है। उनके उपदेश का सारांश यह है।

हम देखते हैं कि मनुष्य अपने पुत्र पत्नी तथा सम्पत्ति को अपनी प्रियतम वस्तु समझकर प्रेम करता है। परन्तु इस प्रेम या ज्ञान का रहस्य क्या है? क्या पुत्र पुत्र के लिए प्यारा होता है अथवा पत्नी पत्नी के लिए प्यारी होती है अथवा धन धन के लिए प्यारा होता है? नहीं, कभी नहीं। पुत्र मुझे अच्छा लगता है, इसलिए वह मुझे प्यारा है। पत्नी मुझे

अच्छी लगती है, इसलिए वह मुझे प्यारी है। धन की भी यही दशा है। मतलब की बात इतनी है कि 'मैं' या 'आत्मा' ही श्रेष्ठ या प्रियतम वस्तु है और उसी आत्मा को प्रिय लगने के कारण ही पुत्र, पत्नी तथा धन प्रिय लगते हैं। इसलिए तथ्य की बात है—

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति

इसीलिए याज्ञवल्क्य की शिक्षा है--

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्याविज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति।

—बृहदारण्यक २।४।५

अर्थात्--आत्मा ही देखने योग्य है, सुनने योग्य है, मनन करने योग्य है तथा निदिध्यासन करने योग्य है। अरे, आत्मा के ही दर्शन से, श्रवण से, मनन से तथा विज्ञान से सब कुछ विज्ञात होता है। इसलिए आत्मोलब्धि ही जीवन का चरम उद्देश्य है। आत्मा का साक्षात्कार ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की सिद्धि के तीन साधन हैं--

श्रवण, मनन और निदिध्यासन। इन तीनों की व्याख्या में एक प्राचीन पद्य है--

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयः एते दर्शनहेतवः॥

अर्थात्—साधक का काम है कि पहले वह आत्मा के रूप का तथा प्राप्ति के उपाय का श्रवण करे, श्रुति या उपनिषद् के वाक्यों से। ऋषियों के द्वारा अनुभूत तथ्यों का विवरण उपनिषदों में उपलब्ध होता है। अतएव पहला काम यही है कि ऋषियों की इस अनुभूति को सुनें तथा जानें कि आत्मा कैसा है?

मनन दूसरा साधन है। यही तर्कशास्त्र का प्रयोजन है। युक्तियों के सहारे, तर्क के द्वारा श्रवण किये गए तथ्यों को समझकर हृदयंगम करना चाहिए। दूसरों की अनुभूति अन्ततोगत्वा परानुभूति ही तो है। उसे अपनी स्वानुभूति बनाने के लिए मनन की नितान्त अपेक्षा है। मनन के द्वारा आत्म तत्त्व सुचिन्तित हो जाता है।

निदिध्यासन साधना का तीसरा सोपान है। चिन्तित तथ्यों का

सदा ध्यान करते रहना चाहिए। योग का यहां उपभोग है। ध्यान, धारणा और समाधि निदिध्यासन की सिद्धि के ही उपाय हैं। भर्तृहरि ने आत्म-तत्त्व की स्तुति में बड़े पते की बात कही है--

दिक् कालाद्य नवच्छिन्नानन्त चिन्मात्रमूर्तये
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे।

—नीतिशतक, श्लोक १

अर्थात्—आत्मा दिक् (दिशा) तथा काल आदि अविच्छेदक वस्तुओं से कथमपि अवछिन्न अर्थात् सीमित नहीं होता। वह अनन्त है तथा चैतन्य रूप है। वह शान्त है तथा तेजः स्वरूप है। उसकी सिद्धि का प्रधान प्रमाण (एक मान) है—अपनी अनुभूति, अपनेको अनुभव करना। दूसरों की अनुभूति हमारे किस काम की? आवश्यकता है कि हम आत्मा का स्वयं अनुभव करें और इसके लिए प्रधान साधन है निदिध्यासन। सन्तत ध्यान करने से ही वह तत्त्व हृदयंगम किया जा सकता है। इस प्रकार आत्म-साधना के ये तीन साधन हैं, जिनका यथार्थ सेवन करने से आत्मा की उपलब्धि, प्राप्ति या अनुभूति साधक को होती है।

आत्म-ज्ञान हो जाने पर संसार के सब पदार्थों का ज्ञान हमें यथार्थतः हो जाता है, क्योंकि सब पदार्थ जब उसीके प्रकार या भेद हैं, तब उसको जान लेने पर अज्ञात ही क्या रह सकता है? कुछ दृष्टान्तों के द्वारा इस विषय को विशद करने की चेष्टा बृहदारण्यक उपनिषद् ने की है—जैसे दुन्दुभी के बजाये जाने पर उसका बाह्य शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता, परन्तु यदि दुन्दुभी को पकड़ लिया जाय तो उसका शब्द भी पकड़ में आ सकता है। जिस प्रकार शंख को बजाने से उसका बाहरी शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता, किन्तु यदि शंख को पकड़ लिया जाय तो उसका शब्द भी पकड़ में आ सकता है। जिस प्रकार वीणा के बजाने पर उसका बाहरी शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता, किन्तु वीणा को ग्रहण करने पर उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है (बृहदारण्यक २।४।७) यही बात जगत तथा ब्रह्म के सम्बन्ध में है। जिस प्रकार एक ही बाजे से अनेक तरह के शब्द निकलते हैं तो यह नानात्व भेद एक बाजे का ही भेद है, इसी प्रकार एक ब्रह्म से ही जगत का नानात्व भासित हो रहा है। इस ब्रह्म के जान लेने पर

जगत की कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं रह सकती। यही परा विद्या है—सर्व-श्रेष्ठ विद्या है, जिससे उस अक्षर तत्त्व का ज्ञान सिद्ध हो जाय।

अथ परा यया तद् अक्षरमधिगम्यते।

आध्यात्मिक क्रियाशीलता

आत्मज्ञानी व्यक्ति शान्त तथा दान्त होता है अवश्य, परन्तु वह आलसी नहीं होता। उसका जीवन नितान्त क्रियाशील व्यक्ति का जीवन होता है। ऐसे व्यक्ति को तर्क का वर्जन करना चाहिए। उसकी क्रीड़ा का विषय होता है आत्मा तथा वही उसकी रति या प्रेम का भी विषय होता है (**आत्म-क्रीड़ा आत्मरतिः**)। उस आत्मा को जानना ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है—

तमेवैकं जानथ आत्मानम्, अन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः।

उस एक आत्मा को ही जानो। अन्य वाणी को छोड़ दो। अमरत्व का वही सेतु है।

तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दरूपम् अमृतं तद् विभाति

—मुण्डक २।२।७

उसके विज्ञान से पण्डित लोग या विद्वज्जन उस तत्त्व को जान लेते हैं, जो आनन्द-रूप है तथा अमृत-रूप है।

इस प्रकार परमानन्द की प्राप्ति ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। मनुष्य सुख पाने के लिए पागल है। वह इधर दौड़ता है, उधर लौटता है। वह बाहरी पदार्थों में ही सुख ढूंढ़ने में लगा हुआ है। वह नहीं जानता कि परम आनन्द तो आत्मा के ज्ञान से ही मिल सकता है और वह आत्मा उसका ही स्वरूप ठहरा। फलतः आनन्द की प्राप्ति अन्तरंग तत्व की उपलब्धि में है। मानव की तुलना उस कस्तूरी मृग से की जा सकती है, जो कस्तूरी की गन्ध से पागल होकर उसे ढूंढ़ने के लिए जंगल में इधर-उधर दौड़ा करता है। वह नहीं जानता कि कस्तूरी तो उसकी नाभि में विद्यमान है। मूल स्रोत तो वह स्वयं अपने ही आप है। साधक की भी ठीक यही दशा है। इसीलिए श्वेताश्वतर उपनिषद् का उपदेश है—

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना
मेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

—श्वेताश्वतर ६।१२

आत्मज्ञानी को ही शाश्वत, नित्यमुख प्राप्त होता है, दूसरे को नहीं। इसलिए वेद का चरम उपदेश इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—

आत्मा को जानो। वह एक अद्वितीय है। उसे छोड़कर कुछ भी दूसरा नहीं है। यह जगत् का नानात्व भ्रमरूप है। आत्मा परम आनन्दमय है। उसे ही जानकर मानव नित्य आनन्द पा सकता है।

: ३ :

गीता का तत्त्वज्ञान

अपनी धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि की विशालता के कारण वैदिक धर्म स्वतः एक नितान्त उदार धर्म है और उसमें भी गीता-धर्म परम उदारता का प्रतीक है। गीता-धर्म वैदिक धर्म का नवनीत है, अत्यन्त सारतम पदार्थ है। गीता का उद्देश्य भारतवर्ष के ही निवासियों को अध्यात्म मार्ग का उपदेश देना नहीं है, प्रत्युत यह सार्वभौम तथा सार्वकालिक ग्रन्थ-रत्न है। इसकी शिक्षा प्रत्येक देश तथा प्रत्येक काल के मानस के लिए उपयोगी है। यही कारण है कि विश्व के अन्य देशों में, विशेषतः अमरीका तथा यूरोप के मनीषियों को इसने अपनी उदार दृष्टि, आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा व्यावहारिक सामंजस्य के कारण अपनी ओर आकृष्ट किया है। पश्चिमी संसार ने भारत की दार्शनिक समृद्धि को सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ के द्वारा समझा है, क्योंकि १८वीं शती के अन्तिम चरण में बंगाल के पहले गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग्स की आज्ञा से चार्ल्स विलकिन्स नामक संस्कृतज्ञ अंग्रेज विद्वान् ने इसका सबसे पहले अंग्रेजी में अनुवाद किया। इस अनुवाद द्वारा ही पश्चिमी विद्वानों को भारत के गौरवपूर्ण दार्शनिक वैभव का ज्ञान हुआ और उन्होंने समझा कि यह देश आन्तरिक झगड़ों तथा आपसी फूट के कारण भले ही छिन्नभिन्न हो, परन्तु इसका आध्यात्मिक चिन्तन बड़ी उच्च कोटि का है, जिससे वे पूरा लाभ उठा सकते हैं। इसी अनुवाद को पढ़कर अमरीका के विद्वान् मनीषी कवि इमर्सन ने 'ब्रह्म'-विषयक अपनी सुप्रसिद्ध कविता का प्रणयन किया। आज विश्व की ऐसी कोई भी शिष्ट तथा समृद्ध भाषा नहीं है, जिसमें भगवद्गीता का अनुवाद न हुआ हो।

गीता इतनी लोकप्रिय क्यों है? क्या कारण है कि भारत के महनीय पुरुषों ने गीता का आश्रय लेकर ही अपने मत का व्याख्यान तथा सिद्धान्त का प्रचार किया है? गीता ज्ञान तथा विज्ञान की कुंजी है। सिद्धान्त तथा व्यवहार—उभय प्रकार के ज्ञान को ठीक-ठीक समझने के लिए गीता अमृत

के समान मधुर, संजीवनी तथा लाभकारिणी है। इसीलिए गीता के माहात्म्य में यह सुप्रसिद्ध श्लोक मिलता है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

अर्थात्—सब उपनिषद् गाय हैं; दूध दुहनेवाले साक्षात् श्रीकृष्ण हैं, जो इस कला के परम प्रवीण पारखी हैं। अर्जुन बछड़ा है, जिसे दूध पिलाने के अवसर पर इस अमृतदोहन की व्यवस्था होती है। भोक्ता पण्डितजन हैं। गीता का अमृत उपदेश महनीय दूध है, जो पान करनेवालों को अमरत्व प्रदान कर सदा के लिए मुक्त कर देता है। फलतः गीता के भीतर निर्दिष्ट तत्त्वज्ञान को समझने के लिए उसके दोनों पक्षों का समूहालम्बन आवश्यक है—सिद्धान्त-पक्ष तथा व्यवहार-पक्ष। सिद्धान्त-पक्ष के भीतर गीता के पदार्थ-विवेचन का प्रतिपादन है तथा व्यवहार-पक्ष के अन्तर्गत साधन-मार्ग का विवरण है। यहां इसी क्रम से इन दोनों पक्षों का संक्षिप्त विवरण हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

पदार्थ-विवेचन

गीता के अनुसार पदार्थों का विभाजन तीन श्रेणियों में अनेक अध्यायों में अनेक नाम से किया गया है।

अपरा प्रकृति (७।४)	क्षेत्र (१३।१)	क्षर पुरुष (१५।१६)
परा प्रकृति (७।५)	क्षेत्रज्ञ (१३।२)	अक्षर पुरुष (१५।१६)
		उत्तम पुरुष (१५।१७)
अहम् (७।६)	माम्	[—पुरुषोत्तम (१५।१८)]

भगवान् की दो प्रकृतियां हैं—अपरा प्रकृति तथा परा प्रकृति। अपरा का ही दूसरा नाम है—क्षेत्र तथा क्षर पुरुष। परा प्रकृति का अपर नाम है—क्षेत्रज्ञ तथा अक्षर पुरुष। इन तीनों वर्णनों का एक साथ अनुशीलन करने पर इन तत्त्वों के रूप इस प्रकार प्रकट होते हैं।

अपरा प्रकृति—गीता में सब भौतिक पदार्थों का सूचक एक शब्द है क्षर पुरुष। **क्षरः सर्वाणि भूतानि**—१५।१६। इसीका विकास अष्टधा या आठ प्रकार की प्रकृति के रूप में और चौबीस प्रकार के क्षेत्र के रूप में अन्य

अध्यायों में किया गया है। अपरा प्रकृति के आठ रूप ये हैं--

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

—गीता ७।४

—भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार--ये आठ प्रकार से भिन्न अपरा प्रकृति होती है। इसीका प्रकारान्तर से वर्णन चौबीस प्रकार के क्षर तत्त्व के रूप में मिलता है--

महाभूतान्यहंकारो बुद्धि रव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकंच पञ्चचेन्द्रियगोचराः।

—गीता १३।५

इन चौबीस प्रकारों के नाम इस तरह है--पांच महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश), अहंकार, बुद्धि अव्यक्त (—त्रिगुणमयी माया), दस इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रिय—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना तथा घ्राण; पांच कर्मेन्द्रियां--वाक्, पाणि, पाद, गुदा तथा उपस्थ), एक मन तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध)। प्रकृतिसहित विनाशी जड़ पदार्थों के तीन नाम हैं। क्षर पुरुष का ही विस्तार अष्टधा प्रकृति है और उसीका विस्तार चौबीस तत्त्वोंवाला क्षेत्र तत्त्व है। प्रकृतिसहित विनाशी जड़ तत्त्वों के अन्य नाम भी गीता में मिलते हैं। 'अधिभूत' (८।४ अधिभूतं क्षरो भावः) कार्य (दस प्रकार का) तथा करण (तेरह प्रकार) सहित प्रकृति के रूप में (१३।२०); 'महद्ब्रह्म' के रूप में (१४।३, १४।४) इसी तत्त्व का प्रतिपादन गीता करती है। इस प्रकार 'जगत्' का वर्णन गीता अपरा प्रकृति के रूप में करती है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय ईश्वर के कारण हैं। यही गीता का विशिष्ट मत है। गीता सांख्य के सिद्धान्त को बहुशः मानती है, परन्तु सृष्टि के विषय में उसका अपना मत है। सांख्य प्रकृति से जगत् का परिणाम मानता है, परन्तु गीता इस मत से सहमत नहीं है। गीता कहती है कि ईश्वर प्रकृति का अध्यक्ष है--उसके कार्यों का निरीक्षक है, प्रेरक है। ईश्वर की अध्यक्षता में प्रकृति जगत् की सृष्टि करती है, नहीं तो जड़ात्मक प्रकृति में जगत् की रचना करने का सामर्थ्य कहां से आता?

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगत् विपरिवर्तते ।।

—गीता ९।१०

प्रकृति तथा ईश्वर का सम्बन्ध क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में गीता कहती है—महद् ब्रह्म या प्रकृति योनि है और ईश्वर बीज डालनेवाला पिता है। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति मातृ स्थानीय है और ईश्वर पितृ स्थानीय है । गीता के मत में जगत् मायिक या काल्पनिक नहीं है, प्रत्युत वास्तविक है,सच्चा है (१४।४)। जगत् की सृष्टि के विषय में दो विभिन्न सिद्धान्त मिलते हैं—परिणामवाद और मायावाद। एक के अनुसार यह जगत् ईश्वर का परिणाम है अर्थात् उत्पन्न होकर भी वास्तव है । दूसरे के अनुसार यह जगत् माया का कार्य है अर्थात् यह काल्पनिक तथा मायिक है। परिणामवादी सांख्य के अनुसार जगत् विकार है। मायावादी अद्वैती के मत में जगत् विवर्त है—ब्रह्म का,अर्थात् ब्रह्म से उत्पन्न होकर मायिक और काल्पनिक है । गीता इन दोनों में से किस सिद्धान्त को मानती है, यह कहना कठिन है, क्योंकि दोनों के प्रतिपादक वाक्य गीता में यत्र-यत्र उपलब्ध होते हैं। ऊपर उद्धृत '**जगत् विपरिवर्तते**' में जगत् के परिणाम का समर्थन है । मायावाद के पोषक वाक्य ये हैं—'मेरे अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है' (**मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय** ७।७) ; सब कुछ वासुदेव ही है (**वासुदेवः सर्वमिति** ७।१०), इस संसार-वृक्ष का जैसा स्वरूप कहा गया है, वैसा विचार काल में पाया नहीं जाता' (**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते** १५।३) । इनका आशय है कि एक परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जो कुछ प्रतीत होता है, वह केवल माया मात्र है । इस प्रकार दोनों प्रकार के मत के पोषक वाक्य गीता में उपलब्ध होते हैं। इसलिए गीता का अपना निजी मत क्या है ? गीता किस वाद का समर्थन करती है ? इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर नहीं दिया जा सकता । तथ्य तो यह है कि गीता के सिद्धान्त वादों से ऊपर रहते हैं, क्योंकि वह किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं है। गीता एक सार्वभौम ग्रन्थ है और इसलिए उसमें नाना मतों की स्थान-स्थान पर उपलब्धि होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जीव-तत्त्व

जीव को ही परा (उत्कृष्ट) प्रकृति कहते हैं। अपरा से उत्कृष्ट होने का कारण यह है कि जीव चेतन होता है और अपरा प्रकृति निश्चेतन होती है। यही 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है (१३।२)। क्षेत्रज्ञ का अर्थ है क्षेत्र को जानने-वाला। शरीर को क्षेत्र कहते हैं—जैसे खेत बीजों को धारण करता है, वैसे ही यह शरीर भी किये गए कर्मों को धारण करता है। 'आत्मा' का विस्तृत वर्णन गीता के दूसरे अध्याय में विशेष रूप से किया गया है। आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादक यह श्लोक खूब ही प्रसिद्ध है--

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्ण-
नन्यानि संयाति नवानि देही।

—गीता २।२२

अर्थात्--जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार देही (—जीव) जीर्ण शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण करता है। यह आत्मा के अमरत्व का सूचक श्लोक है। जीव स्वय अविकारी है। शस्त्र इसे काट नहीं सकते; आग इसे जला नहीं सकती; जल इसे गीला नहीं कर सकता, हवा इसे सुखा नहीं सकती। इस प्रकार आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, तथा अशोष्य है। यह नित्य, सब प्राणियों में व्याप्त होनेवाला, अचल और सनातन है। यह अव्यक्त, अचिन्त्य तथा अविकारी है (गीता २।२५)। जीवत्व के एकत्व के विषय में गीता एक उपमा की अवतारणा करती है। जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सारे क्षेत्रों को या शरीरों को प्रकाशित करता है—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

—गीता १३।३३

यहां सूर्य की उपमा सिद्ध करती है कि क्षेत्री वस्तुतः एक ही होता है। गीता क अनुसार जीव भगवान् का सनातन अंश है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः

—गीता १५।७

—जीव अंश है और भगवान् अंशी है। यह अंशांशी-भाव किस प्रकार का है ? इस विषय में टीकाकारों में पर्याप्त मत-भेद है।

ब्रह्म-तत्त्व

ब्रह्म के विषय में गीता के सिद्धान्त विशेषतः अष्टम तथा त्रयोदश अध्यायों में वर्णित है। गीता ब्रह्म के दोनों रूपों—निर्गुण तथा सगुण—से परिचय रखती है, परन्तु वह जानती है कि दोनों एक ही अभिन्न तत्त्व हैं। इसीलिए कहीं-कहीं दोनों रूपों का स्पष्ट वर्णन एक साथ ही किया गया है—

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥

—गीता १३।१४

इस पद्य का तात्पर्य है कि ब्रह्म सब इन्द्रिय वृत्तियो के द्वारा विषयों के ग्रहण करने में समर्थ होता है, परन्तु साथ-ही-साथ वह सब इन्द्रियों से रहित है। वह सब प्रकार के देहादिक-सम्बन्धों से रहित है (असक्त), परन्तु सबको धारण करता है (सर्वभृत्)। वह निर्गुण है और गुणों का भोक्ता है—रूप, रस शब्दादिक विषयों का वह उपभोक्ता है। इस श्लोक में ब्रह्म के दोनों रूपों का स्पष्ट प्रतिपादन है। ब्रह्म भूतों के भीतर तथा बाहर दोनों ओर है। वह अचर तथा चर दोनों है। पास में है और दूर भी है। दोनों छोरों पर उसकी स्थिति है।

बहिरन्तश्च भूतानमाचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्

—गीता १३।१५

इस प्रकार ब्रह्म के विषय में बहुत-से परस्पर-विरोधी विशेषणों का प्रयोग हम गीता में पाते हैं। वह न तो सत् ही और न असत् (**न सन्नासदुच्यते**—१३।१२)—ऐसा वर्णन एक स्थान पर है तो दूसरे स्थान पर कहा गया है कि वह सत् भी है, असत् भी है तथा इन दोनों से परे भी है—

अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत् ॥

—गीता ११।३७

इन वर्णनों में किसी प्रकार विरोध की कल्पना करना न्यायसंगत नहीं है। परब्रह्म देश, काल, निमित्त आदि समस्त उपाधियों से विरहित है। फलतः उसके लिए ऐसे विशेषणों का प्रयोग भूषण है, दूषण नहीं। गीता परब्रह्म के लिए 'अक्षर' तथा 'अव्यक्त' दोनों शब्दों का प्रयोग करती है। इसलिए 'अव्यक्त' पद को देखकर प्रकृति का ही संकेत मानना कथमपि उचित नहीं है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

—गीता ८।२०

इस श्लोक में 'अव्यक्त' पद का प्रयोग प्रकृति तथा परब्रह्म दोनों के लिए किया गया है। आशय है कि अव्यक्त प्रकृति से परे एक श्रेष्ठ अव्यक्त तथा सनातन सत्ता विद्यमान है, जो सब भूतों के नष्ट हो जाने पर भी स्वयं नष्ट नहीं होती। यही सत्ता परब्रह्म है, जिसे अगले पद्य में अव्यक्त और अक्षर कहा गया है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।

—गीता ८।२१

पुरुषोत्तम-तत्त्व

पुरुषोत्तम-तत्त्व भगद्गीता का परम रहस्य आध्यात्मिक तत्त्व माना जाता है। वह नाना नामों से तथा नाना व्यापारों के कर्तारूप में, गीता में वर्णित है। वह कहीं सृष्टि, पालन तथा संहार का कर्ता, कहीं धारण तथा पोषण-कर्ता कहा गया है। उसके भिन्न-भिन्न नाम हैं। पुरुषोत्तम, परमेश्वर, परमात्मा, अव्यय तथा ईश्वर आदि उसीके अभिधान हैं—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

—गीता १५।१७

इस श्लोक में वह परम पुरुष, उत्तम पुरुष, परमात्मा, अव्यय तथा ईश्वर नामों से एक साथ अभिहित किया गया है। वह तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उनका पालन करता है। पुरुषोत्तम के स्वरूप का प्रतिपादक गीता का यह महनीय पद्य है—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहम् अक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

—गीता १५।१८

अर्थात्—क्षर से मैं अतीत हूं तथा अक्षर से उत्तम हूं। इसलिए लोक तथा वेद में मैं 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूं। यह श्लोक अक्षर ब्रह्म और पुरुषोत्तम के पार्थक्य को स्पष्ट बतलाता है। जड़ जगत् से भिन्न चेतन ब्रह्म को 'अक्षर ब्रह्म' कहते हैं, परन्तु जो ईश्वर इस विश्व को व्याप्त करता हुआ भी इससे परे है, जगत् के समस्त पदार्थों में स्थित है और साथ-ही-साथ उनसे पृथक् भी है, वही ईश्वर 'पुरुषोत्तम' है। संक्षेप में, कह सकते हैं कि पुरुषोत्तम विश्वानुग होकर विश्वातीत दोनों हैं। 'अहम्', 'मान्' आदि शब्दों से जहां-तहां गीता के विभिन्न श्लोकों में इसी परम अव्यक्त, पर, अविनाशी, नित्य, चेतन, आनन्द, बोध स्वरूप का वर्णन किया गया है

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

—गीता ७।६, ७

इसका अर्थ है कि मैं ही सम्पूर्ण संसार के उदय तथा अस्त होने का कारण हूं। मुझसे बढ़कर और कोई भी वस्तु नहीं है। सब संसार तथा उसके पदार्थ मुझमें उसी प्रकार पिरोये गए हैं, जैसे डोरे में मणि का समुदाय। यह उपमा ध्यान देने योग्य है। मणिमाला में केवल मणियां दीख पड़ती हैं। उनको एक सूत्र में पिरोनेवाला डोरा नहीं दिखलाई पड़ता, परन्तु उसी डोरे के कारण ही बिखरी हुई मणियों में एकता विद्यमान रहती है। डोरे के अभाव में वे इधर-उधर बिखर गई रहतीं। ईश्वर की भी ठीक यही दशा है। संसार के कण-कण में चेतना का संचार करनेवाला तथा उन्हें

एकत्र बांध रखनेवाला यही ईश्वर है---पुरुषोत्तम है। आगे चलकर गीता कहती है---

> **ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् अमृतस्याव्ययस्य च।**
> **शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥**
>
> --गीता १४।२७

मैं ही अविनाशी परब्रह्म का, अमृत का, नित्य धाम का, नित्य धर्म का, तथा अखण्ड एकरस आनन्द का आश्रय हूं। यहां ईश्वर के स्वरूप का विशिष्ट वर्णन है। इस प्रकार गीता के अनुसार तत्त्वमीमांसा का संक्षिप्त वर्णन यहां प्रस्तुत किया गया है।

गीता का साधन-मार्ग

नाना जीवों के लिए उनकी अभिरुचि के मंगल-साधन के निमित्त गीता ने अपने साधन-मार्ग का विशिष्ट प्रतिपादन किया है। तीन योगों का प्रतिपादन तीन प्रकार के जीवों के लिए गीता बहुशः करती है। हम भी यहां इस योगत्रयी का वर्णन क्रमशः करेंगे। यह योगत्रयी है—

१. कर्मयोग,

२. ज्ञानयोग,

३. भक्तियोग।

गीता में कर्मयोग

भारतीय दर्शन के इतिहास में 'कर्म-मीमांसा' के आग्रही मीमांसक लोग ज्ञान की अपेक्षा कर्म को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। वे तो ज्ञानमार्गी उपनिषदों का भी तात्पर्य कर्मयोग के समर्थन में ही बतलाते हैं। गीता का 'कर्मयोग' मीमांसकों के 'कर्मवाद' से सर्वथा भिन्न है। मुख्य भेद यह है कि जहां मीमांसक स्वर्ग की प्राप्ति के लिए यज्ञयाग के विधान तथा अनुष्ठान को उपादेय मानते हैं, वहां गीता उसे कर्तव्य-कर्म समझकर निष्काम-बुद्धि से करने का उपदेश देती है। जहां 'कर्मवाद' में स्वार्थ तथा आसक्ति की भावना है, वहां 'कर्मयोग' में निःस्वार्थ तथा अनासक्ति का भाव है।

गीता सिद्धि-लाभ का उपाय स्वकर्म के अनुष्ठान को मानती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

—गीता १८।४६

इस श्लोक का सीधा अर्थ यही है कि जिस परमात्मा से सब भूतों की उत्पत्ति हुई और जिससे यह जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर को अपने 'स्वकर्म' के द्वारा मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। इस श्लोक में दो शब्दों पर विशेष ध्यान देना चाहिए,—१. स्वकर्म २. स्वकर्म से भगवान् की अभ्यर्चना। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार नियत किये गए जो वर्णाश्रम-धर्म अथवा सामान्य मानव-धर्म हैं, वे ही 'स्वकर्म' कहे जाते हैं। गीता में 'स्वकर्म के लिए अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, यथा स्वधर्म, सहज कर्म नियतं कर्म, स्वभावजं कर्म, स्वभावनियतं कर्म आदि। स्वकर्म के अनुष्ठान पर गीता का पूर्ण आग्रह है। जिस समाज में हम पैदा हुए हैं तथा अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार जिस वर्ण और आश्रम में हमारी स्थिति है, उसके कर्मों का विधिवत पालन करना हमारा परम ध्येय होना चाहिए। जो लोग दूसरे के धर्म पर दृष्टि डाले रहते हैं, उनसे गीता का उपदेश है कि अच्छी प्रकार आचरण किये बिना दूसरे के धर्म के पालन करने की अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म का पालन श्रेष्ठ होता है; स्वभाव से नियत कर्म के करने से कभी कोई व्यक्ति पाप को प्राप्त नहीं कर सकता (गीता १८।४७)। अपने धर्म में यदि दोष भी दिखलाई पड़ता हो तो उसका वर्जन कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि सब कर्म किसी-न-किसी दोष के द्वारा सदा आवृत रहते हैं—अग्नि को धूम्र के समान। थोड़ी-सी आग क्यों न हो; उसके साथ धूम्र का रहना अनिवार्य है। दोनों का नित्य साहचर्य है। कर्म तथा दोष का भी सम्बन्ध इसी प्रकार है। यह सम्बन्ध जानकर भी तथा प्रत्यक्ष रूप से अपने कर्म को सदोष देखकर भी साधक को चाहिए कि स्वभाव से नियत कर्म का परिहार कभी न करे (गीता १८।४८)। यह तो हुई गीता के अनुसार 'स्वधर्म' या 'स्वकर्म' के पालन की अनिवार्यता, अब इसी कर्म के द्वारा भगवान् की अर्चना किस प्रकार की जा सकती है, इसपर भी ध्यान देना चाहिए।

स्वकर्म से भगवान की अर्चना

जगन्नियन्ता ने इस जगत् का निर्माण किया है और प्राणियों के जीवन-निर्वाह की सुन्दर व्यवस्था की है। इसकी इच्छा है कि प्राणी अपनी वर्तमान स्थिति के अनुकूल कार्यों का विधिवत् पालन करे। यदि वह ऐसा न करेगा तो भगवान् के विधि-विधान में अव्यवस्था हो जायगी और संसार का यह यन्त्र अपनी धुरी से हटकर छिन्न-भिन्न हो जायगा। अतः प्राणी के लिए 'स्वकर्म' का अनुष्ठान करना नितान्त आवश्यक है, परन्तु इन कर्मों का आवश्यक अनुष्ठान भी उसे अनासक्त बुद्धि से करना चाहिए। 'आसक्ति' ही बुरी वस्तु है, जो कर्म को बन्धन के रूप में प्रस्तुत कर देती है। इस आसक्ति का त्याग ही कर्म के बन्धनरूप को काटने में समर्थ होता है।

पतिव्रता का दृष्टान्त यहां दिया जा सकता है। पतिव्रता स्त्री अपने पति को ही सर्वस्व समझकर, उसका सर्वदा चिन्तन किया करती है और पति की ही आज्ञा के अनुसार पति के ही लिए मन, वचन तथा शरीर से कर्म किया करती है। जीव की भी ऐसी ही उदात्त भावना होनी चाहिए। परमेश्वर ही जीव का सर्वस्व है, यह जानकर जीव को चाहिए कि वह सदा परमेश्वर का चिन्तन करता हुआ, परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार मन, वाणी और शरीर के द्वारा परमेश्वर के ही प्रसन्नार्थ अपने स्वाभाविक कर्मों का विधिवत् आचरण करे। उन कर्मों का फल कभी अपने भोग की वस्तु न समझे,प्रत्युत वह भगवान् को ही अर्पण कर दे——**'कर्मणा तमभ्यर्च्य'** का यही तात्पर्य है। कर्म का फल हमें नहीं मिलेगा, इस कारण न कर्मके अनुष्ठान में किसी प्रकार का शैथिल्य तथा न मन में किसी प्रकार का अवसाद आना चाहिए; प्रत्युतपूर्ण आस्था से, पूर्ण परिश्रम से तथा अपूर्व उत्साह से कर्मों का अनुष्ठान करते रहना चाहिए, परन्तु फल का समर्पण कर देना चाहिए उस भगवान् को, जो हमारे हृदय-देश में सदा विद्यमान रहता है तथा यन्त्रारूढ़ प्राणियों को अपनी माया के द्वारा सर्वदा घुमाया करता है (गीता १८।६१)। जीव परमेश्वर के हाथ से संचालित एक प्राणी मात्र है। ऐसे अन्तर्यामी तथा सर्वशक्ति-सम्पन्न परमेश्वर को कर्म-फलों को समर्पण करने से उन फलों में और भी अधिक सामर्थ्य तथा व्याप्ति चली आती है—— यह निर्विवाद है।

गीता के अनुसार संसार के प्राणियों को हम दो भागों में बांट सकते हैं—१. सक्त तथा २. युक्त। दोनों स्वकर्म का अनुष्ठान करते हैं, परन्तु दोनों की दृष्टि में महान् अन्तर होता है। गीता के द्वारा निर्दिष्ट साधना-मार्ग का तात्पर्य यही है कि 'सक्त' पुरुष 'युक्त' पुरुष बन जाय। 'सक्त' पुरुष वह है, जो संसार के कामों में सर्वथा आसक्त रहता है और जिसके काम अपने लाभ तथा अपने अनुराग की भावना और कामना के द्वारा ही प्रेरित किये जाते हैं। वह अपने समय तथा परिस्थितियों का दास होता है और वह अपने जीवन को उन्हींके संकेत पर चलाता रहता है। वह अपने को घर तथा समाज एवं देश के सम्बन्धों में जकड़े रहता है, मानो ये सम्बन्ध सर्वदा वर्तमान रहनेवाले हों। तात्पर्य यह है कि 'सक्त' संसार का साधारण प्राणी होता है, जो न कभी भूत पर दृष्टि रखता है और न भविष्य पर, प्रत्युत वर्तमान को ही वह अपने जीवन का लक्ष्य बनाये रहता है। उसके हृदय में काम की भावना अपना राज्य जमाये रहती है और उसके समस्त कार्यों के अन्तराल में यह भावना जागरूक रहती है। परन्तु यह काम आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु होता है। काम की उपमा गीता में 'दुष्पूर अनल' के साथ की गई है। काम वह आग है, जो कभी बुझना जानती ही नहीं, क्योंकि एक काम (वासना) के पूरा होने पर दूसरा काम (वासना) सामने आ धमकता है। उसकी कभी समाप्ति ही नहीं है। इसको वश में रखने की आवश्यकता है तभी मानव वास्तव में सच्चा 'युक्त' पुरुष बन सकता है। युक्त का अर्थ है—काम के ऊपर संयम रखनेवाला व्यक्ति। काम हमको यदि खींचकर आगे बढ़ाता चलता है तो हम उस क्षण में सक्त हैं। परन्तु यदि हमने ज्ञान के द्वारा काम के यथार्थ विध्वंसक रूप को जानकर उसे अपने वश में कर लिया तो समझ रखिये हम 'युक्त' बनने के शोभन मार्ग पर चल रहे हैं। आज का मनोवैज्ञानिक 'काम' के महनीय प्रभाव को जितना व्यापक समझता है, गीता भी उसे उसी रूप में मानती है। गीता का यह विषय-विश्लेषण पूर्ण मनोवैज्ञानिक है और हमारी प्रवृत्तियों का तथा मनोभावों का बड़ा ही सुन्दर युक्तियुक्त तथा सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करता है। गीता के अनुसार 'युक्त' होने की प्रक्रिया यही है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीर विमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

—गीता ५।२३

मनोविज्ञान की दृष्टि से यह श्लोक बड़े महत्त्व का है। आधुनिक मनोविज्ञान बतलाता है कि काम तथा क्रोध का भाव चुपके-से हमारे मन में किसी कारण विशेष को लेकर उत्पन्न हो जाता है और अनन्तर हमारे पूरे शरीर पर अपना प्रभाव जमा लेता है। मन की वृत्तियां अपनी-अपनी अभिव्यक्ति शरीर के द्वारा ही प्रकट करती हैं। हमारे मन के जैसे भाव होते हैं, उनका संकेत हमारे शरीर में सद्यः अथवा कालान्तर में होने लगता है। गीता के अनुसार यही 'शरीर विमोक्षण' है,अर्थात् शरीर में मनोभावों के प्रभाव का विशेष रूप से मोक्षण होना—छोड़ना—व्याप्त करना है। गीता बतलाती है कि वही व्यक्ति युक्त तथा सुखी है, जो काम तथा क्रोध से उत्पन्न वेग को शरीर में फैलाने से पहले ही सहने में समर्थ होता है। विष यदि शरीर में फैल जाता है तो उसका निवारण बहुत कठिन होता है, परन्तु वह शरीर में आने के साथ-ही-साथ ध्वस्त कर दिया या रोक दिया जाय, तब वह प्राणी उसके विषम परिणाम से बच जाता है तथा सुखी होता है। ठीक यही दशा काम-क्रोध के वेग की भी होती है। गीता का यह श्लोक मनोविज्ञान के दृढ़ आधार पर खड़ा है और '**प्राक् शरीर विमोक्षणात्**' (शरीर में प्रभाव को पूर्णतया व्यापक होने से पहले) का पूर्वोक्त अर्थ ही उचित प्रतीत होता है। 'शरीर के नाश होने से पहले' अर्थ करना ठीक नहीं जंचता और ऐसा करने 'इहैव' पदों का स्वारस्य भी नहीं जमता। अतः गीता के अनुसार पुरुष तभी 'युक्त' हो सकता है जब वह अपने काम तथा क्रोध के वेग को रोककर अपने चित्त को इन बुरी वृत्तियों से सदा के लिए बचाता है। वह तभी सुखी हो सकता है।

गीता के कर्म-मार्ग के प्रसंग में एक-दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। गीता के अनुसार आदर्श पुरुष का निर्देश तीन स्थलों पर तीन भावों से किया गया है। १. स्थितप्रज्ञ (पहला अध्याय), २. भक्त (बारहवां अध्याय), ३. गुणातीत (चौदहवां अध्याय)। ऐसे पुरुष की एक बड़ी पहिचान है कि वह 'सर्वारम्भपरित्यागी' होता है गीता (१२।१६)।

इस शब्द का अर्थ तो आपाततः यही प्रतीत होता है कि वह सब आरम्भों का अर्थात् कर्मों का परित्याग करनेवाला होता है। ऐसा अर्थ तो प्रतिपादित सिद्धान्त के साथ कभी भी मेल नहीं खा सकता। 'सर्वारम्भ परित्यागी' पुरुष तो निरुद्योगी, आलसी तथा निकम्मा होगा और वह किसी भी समाज का योग्य सभासद नहीं बन सकता। ऐसी दशा में इस विशेषण का कुछ अतिरिक्त आशय होना चाहिए। गीता का स्वारस्य गीता से ही निकलता है, पूर्वापर के चिन्तन से तथा शब्दों के अर्थ-तारतम्य से। गीता ने इस सिद्धान्त का वर्णन ४।१६, १८।२, १८।४८, १८।४६ में किया है, जिसके प्रकाश में इस शब्द का यथार्थ उद्भासित होता है। पण्डित का लक्षण करते हुए गीता कहती है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

—गीता ४।१६

अर्थात्—जिसके सम्पूर्ण कार्य काम तथा संकल्प से रहित होते हैं तथा ज्ञान-रूपी अग्नि द्वारा जिसके कर्म दग्ध हो जाते हैं, वही वस्तुतः 'पण्डित' कहा गया है। यहांपर स्पष्ट ही आरम्भों को काम-संकल्प से वर्जित करने का उपदेश है। इसी श्लोक के प्रकाश में 'सर्वारम्भ परित्यागी' का अर्थ होगा वह व्यक्ति, जो काम्य कर्मों का परित्याग करता है। काम ही मन को विदूषित करनेवाली मनोवृत्ति है। वह मन को अपने चंगुल में करके उसे अस्त-व्यस्त तथा उच्छिन्न मार्ग का पथिक बना देता है। इसलिए काम के निग्रह पर गीता का इतना आग्रह है।

कर्म में एक भयानक विषदन्त है, जिसे तोड़ना नितान्त आवश्यक होता है और वह है फल की आसक्ति। जबतक हम इस आसक्ति को दूर नहीं करते, तबतक कर्म बन्धन से हीन नहीं हो सकता। फलासक्त कर्म बन्धन है और फलासक्ति-रहित कर्म बन्धन-विहीन है। गीता के कर्म-विषयक सिद्धान्त का यही निष्कर्ष है। कर्म से कभी भी हमें छुटकारा नहीं मिल सकता। कर्म तो हमें करना ही पड़ेगा। तब ऐसे ढंग से उसे करना चाहिए कि जिससे वह कभी भी बन्धन उत्पन्न ही न करे। ऐसी दशा में फल की आसक्ति छोड़ने से भिन्न कोई दूसरा मार्ग नहीं है और यह तब

सम्भव है जब कर्म भगवान को अर्पित किये जाते हैं। इस प्रकार पूर्वापर विचार करने से गीता का प्रशस्त कर्म-मार्ग अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे सामने प्रकट हो जाता है। कर्म के विषय में भगवान का यह वाक्य हमारे जीवन का आदर्श होना चाहिए—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥

—गीता ९।२७

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जीव जो भी कर्म करता है, जो कुछ भी खाता है, जो कुछ भी देता है, जो हवन करता है तथा जो तपस्या करता है तथा पुण्य कर्मों का सम्पादन करता है उन सब कर्मों को मुझे समर्पण कर दे। भगवान के समर्पण के द्वारा हम कर्म के फल को बन्धनहीन बना सकते हैं।

कर्म-योग का उपदेश गीता की अपनी विशिष्टता है। गीता की दृष्टि में कर्म का इस प्रकार कुशलता से सम्पादन करना कि वह बन्धन न उत्पन्न करे, 'योग' कहलाता है। '**योगः कर्मसु कौशलम्**' का यही तो तात्पर्य है। साधारण कर्मवाद को कर्म-योग में प्रवर्तित करने के लिए तीन सोपानों की आवश्यकता होती है--

१. फल की आकांक्षा का वर्जन।

२. कर्तृत्व के अभिमान का परित्याग।

३. ईश्वर को कर्म का समर्पण करना।

गीता के अनुसार 'कर्म-योग' की चतुःसूत्री इस प्रसिद्ध श्लोक में निविष्ट की गई है--

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

—गीता २।४७

इस श्लोक के चार पाद चार सूत्रों के समान हैं—

पहले पाद का अर्थ है—तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है।

दूसरे पाद का अर्थ है—फलों में तुम्हारा अधिकार कभी नहीं है।

तीसरे पाद का तात्पर्य है—कर्मों के फल की वासनावाले भी मत बनो।

इसका अर्थ यह है कि पहले दोनों पादों में अधिकार की बात बतलाई गई है कि तुम्हारा अधिकार कर्म में है, कर्म के फल में नहीं है। यहां एक नई बात बताई गई है कि अपने चित्त में कर्म के फल की वासना भी मत रखो, क्योंकि ऐसा करने से भी जीव बन्धन में पड़ता है।

चौथे पाद का अर्थ है—तेरी कर्म न करने में प्रीति न होवे। असली बात यह है कि मनुष्य को कर्मकी ओर प्रवृत्त करानेवाली फल की आकांक्षा ही होती है। खेत के जोतने-बोने से अनाज उत्पन्न होगा और इसीलिए किसान इस काम में प्रवृत्त होता है। जब फल का ही निषेध कर दिया गया, तब साधारण रीति से किसान उस काम से हट जाता है और काम करने से अपना मुंह मोड़ लेता है। वह आलस्य में पड़ जाता है। यही सामान्य ढंग है। इसलिए गीता का उपदेश है कि दोनों छोरों से बचना चाहिए। न तो कर्म के फल में आसक्त होना चाहिए और न अकर्म में ही मन लगाना चाहिए। उसे मध्य मार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिए। यह मध्यम मार्ग है—कर्म प्रेम, श्रद्धा तथा परिश्रम के साथ करना तथा साथ-ही-साथ उससे होनेवाले फल की इच्छा या कामना न करना।

त्याग या संन्यास के विषय में गीता के अनुसार चार मत लक्षित होते हैं—

> **काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।**
> **सर्व कर्म फलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥**
>
> —गीता १८।२
>
> **त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः**
> **यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे॥**
>
> —गीता १८।३

१. पण्डितजन तो काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास जानते हैं। 'काम्य' का अर्थ है कामना या इच्छा की पूर्ति के निमित्त किया गया कर्म। स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति के लिए तथा रोग, संकट, आदि अनर्थों के निवारण के लिए जो यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म किये जाते हैं, उनका नाम काम्य कर्म है।

२. कितने ही विचारशील पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग

कहते हैं। ईश्वर की भक्ति, देवताओं का पूजन, माता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा, यज्ञ, दान और तप, वर्णाश्रम के अनुसार आजीविका द्वारा गृहस्थी का निर्वाह एवं शरीर के भरण-पोषण के लिए खान-पान आदि जितने कर्तव्य-कर्म है, उन सबमें इस लोक परलोक की सम्पूर्ण कामनाओं के त्याग का नाम 'कर्म-फल-त्याग' है।

३. कुछ विद्वानों का मत है कि सभी कर्म दोषयुक्त होते हैं और इससे वे त्यागने योग्य हैं।

४. चौथा मत उन लोगों का है, जो यज्ञ, दान तथा तपरूपी कर्मों के त्याग को अनुचित मानते हैं तथा इनका सम्पादन उचित मानते हैं।

ऐसी परिस्थिति में गीता का निश्चित मत इस श्लोक में निर्दिष्ट किया गया है—

कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

—गीता १८।९

'नियतं कर्म' का अर्थ है, वे कर्म जो स्वधर्म के अनुसार स्थिर कर दिये गए है। वर्ण, आश्रम, स्वभाव तथा परिस्थिति के अनुसार जिस मनुष्य के लिए जो-जो कर्म शास्त्र में आवश्यक कर्तव्य बतलाये गए हैं, उन्हींका नाम यहां 'नियत कर्म' है। इन कर्मों को कर्तव्य-बुद्धि से करना चाहिए अर्थात् ये कर्म-शास्त्र के द्वारा विहित हैं, अतएव अवश्य करणीय हैं; इसी बुद्धि से इन कर्मों का सम्पादन करना चाहिए। साथ-ही-साथ संग तथा फल दो वस्तुओं को भी छोड़ देना चाहिए। गीता में 'संग' शब्द का प्रयोग सदा ही 'आसंग' या आसक्ति के अर्थ में किया गया है। आसक्ति बुरी चीज है। आसक्ति में पड़ा हुआ प्राणी दोषों को कभी नहीं देखता। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह फल को तथा आसक्ति को छोड़कर ही कर्तव्य-बुद्धि से शास्त्रविहित कर्मों का सम्पादन करे। यही सच्चा त्याग है। कर्म के विषय में गीता का यही सर्वमान्य सिद्धान्त है।

गीता में ज्ञान-योग

गीता में ज्ञाननिष्ठा सांख्यनिष्ठा के नाम से अभिहित की गई है। कर्म-

योग और भक्तियोग के समान ही गीता में ज्ञानयोग का स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है। सांख्य भी ज्ञानयोग का प्रतिपादक दर्शन है, परन्तु गीता का ज्ञानयोग उस योग से नितान्त भिन्न है। सांख्य-मत में मोक्ष-प्राप्ति का साधन प्रकृति-पुरुष का विवेक ज्ञान है, परन्तु गीता के अनुसार ज्ञान है आत्मा की एकता का पूर्ण अनुभव। इस ज्ञान की दो दिशाएं हैं—पहली दिशा है आत्मा को सब प्राणियों में देखना। विश्व के सब प्राणियों में एक ही अभिन्न आत्मा वास करता है, यह जानना ज्ञान की एक दिशा है (**सर्वभूतस्थमात्मानम्**)। दूसरी दिशा है—एक ही आत्मा में सब भूतों का प्रत्यक्ष करना (**सर्वभूतानि चात्मनि**)। इन दोनों में पहला ज्ञान तो सुलभ है। वह पण्डितों को सामान्यतः हो जाता है, परन्तु दूसरा ज्ञान तो बड़ा कठिन है, और इसी कठिन ज्ञान को सुलभ बनाने के लिए भगवान् ने अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखलाया। इस रूप का दर्शन इन चर्मचक्षुओं के द्वारा नहीं किया जा सकता। इसीलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने ऐश्वर्यमय रूप को देखने के लिए दिव्यचक्षु दी थी (**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्**)। इस दिव्य चक्षु के सहारे अर्जुन ने देखा एक ही स्थान पर समस्त जगत् को। इस प्रकार अर्जुन को आत्मा के एकत्व का ज्ञान परिपूर्ण हुआ।

गीता शुष्क ज्ञानी को महत्व नहीं देती। ज्ञानी वही सच्चा होता है, जो भगवान् में अनन्य भक्ति रखता है (**तेषां ज्ञानी नित्य युक्त एकभक्तिर्विशिष्यते** ७।१७)। इसीलिए चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी भक्त गीता की दृष्टि से बड़ा ही महनीय होता है। वह तो भगवान् की अपनी ही आत्मा होता है (**ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्** ७।१८)। ज्ञानी भी बहुत-से जन्मों के अन्त में भगवान् को पाता है। वह महात्मा तो बहुत ही दुर्लभ है, जो जगत् के समस्त प्राणियों को 'वासुदेव' या भगवान् का रूप समझे—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

—गीता ७।१९

ज्ञान के द्वारा साधकों के पाप धुल जाते हैं, जिससे उनकी बुद्धि भगवन्मयी हो जाती है (तद्बुद्धयः) उनका चित भगवान में सदा रमण करता है।

(तदात्मानः), उनकी स्थिति भगवान में नित्य रहती है (तन्निष्ठाः), भगवान को ही वे परम आश्रय मानकर उनके शरण में रहते हैं (तत्परायणः) ऐसे ज्ञानी पुरुषों को मोक्ष प्राप्त हो जाता है, जिससे वे संसार में जन्म नहीं लेते—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

—गीता ५।१७

गीता के अनुसार 'समत्व ज्ञान' ही उच्च कोटि का ज्ञान माना गया है और पण्डित—विवेक-बुद्धि से समन्वित प्राणी वही है, जो समत्व में प्रतिष्ठित है 'पण्डित' का लक्षण गीता के इस प्रख्यात श्लोक में इस प्रकार है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डितः समदर्शिनः ॥

—गीता ५।१८

अर्थात् पण्डित वही है, जो विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में, और चाण्डाल में समदर्शी होता है अर्थात् इन विभिन्न पदार्थों के भीतर वह एक ही आत्मा का दर्शन करता है। यह पण्डित ही ज्ञानी का पर्याय है, अर्थात् यह ज्ञानी का ही लक्षण है।

समता ही एकता है और यही परमेश्वर का स्वरूप है। इसमें स्थित हो जाने का ही नाम 'ब्राह्मी स्थिति' है। इस दशा के वर्णन में गीता कहती है कि जो पुरुष प्रिय को पाकर हर्षित नहीं होता और अप्रिय को पाकर उद्विग्न नहीं होता, ऐसा स्थिरबुद्धि और संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्द घन परमात्मा में एकीभाव से स्थित है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥

—गीता ५।२०

जीवन्मुक्त ज्ञानी का यही आदर्श स्वरूप गीता में है।

भक्ति-योग

गीता ने भक्ति को भगवत्प्राप्ति के साधनों में विशेष महत्त्व दिया है।

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार गीता के मध्यषष्ट अर्थात् बीचवाले छः अध्यायों—७ अ० से लेकर १२ अ० तक—में भक्ति का ही साधन रूप में वर्णन किया जाता है। विराट रूप के दर्शन की प्राप्ति किन साधनों से होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने स्पष्ट ही कहा है कि ऐसा रूप देखा जा सकता है न तो वेदों के द्वारा न तपस्या के द्वारा, न दान से और न यज्ञ करने से (११।५३)। इसका सर्वाधिक श्रेष्ठ एक ही उपाय है अनन्या भक्ति—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

—गीता ११।५४

'अनन्या' का तात्पर्य है वह भक्ति जो भगवान् को छोड़कर किसी दूसरे के प्रति नहीं की जाती। इस अनन्या भक्ति के द्वारा विराट रूपी भगवान का ज्ञान, तत्त्वतोदर्शन तथा प्रवेश हो सकता है। इस श्लोक में वर्णित फलों में क्रम विकास बड़े महत्त्व का है—ज्ञान,दर्शन तथा प्रवेश। ज्ञान होने के दशा में साधक ज्ञेय वस्तु को जान तो जरूर लेता है, परन्तु वह उससे बाहर ही रहता है। ज्ञान किसी वस्तु के परोक्ष ज्ञान का सूचक है। इसके आगे होता है—दर्शन। दर्शन के समय ज्ञाता ज्ञेय के सामने खड़ा होता है अर्थात् वह आमने-सामने खड़ा होकर ज्ञेय के रूप को यथार्थ रूप से जान जाता है कि ज्ञेय का स्वरूप कैसा है। इससे आगे की साधन-दशा है प्रवेश की। इस कोटि में साधक इष्ट के भीतर प्रवेश कर उसके साथ एकरूपता धारण कर लेता है। ये तीनों साधना के क्रम हैं, जिनमें से साधना-प्रवृत्त होकर अपनी चरम कृतार्थता प्राप्त करती है। ऊपर के श्लोक का विशद तात्पर्य यही है कि भगवान के ज्ञान में, दर्शन में तथा प्रवेश में अनन्या भक्ति ही एकमात्र साधन है। 'अनन्या भक्ति' का स्वरूप भी गीता इस श्लोक में बतलाती है—

मत्कर्मकृन्मत्परमोमद् भक्तः संगवर्जितः
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

—गीता ११।५५

इसमें भक्ति की अनन्यता के लिए पांच लक्षणों का निर्देश किया गया है—

(१) मत् कर्मकृत् (मेरे लिए कर्मों का करनेवाला)—यज्ञ, तप, दान आदि कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान ऐसी भावना से करना चाहिए कि ये सब कर्म भगवान के हैं।

(२) मत्परमः (मेरा ही आश्रय माननेवाला)—भगवान् ही चरम गति हैं; वे ही आश्रय हैं, साधक के जीवन का संचालन उन्हींके कोमल हाथों में है—ऐसा माननेवाला तथा उनकी प्राप्ति के लिए सन्तत उद्यमी व्यक्ति 'मत्परमः' कहलाता है।

३. मद्भक्तः (मेरी भक्ति करनेवाला)—मानव के हृदय में जितना अनुराग है, जितनी रागात्मिका वृत्ति है, उतनी भगवान में ही लगाना चाहिए।

४. संगवर्जितः (आसक्ति से रहित)—विषयों में आसक्ति रखनेवाला प्राणी सर्वदा बहिर्मुख बना रहता है। वह बाहरी चीजों में ही अपना मन लगाता है। जगत् का प्रपंच ही उसके मन को अपनी ओर खींचे रहता है, परन्तु संगवर्जित व्यक्ति भगवान की ओर अन्तर्मुख होता है।

५. निर्वैरः सर्वभूतेषु (सब प्राणियों में वैर-विरोध से रहित)—वैर प्रेम का विरोधी भाव है। वैर करने वाला क्या प्रेम कर सकता है? प्रेम के लिए हृदय का औदार्य चाहिए; चित्त की कोमलता चाहिए; मन का मार्दव चाहिए। ऐसी वृत्ति धारण करने पर ही प्रेम में गाढ़ता तथा विशुद्धता आती है। इसलिए सब प्राणियों से वैर-–रहित होना भी एक आवश्यक सद्गुण है।

इन्हीं गुणों को धारण करने पर साधक भगवान में 'अनन्या भक्ति' पा सकता है और उस परम दुर्लभ भक्ति का अमृत फल भगवान की सम्यक् उपलब्धि ही है।

शरणागति

गीता में भक्ति-योग का उपदेश निजी विशिष्टता रखता है। इसका एक कारण है। गीता भक्ति-प्रधान ग्रन्थ है तथा वैष्णवधर्म के माननीय आगम ग्रन्थों में अन्यतम है। गीता का आदि तथा अन्त, प्रारम्भ और पर्यवसान भक्ति में ही है। आरम्भ में अर्जुन अपनी दयनीय मानस

स्थिति का वर्णन करते हुए जो प्रार्थना करता है ,उसमें भक्ति की ओर स्पष्ट संकेत है—शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् (२।७)—मैं तुम्हारा शिष्य हूं। मैं तुम्हारी शरण में आया हूं और इसलिए मुझे उपदेश दीजिये कि मैं क्या करूं ? गीता के अन्त में भगवान ने शरणागति का उपदेश दिया है। इस प्रकार शरणागति के ऊपर गीता का विशेष आग्रह दीख पड़ता है। गीता का उपदेश है कि ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित रहता है। वह अपनी माया-शक्ति से यन्त्रारूढ़ प्राणियों को सदा घुमाया करता है अर्थात् यह जीव भगवान के हाथ की कठपुतली है। उसकी इच्छा जिधर होती है उधर ही वह उसे घुमाया करता है। ऐसी दशा में सब भाव से उसकी शरण में जीव को जाना चाहिए। तभी उसे परम शान्ति और शाश्वत पदवी प्राप्त होती है (१८।६१, ६२)। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सब उपदेश देने के बाद 'सर्वगुह्यतम वचन' अर्थात् अत्यन्त रहस्यमय वचन की शिक्षा दी है, जो सन्दर्भ पर विचार करने से गीता का मार्मिक उपदेश प्रतीत होता है। इसी उपदेश से गीता का पर्यवसान होता है।

यह 'गुह्यतमं वचः' क्या है ? शरणागति की शिक्षा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

—गीता १८।६६

भगवान का कथन है, हे जीव, सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरे ही शरण में आ। मैं तुझे सब पापों से छुटकारा दे दूंगा। शोक मत कर। इस शिक्षा में भगवान की शरणागति का परम तत्त्व उपदिष्ट है। 'शरणागति' शब्द दो शब्दों से बना हुआ है—शरण—आगति (शरण में आना, जाना नहीं) साधक को अपने हृदय में टांक लेना चाहिए कि भगवान की शरणागति शरण में आना है, जाना नहीं। इसका गम्भीर तात्पर्य है। भगवान् साधकों के लिए सब कुछ है—माता, पिता, सुहृद, गति भर्ता आदि-आदि (गीता ६।१७, १८)। यह जीव मूल रूप से भगवान के आश्रय में था, सन्निधि में था, उनका सनातन अंश था, परन्तु अज्ञान के वश होकर वह संसार के पचड़े में पड़ा हुआ नाना क्लेश भोग रहा है। भगवान से विमुक्त होने का

यही दण्ड है। फलतः इसे फिर उसी मूल स्थान को लौट जाना चाहिए। तभी इसका कल्याण है। इसी भाव को सूचित करने के लिए 'शरणागति' शब्द में गति से पूर्व 'आ' उपसर्ग लगाया गया है, भगवान की शरणागति में जाना क्या है, अपने असली घर को लौट आना है।

एक बात ध्यान देने की है कि गीता की भक्ति अविवेकपूर्वक की गई अन्धभक्ति नहीं है और न वह अज्ञान-प्रेरित आलस्यमय कर्मत्यागरूप जड़ता है। गीता की भक्ति क्रियात्मक और विवेकपूर्ण है। सच्चा भक्त वही होता है, जो बिना किसी कामना के भगवान् के प्रसन्नार्थ कर्म करता है और साथ-ही-साथ वह ज्ञानी होता है—विवेक-ज्ञान से पूर्ण होता है। गीता के अनुसार चार प्रकार के भक्तों—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी—में ज्ञान सम्पन्न भक्त भगवान की आत्मा है (**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ७।१८**)। इस प्रकार गीता का भक्त निष्काम कर्म तथा ज्ञान से युक्त होता है। केवल भक्ति का वह उपासक नहीं होता।

शरणागति का विवेचन 'अनन्यत्व' की व्याख्या के बिना अधूरा रहेगा, अतः 'अनन्यत्व' का स्वरूप यहां समझना आवश्यक है। श्रुति कहती है—**आनन्दं ब्रह्म**—आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है। परन्तु आनन्द स्वयं आनन्द का उपभोग नहीं कर सकता। आनन्द को आनन्द की प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिए वह आनन्द अपनी प्रतीति के लिए प्रेम-स्वरूप में व्यक्त होता है। इसी व्यक्त रूप का नाम 'जीव' है। प्रेम जब जगत् के आकार का होता है, तब 'जीव' कहलाता है और वही जब मूल आनन्द का स्मरण करने लगता है तब 'परमात्ममय' हो जाता है। जिस प्रकार माता मातृत्व के सुख की इच्छा से स्वयं द्विधाभूत होकर पुत्र के रूप में उत्पन्न होती है और पुत्र के माता कहकर पुकारने से उसे मातृत्व की प्राप्ति होती है; उसी प्रकार आनन्दघन परमात्मा अपने आनन्द की प्रतीति के लिए अपनी स्फूर्ति से द्विधा हो जाते हैं। इस प्रकार द्वैत होने के बाद प्रतीति की क्रिया चालू रहती है। इस प्रतीति की क्रिया में जो घन आनन्द स्फुरित होता है, उसे 'ज्ञानानन्द' या 'चैतन्यानन्द' कहते हैं। यही ज्ञानानन्द व्यक्त होते समय परा वाणी का रूप होकर मन की अवस्था को प्राप्त करता है। यह मन जीव का विकार नहीं है, प्रत्युत ज्ञाना-

नन्द की अभिव्यक्ति का साधन है। इसलिए बृहदारण्यक श्रुति कहती है— **स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म** (अर्थात् आनन्दरूप मन ही सम्राट् परब्रह्म है)। पुनः वही ज्ञानानन्द चित्त, बुद्धि, अहंकार बनकर ज्ञानेन्द्रियों के रूप में प्रकट होता है। मैं (जीव) और तू (परमात्मा) कहने मात्र को दो हैं, परन्तु वास्तव में एक ही परमात्मा है। सूर्य और उसका प्रकाश, चीनी और उसकी मिठास, समुद्र तथा उसके तरंग, सुवर्ण और उसके बने हुए गहने—ये सब कहने को भिन्न होने पर भी वास्तव में एक ही हैं। उसी प्रकार आनन्द और प्रेम, परमात्मा और जीव कहने के लिए भिन्न होने पर भी अनुभव की स्थिति में एक परमात्मा ही है। जीव परमेश्वर से भिन्न या पृथक् न होकर उसके साथ एकत्वापन्न है; यही ज्ञान अनन्यत्व का ज्ञान है। शरणागति के लिए इस ज्ञान की आवश्यकता होती है।

'सर्व-धर्म के परित्याग' का क्या रहस्य है। समस्त इन्द्रियों के धर्म, मन बुद्धि आदि के धर्म, व्यावहारिक धर्म, आचार धर्म आदि अनेक धर्म संसार में दिखलाई पड़ते हैं। इसीसे पाप-पुण्य का, स्वर्ग-नरक का भय जीव को होता रहता है। इस धर्माधर्म का मूल कारण अज्ञान ही है। **वासुदेवः सर्वमिति** की प्रतीति जबतक नहीं होती, तभी तक ये धर्माधर्म सत्य प्रतीत होते हैं और उनसे भय, शोक, हर्ष आदि का होना स्वाभाविक है। रस्सी में सर्प की भ्रान्ति हट जाने पर मनुष्य भय से आक्रान्त नहीं होता, उसी प्रकार अज्ञान से धर्माधर्म की भावना उत्पन्न होती है और उस अज्ञान का त्याग कर देने पर धर्माधर्म बाधक नहीं होते। जिस प्रकार निद्रा के टूटने पर सारा स्वप्न-जगत् विलीन होकर 'केवलोऽहम्' (केवल मैं ही हूं) यह ज्ञान उत्पन्न होता है, इसी प्रकार अनन्यत्व भावना के जागरित होने पर आनन्दघन श्रीहरि विश्व-रूप में प्रकट होते हैं। तब यह अनुभव होने लगता है कि अपने भीतर जो 'मैं' पन है वह भी आनन्दघन प्रभु की ही प्रेम-प्रतीति है। इस अनन्यत्व का ज्ञान हो जाने पर शरणागति आपसे-आप सिद्ध हो जाती है। सच तो यह है कि जीव श्रीहरि से कभी पृथक् हुआ ही नहीं; अतः स्वकर्तव्य द्वारा प्रभु-पद में संलग्न होना शरणागति नहीं है। जीव त्रिकाल में भी प्रभु से अलग नहीं हो सकता और जब प्रभु जीव से अलग नहीं है, तब उनसे मिलना कैसा ? श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने शरणागति के

रहस्य को समझाते हुए कहा है—

> पैं आपुलेनि भेदे बिण। साभें जाणि जे जे एक पण।
> तयाचि नांव शरण। भज येणेंगा॥

अर्थात्—अपनेको भिन्न न समझते हुए, श्रीहरि के साथ अपने एकत्व का बोध रखना और वैसा ही वर्ताव करना वास्तव में श्रीहरि की शरण में आना है।

सोने का कंकण क्या सोने से कभी पृथक् है? जल की तरंग क्या जल से कभी अलग हुई है? नहीं, कभी नहीं। तो फिर उनके लिए सोने तथा जल के शरण में जाना क्या है? सोने और जल से कंकण और तरंग के समान हम परमात्मा से भिन्न नहीं है, हम उनसे अन्य नहीं है, यह जानते हुए वैसा ही वर्ताव करना सच्ची शरणागति है। इस प्रकार सर्वतो भावेन परमात्मा की शरण हो जाने पर जीव-दशा नहीं रहती। जीव की पृथक् सत्ता न होने से प्रभु ही केवल मात्र बच रहते हैं। श्रीहरि के ही अस्तित्व का बोध और उनकी प्रीति ही शरणागत भक्त की भक्ति-भूमिका रह जाती है। निष्कर्ष यह है कि सब अवस्थाओं में प्रभु पूर्ण हैं तथा सब कर्मों में परमात्मा ही व्यक्त हो रहे हैं। इस प्रकार की निश्चित भावना का होना ही सच्ची शरणागति है। इस प्रकार शरणागति अनन्यत्व की भावना के ऊपर आश्रित है।

गीता में सांख्ययोग और कर्मयोग नामक दो ही निष्ठाओं का वर्णन है। भक्ति की तीसरी निष्ठा का क्या स्थान है, गीता की साधना योजना में? इसका उत्तर स्पष्टतः दिया जा सकता है। 'निष्ठा' का अर्थ है परमात्मा के स्वरूप में स्थिति। यह स्थिति दो प्रकार से हो सकती है—भेद-स्थिति और अभेद-स्थिति। क वह स्थिति जो परमेश्वर के स्वरूप में भेद, रूप से होती है यानी परमेश्वर अंशी है और मैं उनका अंश हूं, परमेश्वर सेव्य हैं और मैं उनका सेवक हूं। भेद-स्थिति कहलती है। भगवान की प्रीति की फलासक्ति छोड़कर जो कर्म किये जाते हैं, उनका नाम है निष्काम कर्मयोग निष्ठा। ख ब्रह्म में स्थित रहकर प्रकृति द्वारा होनेवाले समग्रकर्मों को प्रकृति का विस्तार और मात्रामात्र मानकर सच्चिदा नन्दघन के अतिरिक्त कोई भी वस्तु नहीं है, ऐसा मानकर ब्रह्म में जो अभेद स्थिति होती है, उसे

सांख्यनिष्ठा कहते है। भक्ति का पुट दोनों निष्ठाओं में भरा हुआ है। इसलिए भक्तिनिष्ठा को तृतीय निष्ठा के रूप में गीता प्रस्तुत नहीं करती। ईश्वर का सहारा और बल होने से भक्ति मार्ग सुगम है। इसलिए हम लोगों को चाहिए कि भगवद्भक्ति में सतत आसक्त होकर लक्ष्य की ओर अग्रसर हों।

अवतारवाद

भगवद्गीता अवतारवाद का समर्थक नितान्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। भगवान् इस भूतल पर कभी-कभी किसी विशेष प्रयोजन के लिए अवतार ग्रहण करते हैं। इस प्रयोजन का उल्लेख गीता के इस प्रख्यात श्लोक में इस प्रकार है—

> **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत**
> **अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।**
> **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्**
> **धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥**
>
> —गीता ४।७,८

भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं अवतार के तत्त्व को इन श्लोकों में प्रतिपादित किया है। अवतार लेने का समय तब होता है जब धर्म का ह्रास और अधर्म की बढ़ोत्तरी होती है। प्रयोजन है—साधुओं का परित्राण, दुर्जनों का विनाश और धर्म की सम्यक् स्थापना। तथ्य यह है कि इस विश्व में दो शक्तियां अपना प्रभुत्व जमाने के लिए हमेशा संघर्ष किया करती हैं। एक है आसुरी शक्ति और दूसरी है दैवी शक्ति। आसुरी शक्ति तमोगुण की प्रतीक है, तो दैवी शक्ति सत्त्वगुण की प्रतिनिधि है। इन दोनों शक्तियों के अनुसार जीवन यापन करनेवाले व्यक्तियों का विस्तृत वर्णन गीता के १६वें अध्याय में किया गया है। विश्व में क्षण-क्षण पर देवासुर-संग्राम चला करता है। दैवी शक्ति के प्राबल्य तथा आसुरी शक्ति के ह्रास के ऊपर जगत् का संतुलन प्रतिष्ठित है, परन्तु जब आसुरी शक्ति प्रबल बनकर दैवी शक्ति का गला दबोचती है, जिससे सार्वभौम संतुलन में विषमता उत्पन्न होती है, तब भगवान् स्वयं अवतार ग्रहण कर इस विषमता को दूर करते हैं, धर्म की सम्यक् रूप से स्थापना करते हैं, जिससे साधुओं की रक्षा होती है और पापियों का नाश होता है। यही गीता के अनुसार अवतार का अवसर

और प्रयोजन है। भगवान् 'ऋतपति' हैं। ऋत की रक्षा करना उनका निजी काम है। ऋग्वेद में बहुशः वर्णित 'इन्द्रवृत्र' युद्ध का भी यही रहस्य है।

गीता का सुलभ साधन

भगवान् के पाने का सुलभ साधन कौन-सा है ? विचार करने पर भगवान् की शरण में जाने से बढ़कर अन्य कोई साधन है ही नहीं। जो सब शक्तियों का आधार है, जो अघटना को भी घटित कर सकता है, उस परमात्मा की शरण में जाने से दुर्बल आत्मा में अमित बल का संचार हो जाता है। उस मार्ग को पकड़ने पर अनायास ही हम लोग भगवान् के पास पहुंच सकते हैं। गीता का भी तात्पर्य इसी शरणागति में प्रतीत होता है। गीता के नवें अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को वह विद्या बतलाई है, जो सब विद्याओं का राजा है और सब गुह्य बातों में भी गुह्य है। वह है भगवान् को अनन्य भाव से भजना। 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' में अनन्यपद महत्त्व का है। जिसके लिए कोई आधार-आश्रय न हो उनके ऊपर भगवान की दया होती है। जबतक हम जगत् की वस्तुओं का अवलम्बन कर बैठे हुए हैं तबतक भगवान् की दया हो तो कैसे हो ? जब हृदय सबसे विमुख होकर केवल भगवान् ही पर अवलम्बित है, जब जीव कहता है कि हे भगवान्, मुझे किसीका सहारा नहीं, कोई देखभाल करनेवाला नहीं, अन्धकारमयी रजनी में कहीं से भी प्रकाश की झलक नहीं आ रही है, आगे का रास्ता सूझता नहीं, क्या करूं ? कहां जाऊं ? तब भगवान् का आसन डिगने लगता है। भक्त की आर्त पुकार भगवान् के आसन को हिला देती है। परन्तु भक्त 'नित्ययुक्त' होना चाहिए। भगवान् में भक्त की निष्ठा होनी चाहिए। इसी प्रकार अठारहवें अध्याय में भी इसी बात को भगवान् ने गुह्यतम बतलाया है। १८।६४ में गुह्यतम ज्ञान के बतलाने की प्रतिज्ञा है और वह ज्ञान दो पद्यों में है—'मन्मनाभव तथा सर्वधर्मान् परित्यज्य।' इसलिए गीता का तात्पर्य यही शरणागतवाली भक्ति है, पर उस भक्त को ज्ञान-सम्पन्न होना चाहिए **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'** पर लोकसंग्रह के लिए सब कर्मों को करते रहना होगा। अतः गीता के अनुसार भक्ति को प्रधानता दी गई है।

ज्ञान और कर्म का समन्वय भक्ति में है। भक्त ही यथार्थ में ज्ञानी और कर्मयोगी हो सकता है। मेरे विचार से गीता में प्रधान लक्ष्य इसी समन्वय की ओर है, जिसमें भक्ति की प्रधानता बनी रहती है। शुष्क ज्ञान को लेकर हम क्या करेंगे और इसी प्रकार केवल भक्ति से भी हमारा काम नहीं चलेगा। देखने में ये भिन्न-भिन्न दो मार्ग प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुतः इनमें भेद नहीं है।

गीता के तात्पर्य के ऊपर जितना विचार किया जाता है, उतना ही अनन्य भक्ति के द्वारा भगवान् के भजन का ही तात्पर्य निकलता है। भगवान् ने अपने श्रीमुख से यही कहा है कि शास्त्र का ज्ञान,प्रत्यक्षरूप से दर्शन (ग्यारहवां अध्याय), तथा तन्मयता से भगवान् के साथ एकीकरण—इन तीनों बातों की प्राप्ति **अनन्य भक्ति** के द्वारा होती है। (११।५४)। इससे बढ़कर स्पष्ट उक्ति और क्या हो सकती है। भगवान् का सदा स्मरण करते हुए अपने काम में लगे रहना चाहिए, परन्तु सदा अनन्यभाव से। भगवान् से बढ़कर अन्य हमारी गति नहीं है। वही हमारा आधार है। वही, अथर्ववेद के अनुसार, 'स्कम्भ' है। उसीसे यह हमारा जीवन है। नाशवान् पदार्थों में वह स्वयं अनश्वर होकर विद्यमान रहनेवाला है। ऐसे भगवान् के ऊपर अपना सर्वस्व अर्पण कर देना चाहिए। जो हम करते हैं, वह उसका है, क्योंकि वह उसीकी अध्यक्षता में निष्पन्न हुआ है। इस भाव की अहैतुकी भक्ति ही वास्तव में सच्चा अनुराग है। प्रियतम को सर्वस्व मानकर जो अनुराग नहीं किया जाता, वह भला सच्चा अनुराग क्योंकर माना जा सकता है। अतः अनुराग को 'अनन्य' होना ही पड़ेगा। यदि भगवान् से मांगने की प्रवृत्ति बनी रही तो भी वह सच्चा नहीं हो सकता। जब पक्का प्रेम हुआ, तब मांगना क्या? जो अपने हृदय में निवास करता है, जो हृदय की बातों से सर्वथा परिचित है, उससे कुछ कहना या मांगना उसकी सर्वज्ञता का अनादर करना है और अपनी तुच्छता को प्रकट करना है। अतः भगवान् से मांगने की प्रवृत्ति बड़ी बुरी है। यह तो लेन-देन का व्यापार बनियापन हुआ। बनिक-वृत्ति में साधुता के संसार की प्रिय वस्तुओं से अपने चित्त को समेट भगवान् के चरण में लगा देना ही मनुष्य का काम है। यही अनन्य भजन हुआ। पर बिना सात्त्विकी श्रद्धा तथा दैवी सम्पत्ति के पाये

यह हो नहीं सकता। अतः भगवद्भक्ति के लिए अभय, सत्त्वशुद्धि आदि सद्गुणों का उपार्जन करना नितान्त आवश्यक है। यह भी सात्त्विकी श्रद्धा से ही उत्पन्न हो सकते हैं, अतः दैवी सम्पत्ति को पाकर कर्मयोग तथा ज्ञान में लगकर अनन्य भक्ति करना ही गीता का तात्पर्य प्रतीत होता है।

ज्ञान और भक्ति में कुछ लोग अन्तर बतलाते हैं और एक को दूसरे का प्रतिबन्धक समझते हैं। पर बात ठीक इसके विपरीत है। जबतक ज्ञान नहीं तबतक भक्ति सच्ची नहीं होती। जिस व्यक्ति के रूप को अवलोकन का अवसर ही नहीं मिला है, भला उससे हम प्रेम क्यों कर सकते हैं। अनुराग करने के लिए यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति को हम सब प्रकार से जानें, उससे परिचित हो जायं, उसके भीतरी तथा बाहरी तत्त्वों से हम अवगत हो जायं। अतः ज्ञान होने पर ही सच्चे अनुराग का उदय होता है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध भी कितना सुन्दर है। बिना भक्ति के ज्ञान नीरस है और बिना ज्ञान के भक्ति अंधी है। अतः इनकी जुगल जोड़ी ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। ज्ञानी भक्त को पहला दर्जा देकर इस बात की पुष्टि की गई है। ज्ञान से सम्पन्न भक्त ही तो सच्चा भक्त हो सकता है। भक्त ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकता और न ज्ञानी को भक्ति की उपेक्षा करनी चाहिए।

आदर्श मानव

गीता के अनुसार जीवन का आदर्श क्या है? आदर्श मानव कैसा होता है? वह जो घरबार छोड़कर जंगल में भागकर आरण्य की शरण लेता है अथवा वह जो इस संसार में विषम स्थितियों के ऊपर अपना प्रभुत्व जमाकर जीवन को आगे बढ़ाता है? इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। परन्तु तथ्य तो यह है कि गीता व्यवहार-शास्त्र है, जो अध्यात्म-ज्ञान की दृढ़ भूमि पर अवस्थित है। इसीलिए गीता की पुष्पिका में '**ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे**' ये दो महत्त्व के शब्द मिलते हैं। यह योगशास्त्र है—कर्तव्य-शास्त्र है, जो अपने खड़े होने के लिए ब्रह्मविद्या के दृढ़ आधार पर आश्रित है। गीता का सारांश कहीं श्लोक में, कहीं श्लोक के अर्धभाग में और कहीं श्लोक के चतुर्थ भाग में ही उद्घोषित किया गया है। इस श्लोक में गीता

का तात्पर्य निविष्ट है—

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
>
> —गीता १८।४६

अर्थात्—जिससे प्राणियों की प्रवृत्ति हुई कि वे अपने विशिष्ट कर्मों में लगें तथा जिससे यह समस्त विश्व रचित है, उस भगवान को अपने कर्म से पूजा कर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। इस श्लोक के अनुसार सिद्धि लाभ का एक ही मार्ग है भगवान् की अर्चना और वह सिद्ध होती है 'स्वकर्म' की उपासना से। फलतः मानव को चाहिए कि वह अपने वर्णाश्रम के द्वारा नियत कर्मों का सम्पादन करे, उनके फलों को भगवान् के चरणों में अर्पित करे और इस प्रकार उसे अपने जीवन में सिद्धि अवश्यमेव प्राप्त होती है। इस प्रकार स्वकर्म से भगवद्‌चर्चा और भगवद्‌चर्चा से सिद्धि-लाभ यह साधना का व्यावहारिक पक्ष गीता को अभीष्ट है। 'मामनुस्मर युध्य च' (मुझे सन्तत स्मरण करते हुए युद्ध करो, जीवन संग्राम में अपनी विरुद्ध शक्तियों से)—इसका भी आशय यही है। इस प्रकार गीता संसार से भागने का उपदेश नहीं देती,प्रत्युत संसार में डटकर खड़ा होने, अपनी विषम परिस्थितियों से जूझने तथा अन्त में विजय पाने की उदात्तशिक्षा गीता हमें सर्वदा देती है। इसलिए गीता का आकर्षण सार्वभौम है तथा सार्वकालिक है—सब समयों के लिए, सब परिस्थितियों के लिए, सब मानवों के लिए इसका उपदेश समान रूप से उपयोगी है।

गीता ने आदर्श मानव का वर्णन तीन स्थलों पर किया है—स्थितप्रज्ञ (द्वितीय अध्याय ५५-७२), भक्त (१२।१३-१९) तथा गुणातीत (१४।२१-२७)। ये तीनों वर्णन एक समान है—इनमें समरसता है। यही गीताभिमत जीवन्मुक्त का भी लक्षण है। आदर्श मानव सब प्राणियों से मित्रता करनेवाला, अद्वेष्टा, करुण, ममता तथा अहंकार से हीन, दुःख और सुख को समान माननेवाला तथा क्षमाशील होता है। वह न हर्ष के वश में जाता है और न द्वेष के; न शोक करता है और न आकांक्षा रखता है। वह शुभ तथा अशुभ कर्मों के फल का त्याग करनेवाला होता है। 'स्थित-प्रज्ञ' का मान्य लक्षण यह है—

दुःखेष्वनुद्विग्न मनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभय क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

—गीता २।५६

अर्थात्––वह दुःखों से कभी उद्विग्न नहीं होता। सुखों में स्पृहा नहीं रखता। राग, भय तथा क्रोध से विरहित होता है। यही मननशील व्यक्ति 'स्थितधी', 'स्थितप्रज्ञ' 'स्थिरधी' आदि नाना नामों से अभिहित किया जाता है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

—गीता १२।१३

गीता की दृष्टि में ऐसा ही मानव जगत् का उपकार करनेवाला तथा स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय कर जीवन की लक्ष्य सिद्धि करनेवाला होता है।

खण्ड २
वेदबाह्य दर्शन

१. चार्वाक-दर्शन
२. जैन-दर्शन
३. बौद्ध-दर्शन

: १ :

चार्वाक-दर्शन

उपनिषदों के प्रादुर्भाव के अनन्तर तथा महाभारत के पूर्व भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान के इतिहास में एक विचित्र युग आरम्भ होता है, जिसमें आध्यात्मिक विचारों के प्रति जनसाधारण में अविश्वास का उदय होता है। चार्वाक-दर्शन का प्रादुर्भाव इसी युग से सम्बन्ध रखता है।

चार्वाक प्राचीन भारत का भौतिकवादी तत्त्वज्ञानी है। उसकी दृष्टि में भूत ही मौलिक तत्त्व है। आंखों से जितना दिखलाई पड़ता है, उतना ही संसार है। सत्यता की कसौटी इन्द्रियगोचरता है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जिन बातों का अनुभव हमें होता है, वे ही वस्तुएं सत्य हैं। उनसे अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं। आत्मा के विषय में भी इनकी दृष्टि अत्यन्त स्थूल है। आत्मा का ज्ञान होने पर ही दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति होती है, परन्तु आत्मा है क्या ? इस विषय की खोज इन लोगों ने अपनी दृष्टि से की है। ये शरीर को ही आत्मा मानते हैं। दर्शन के विकास में यह अत्यन्त स्थूलतम दृष्टि है। जीवन के विकास में एक निम्नतर स्तर ऐसा होता है कि बुद्धि स्थूल विषय को ही ग्रहण करने में समर्थ होती है और उस बुद्धि से ही 'आत्मा' की खोज कर ये लोग सुख की प्राप्ति के लिए चिन्तित होते हैं। दर्शन के विकास का यह निम्नतम स्तर है, जहां से भारतीय दर्शन आरम्भ होकर अद्वैत वेदान्त के उच्चतम शिखर पर धीरे-धीरे चढ़ता जाता है। 'चार्वाक दर्शन' इसी दशा का परिचायक है।

'चार्वाक' शब्द का अर्थ

इस दर्शन का नाम 'चार्वाक' है। इस नाम की व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से की है। इस मत के 'चार्वी' नामक आचार्य

का उल्लेख काशिकावृत्ति में किया गया है—**नयते चार्वी लोकायते**—अर्थात् लोकायत शास्त्र में चार्वी नामक आचार्य पदार्थों की व्याख्या करता है। 'चार्वाक' नामक किसी प्राचीन ऋषि ने, जो आचार्य बृहस्पति के शिष्य थे, इस दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। 'चारु वाक्' (मिठ-बोला) से भी 'चार्वाक' शब्द की निष्पत्ति कुछ लोग मानते हैं। इस मत वालों का उपदेश था—खाओ पीओ और मौज उड़ाओ। इन मीठे वचनों के कारण भी 'चार्वाक' नाम पड़ना कुछ आश्चर्यजनक नहीं है।

लोकायत

इस मत का नाम 'लोकायत' भी था और इस नाम से ही यह दर्शन वाल्मीकीय रामायण में (अयोध्या-काण्ड, अध्याय १०२) निर्दिष्ट किया गया है। 'लोकायत' के ज्ञाता लोग 'लोकायतिक' कहे गये हैं, जो अपनेको बड़ा ही पण्डित समझते हैं, परन्तु जो बाल-बुद्धि होते हैं और अनर्थ करने में ही दक्ष होते हैं। ये धर्मशास्त्र का निरादर कर अपनी तार्किक बुद्धि से निरर्थक बातें कहते हैं।

कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डित मानिनः॥
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते॥

—**अयोध्या-काण्ड,** १०२।३८-३९

'लोकायत' का अर्थ है—लोक में आयत या व्याप्त सिद्धान्त अर्थात् वह सिद्धान्त जो लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध है, परन्तु तार्किक विचार से रहित है, वह 'लोकायत है। इसके आद्य प्रवर्तक 'बृहस्पति' नामक कोई आचार्य थे और उनके नाम पर यह दर्शन 'बार्हस्पत्य दर्शन' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इन सब अभिधानों में 'चार्वाक' नाम ही इसका अत्यन्त प्रख्यात है।

चार्वाक ग्रन्थ

चार्वाक-मत की जानकारी के लिए अनेक दर्शन के ग्रन्थों में सामग्री उपलब्ध होती है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्तों के

निर्णय करने से पूर्व चर्वाक मत का निर्देश कर खण्डन किया है। इन्हीं उल्लेखों के आधार पर इस मत का स्वरूप तथा सिद्धान्त खड़ा किया जा सकता है। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य (३।३।५३-५४ सूत्रों पर) कमलशील कृत 'तत्त्वसंग्रह-पंजिका,' 'विवरण-प्रमेय संग्रह,' 'न्यायमंजरी,' 'सर्वसिद्धान्त संग्रह,' 'सर्वदर्शन संग्रह' (प्रथम परिच्छेद), 'नैषधीय चरित' (१७वां सर्ग) आदि ग्रन्थों के अध्ययन से चार्वाकों के सिद्धान्त निःसन्देह जाने जाते हैं। इन वर्णनों में एक ही त्रुटि है कि ये ग्रन्थ चार्वाक-सिद्धान्त का प्रतिपादन पूर्वपक्ष की दृष्टि से करते हैं। सम्भवतः भट्ट जयराशि विरचित 'तत्त्वोपप्लवसिंह' ही प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें इस मत का सैद्धान्तिक विवेचन उत्तर पक्ष के रूप में किया गया है। इस नास्तिक मत के संस्थापक 'बृहस्पति' के द्वारा रचित कतिपय सूत्र भी पूर्वोक्त ग्रन्थों में तथा अन्यत्र भी उद्धृत किये गए हैं। ये सूत्र संख्या में बीस से अधिक नहीं हैं. परन्तु इनमें चार्वाकों के मूल सिद्धान्त संक्षेप में बड़ी सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किये गए हैं। ये सूत्र 'बार्हस्पत्य सूत्र' के नाम से प्रख्यात हैं। इन सूत्रों के अनुशीलन से भी इस दर्शन के सिद्धान्तों की रूपरेखा सहज में खड़ी की जा सकती है। यहां इन सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है, जिससे पाठक चार्वाक-दर्शन के तथ्यों को उनके मान्य आचार्य के मूल शब्दों में ही सरलता से समझ जायं।

तत्त्व-मीमांसा

अथातः तत्त्वं व्याख्यास्यामः।

अब इसलिए तत्त्वों की व्याख्या हम करेंगे।

व्याख्या—'बार्हस्पत्य' सूत्रों में यह पहला सूत्र है, जिसमें तत्त्वों की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की गई है। 'अतः' पद प्रयोजन का सूचक है अर्थात् दुःखों से छुटकारा पाने के लिए तत्त्वों की जानकारी आवश्यक होती है। इसी अभिप्राय से तत्त्वों का व्याख्यान यहां किया जा रहा है।

पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि।

तत्त्व संख्या में चार ही होते हैं—(क) पृथ्वी, (ख) जल, (ग) तेज तथा (घ) वायु।

व्याख्या—इन चार तत्त्वों का उपादान ग्रहण कर यह जगत्, हमारा

शरीर, समस्त भौतिक पदार्थों का निर्माण किया गया है। बौद्धों के समान चार्वाक भी 'आकाश' को पदार्थ नहीं मानता। आवरणाभाव मात्र होने से आकाश शून्य ही है, ये ही चारों पदार्थ अपनी आणविक अवस्था में जगत् के मूल कारण हैं। प्रश्न यह है कि यह सृष्टि होती कैसे है ? चार्वाक न तो ईश्वर को मानता है, जो जगत् के निर्माण का कार्य करता है (न्याय मत में), और न वह 'अदृष्ट' ही मानता है, जिसके कारण परमाणुओं में कम्पन तथा परस्पर-मिलन की क्रिया सम्पन्न होती है (वैशेषिक मत में)। उसकी मान्यता यह है कि इन परमाणुओं में अकस्मात् सम्मिलित होने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है, जिससे वे आपस में मिलकर इस विराट विश्व के निर्माण में सफल होते हैं। ये परमाणु क्यों मिलते हैं ? कैसे मिलते हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर एक दुरूह पहेली है, जिसे कोई भी नहीं जानता।

आकाश को चार्वाक लोग 'भूतवैरल्य' के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। 'भूतवैरल्य' का अर्थ है भौतिक कणों की विरलता। कहने का तात्पर्य है कि जहां भौतिक कणों का घनीभाव होता है वहां आकाश की प्रतीति नहीं होती। आकाश के विषय में दो वस्तुएं प्रतीत होती हैं--एक भौतिक कणों का अभाव और दूसरा उनका वैरल्य अर्थात् विरलता। पहला मत इसलिए ठीक नहीं है कि भौतिक कणों का अभाव मानना कथमपि युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता। फलतः कणों की विरलता मानना ही उचित प्रतीत होता है। चार्वाकों के भीतर एक सम्प्रदाय ऐसा ही बतलाया जाता है, जो अन्य दार्शनिकों के समान आकाश को भी एक विशिष्ट तत्त्व स्वीकार करता था। परन्तु इस मत पर विद्वानों को आस्था नहीं। इसलिए चार्वाक का अपना विशिष्ट मत यही है कि मूल जगत् के चार ही तत्त्व वर्तमान हैं। इसी प्रकार अन्य दार्शनिकों के द्वारा मान्यता दिये गए दिक्, काल, मन आदि पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता चार्वाकों को मान्य नहीं है। चार्वाकों का इस सिद्धान्त पर आग्रह विशेष रूप से जागरूक है।

तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय विषय संज्ञा।

इन्हीं तत्त्वों के समुदाय में शरीर, इन्द्रिय और विषय ऐसा नामकरण किया जाता है।

व्याख्या--आशय यह है कि शरीर, इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय)

तथा विषय (इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जानेवाले रूप, रस, स्पर्श, गन्ध तथा शब्द)——इनकी उत्पत्ति भूतचतुष्टय के संयोग से होती है। इन भूतों के अणु एक दूसरे के साथ मिलकर इन वस्तुओं का निर्माण करते हैं। इनमें संयोजन या सम्मिश्रण की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है और इसीलिए इन उत्पन्न वस्तुओं के गुणों में अन्तर मिलता है।

तेभ्यश्चैतन्यम् ।

इन्हींसे, पूर्वोक्त चारों पदार्थों से, चैतन्य उत्पन्न होता है।

व्याख्या—हमारे शरीर में पृथ्वी, जल आदि पदार्थों के अतिरिक्त 'चैतन्य' भी विद्यमान है। हम चेतन हैं। वस्तुओं का हम अपनी इन्द्रियों से बोध इसी कारण कर सकते हैं कि हम चेतन हैं। यह समस्या चार्वाकों के सामने थी——'चैतन्य' का उदय क्योंकर होता है? पृथ्वी आदि चारों पदार्थों के अणु तो जड़ हैं; इन जड़ पदार्थों से चैतन्य का उदय शरीर में किस प्रकार होता है। इसके उत्तर में बृहस्पति का कथन है कि 'चैतन्य' कोई नवीन तथा स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, प्रत्युत इन्हीं चारों तत्त्वों के किसी विशेष मिश्रण से या संघटन से चैतन्य आप-से-आप उत्पन्न हो जाता है। इस विषय में चार्वाक अगले सूत्र के लौकिक दृष्टान्त प्रस्तुत करता है।

किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् विज्ञानम् (पाठान्तर—**चैतन्यम्**)

किण्व आदिकों के द्वारा मदशक्ति के समान विज्ञान या चैतन्य उत्पन्न होता है।

व्याख्या——'किण्व' किसी पौधे का बीज होता था, जिसका उपयोग प्राचीन काल में शराब बनाने के लिए किया जाता था। 'किण्व' के डालने से वस्तु शराब के रूप में बदल जाती थी। उसमें पागल बनाने की शक्ति, मतवाला बनाने की क्षमता आ जाती थी। मदशक्ति एक नई वस्तु होती है, जो स्वतः उत्पन्न हो जाती है। आदि पद से ताम्बूल का दृष्टान्त समझना चाहिए। चूना, खैर, सुपारी, पान-ताम्बूल के विश्लेषण करने पर ये ही तो चार वस्तुएं प्रकट होती हैं। पान के खाने से मुंह में लाली उत्पन्न हो जाती है। यह लाली आई कहां से? यह न तो सफेद चूने में, न धूसर रंगवाले खैर (कत्था) में, न सुपारी में और न हरे पान के पत्ते में। व्यवहार यही कहता है कि इन चारों वस्तुओं के विशिष्ट मिश्रण से ही लाली आप-से-आप

पैदा हो जाती है। इन चारों का मिश्रण एक विशिष्ट मात्रा में होना; चाहिए लालिमा स्वतः उत्पन्न हो जायगी। चैतन्य के उदय की भी यही दशा है। पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु—इन चारों तत्त्वों को एक साथ एक विशिष्ट मात्रा में संगठित करने पर शरीर में चैतन्य का उदय स्वतः, बिना किसी परिश्रम के, हो जाता है। ताम्बूल का दृष्टान्त शंकराचार्य ने अपने 'सर्व-सिद्धान्त संग्रह' में चार्वाक मत की व्याख्या में दिया है—

जड़भूत विकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूल-पूग-चूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम्॥

—सर्वसिद्धान्त संग्रह २।७

भूतान्येव चेतयन्ते।

अर्थात्—ऊपर वर्णित चारों भूत ही चैतन्य उत्पन्न करते हैं। 'चैतन्य' कोई पृथक् सिद्ध वस्तु नहीं, प्रत्युत तत्त्वों का ही एक विकार है।

चैतन्य विशिष्टः कायः पुरुषः।

इस सूत्र में 'आत्मा' का चार्वाकी लक्षण दिया गया है। चेतनता से युक्त स्थूल शरीर ही पुरुष या आत्मा है। चार्वाकों का यह सूत्र बड़ा ही प्रख्यात बहुश, उल्लिखित तथा तथ्य-प्रतिपादक है। चार्वाक लोग शरीर से अतिरिक्त 'आत्मा' नामक कोई पृथक् तत्त्व नहीं मानते। आत्मा चेतन होता है, इसे तो वे मानते हैं, परन्तु इस चैतन्य की अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से ही होती है अर्थात् शरीर को छोड़कर क्या चैतन्य कहीं अन्यत्र देखा जा सकता है? कहीं नहीं। ऐसी दशा में चैतन्य से विशिष्ट यह भौतिक पिण्ड, स्थूल शरीर ही उनकी दृष्टि में 'आत्मा' है। यह भौतिकवाद का मौलिक सिद्धान्त है और इसीके ऊपर चार्वाकों की आचार-मीमांसा आश्रित है।

जलबुद्बुदवज्जीवाः।

जल के ऊपर जिस प्रकार बुद्बुद उत्पन्न होते हैं, एक-दो क्षण तक टिकते हैं और फिर उसी जल में विलीन हो जाते हैं, जीवों की भी यही दशा है। जीव अनित्य होता है। कतिपय क्षणों तक वह टिकता है और फिर वह यहीं विलीन हो जाता है। जीव को नित्य माननेवाले दार्शनिकों के मत पर यह दण्ड-प्रहार है। दूसरे दार्शनिक लोग जीव को नित्य मानकर उसे सुख पहुंचाने के लिए पुण्य अर्जन करनेवाले सत्कर्मों का उपदेश देते हैं, परन्तु

चार्वाकों की दृष्टि में यह एकदम असंगत बात है। क्षणिक जीव के कल्याण के लिए दूसरे लोक में सुख देनेवाले पुण्यसंचार की आवश्यकता ही क्या है? यह पानी के बुलबुलों की तरह यहीं आता और चला जाता है।

परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः।

परलोक में रहनेवाले के अभाव में परलोक का ही अभाव है।

व्याख्या—यह सूत्र चार्वाकों के परलोक विषयक तथ्य का प्रतिपादक है। नियम यह है कि रहनेवाले की सत्ता होने पर ही कोई लोक माना जा सकता है। परलोक में यदि कोई जानेवाला तथा वहां निवास करनेवाला हो तो उस लोक की सत्ता मानी जाय। दूसरे दार्शनिक मानते हैं कि देहपात होने पर नित्य आत्मा अपने किये गए कर्मों के फल भोगने के लिए परलोक में जाता है; वहीं वह सत्कर्मों का पुण्य भोगता है अथवा दुष्कर्मों का पाप या क्लेश भोगता है। चार्वाक ऐसा नहीं मानता। आत्मा ही क्या है? चैतन्य-विशिष्ट यह स्थूल देह ही तो आत्मा है। फलतः इस देह के नाश हो जाने पर आत्मा का भी नाश सिद्ध हो जाता है। जब आत्मा ही नहीं है, तब परलोक जायगा ही कौन? यदि नहीं, तो वहां रहनेवाला ही कौन है? फलतः परलोक का अस्तित्व ही नहीं है। वह केवल लोगों को भ्रम में डालकर ठगने का एक ढोंग ही है।

मरणमेव अपवर्गः।

मरण ही मोक्ष है।

व्याख्या—यह सूत्र चार्वाकों के मोक्ष-सिद्धान्त का द्योतक है। मोक्ष का अर्थ है मुक्ति। किससे? दुःखों से? दुःखों का ज्ञान हमें शरीर के द्वारा ही होता है। पैर में कांटे चुभते हैं; कलम बनाते समय चाकू से हमारी अंगुली कट जाती है; पीठ में जहरीले कीड़े के काटने से फोड़ा पैदा होता है, जो हमें दर्द के मारे बेचैन किया करता है; चिन्ता के कारण हमें नींद नहीं आती और करवटें बदलते रातें बीत जाती हैं—यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है। इसलिए शरीर को 'भोगायतन' (भोगों का घर) कहते हैं। फल यह है कि शरीर के होने तक ही क्लेश रहते हैं। शरीर के नाश हो जाने पर क्लेश आप-से-आप नष्ट हो जाते हैं। इसलिए चार्वाक के अनुसार मुक्ति मरण का ही दूसरा नाम है। मरण होते ही, शरीर छूटते ही,

सदा के लिए दुःखों से सम्बन्ध छूट जाता है और यही तो मुक्ति है।

धूर्त प्रलापस्त्रयी स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात्।

स्वर्गसुख को उत्पन्न बतलानेवाले तीनों वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद) धूर्तों का बकवास है, क्योंकि स्वर्ग का सुख संसार में होनेवाले सुख की अपेक्षा कोई विशिष्टता नहीं रखता।

व्याख्या——चार्वाक स्वर्ग को नहीं मानते। स्वर्ग की सत्ता ही असिद्ध है। क्यों? स्वर्ग की परिभाषा अन्यत्र दी गई है——

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
.... तत् सुखं स्वः पदास्पदम्॥

इसका अर्थ है कि जिस सुख में दुःख का थोड़ा भी मिश्रण नहीं रहता अर्थात् जो अमिश्रित सौख्य ही रहता है और आगे चलकर जो दुःख के द्वारा दबाया न जा सके और जो बहुत दिनों तक स्थिर तथा टिकनेवाला होता है, वह 'स्वर्ग' के नाम से प्रसिद्ध है। इसपर चार्वाक का कहना है कि स्वर्ग-सुख लौकिक सुख की अपेक्षा कथमपि विशिष्ट या बड़ा नहीं है। दोनों की एक ही कोटि या रीति है। लौकिक सुख का मजा ले लेने पर मनुष्य के लिए क्या बाकी रह जाता है कि वह स्वर्ग के सुख के वास्ते लालायित बना रहे। विशिष्ट पदार्थ में प्राणी की अभिलाषा होती है; सामान्य में नहीं। फलतः लोक-सामान्य होने से स्वर्ग की सत्ता मिथ्या है, झूठी है।

कौन स्वर्ग का अस्तित्व बतलाता है? किसने स्वर्ग को देखा है? उस लोक से लौटकर इसकी खबर देने के लिए भला कोई लौटकर आया है कि स्वर्ग में विश्वास हम करें? यह तो गप्प है श्रोत्रियों का।

वेद धूर्तों का प्रलाप है

व्याख्या——वेद के विषय में चार्वाकों की यह बड़ी ही प्रख्यात मान्यता है। स्वर्ग के निराकरण का पहला कारण तो ऊपर दिखलाया ही गया है कि स्वर्गीय सुख तथा पार्थिव सुख में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। दोनों की कोटि एक ही है। दूसरा कारण यह है कि स्वर्ग का प्रत्यक्ष किसी इन्द्रिय के द्वारा नहीं किया जा सकता। वेद का ही वचन है—**स्वर्गकामो यजेत्** अर्थात स्वर्ग की कामना करनेवाला पुरुष यज्ञ करे। यज्ञ साधन है और स्वर्ग

साध्य। इस प्रकार वेद के द्वारा प्रतिपादित किये जाने के कारण स्वर्ग के अस्तित्व में विश्वास करना न्याय्य है। वेद को आस्तिक तत्त्वज्ञानी ईश्वर की साक्षात् वाणी मानता है, जिसमें सन्देह करने की, ननु नच करने की, तनिक भी गुंजाइश नहीं है। ऋषियों के प्रातिभ चक्षु के द्वारा उन्मीलित तत्त्वों का समूह ही वेद पदवाच्य है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

अर्थात्—प्रत्यक्ष या अनुमति के द्वारा जिस अलौकिक उपाय का ज्ञान हमें नहीं, कथमपि नहीं, हो सकता, उस उपाय को हम वेद के द्वारा जानते हैं। यही तो वेद का वेदत्व है अलौकिक उपाय का बोधन। वेद का स्वतः प्रामाण्य है यह मत चार्वाकों को अभीष्ट नहीं। वह वेद को धूर्तों का प्रलाप मानता है, अर्थात् संसार को ठगने के लिए ही कतिपय व्यक्तियों ने इन ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इस प्रकार जब वेद ही धूर्तों का बकवास है, तब उनके द्वारा निर्दिष्ट यज्ञ, उपवास, व्रत, तप, स्वर्ग, नरक आदि-आदि अलौकिक बातें स्वयं ही बालू की भीत के समान भूमिसात् हो जाती हैं।

प्रमाणमीमांसा

प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्।

प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। इस सूत्र में 'एव' पद दृढ़ता और अवधारण के निमित्त है। चार्वाक-दृष्टि में प्रत्यक्ष ही अकेला प्रमाण है। अन्य प्रमाण जैसे अनुमान, उपमान, शब्द आदि की सत्ता नहीं हैं। भौतिकवादी चार्वाक के मूल सिद्धान्त के अनुकूल ही यह मत है कि इन्द्रियगोचरता ही सत्यता की कसौटी है। इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ भी गम्य है, बोध्य है, ज्ञेय है वही सच्चा है, प्रामाणिक है, मान्य है तथा विश्वासार्ह है।

अनुमान कदापि विश्वास योग्य नहीं है। अनुमान में होता है क्या? दृष्ट तथा अनुभूत नियम के आधार पर किसी अदृष्ट तथा अननुभूत वस्तु की सत्ता का हम अनुमान लगाते हैं। पाकशाला का हमारा दैनंदिन अनुभव है कि धूम को देखकर हम आग के होने का अनुमान लगाते हैं। यह हमारा दृष्ट ज्ञान है। इसीके आधार पर हम किसी पर्वत में भी अग्नि की सत्ता का अनुमान करते हैं, जब हम उससे एक अविच्छिन्न धूम-रेखा को

निकलते हुए पाते हैं। इसीमें चार्वाक को शंका है। 'जहां धूम है, वहां अग्नि है'—इस साहचर्य नियम (या व्याप्ति) में हम पक्का विश्वास कैसे करें। हम विशिष्ट अग्नि को विशिष्ट धूम के साथ सम्बद्ध अनेक स्थलों पर अवश्य पाते हैं, परन्तु इतने से ही हम सामान्य अग्नि को सामान्य धूम के साथ सम्बद्ध बतलाने के अधिकारी नहीं है। अनेक दृष्ट स्थलों पर, लाखों उदाहरणों में सही, धूम और अग्नि का साहचर्य नियम है, परन्तु इसका हमारे पास क्या प्रमाण है कि आज भी वर्तमान काल में भी, सब स्थलों पर यह नियम वैसा ही रहेगा। यह तो अंधेरे में कूदने से अधिक महत्त्व नहीं रखता। अनुमान पर आश्रित होने से 'उपमान' भी असिद्ध है। 'धूर्त प्रलाप' होने से वेद भी श्रद्धा और विश्वास का पात्र नहीं है। इसलिए प्रत्यक्ष ही केवल प्रमाण है और इस प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत सत्य ही एकमात्र सत्य है।

शब्द की असिद्धि

वेद को न माननेवाले जैन और बौद्ध-दर्शनों में 'शब्द' प्रमाण माना जाता है। तीर्थंकर के वचन-समूह 'अंग' के नाम से प्रख्यात हैं और इनकी मान्यता जैन-समाज में सर्वतः सिद्ध है, विशेषतः श्वेताम्बर मत में। बौद्ध-दर्शन में 'त्रिपिटक'—सुत्तपिटक, विनयपिटक तथा अभिधम्म पिटक—बुद्ध-वचन होने से मान्य, सत्य तथा प्रमाणभूत माने जाते हैं। परन्तु चार्वाक 'शब्द' को प्रमाण नहीं मानता। 'शब्द' का लक्षण है—आप्तोपदेशः शब्दः (हितोपदेष्टा आप्तव्यक्ति का उपदेश शब्द कहलाता है।) इस लक्षण के विषय में चार्वाक का कथन है कि यह लक्षण ठीक होने पर भी 'शब्द' की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती, कारण कि आप्त पुरुष के वचनों को सुनने से जो अर्थ-ज्ञान होता है, वह तो प्रत्यक्ष ही हुआ; उसके लिए एक स्वतन्त्र प्रमाण की कल्पना नितान्त असिद्ध है। रही वेद की प्रामाणिकता स्वतन्त्र रूप से। वह तो उसे मान्य नहीं है। अनर्थक शब्दों के प्रयोग करने से, परस्पर विरोधी तथा घृणित कार्यकलाप (जैसे यज्ञ, अश्वमेध आदि) के प्रतिपादन से तथा अप्रत्यक्ष पदार्थों (जैसे स्वर्ग, नरक आदि) की कल्पना करने से वेद प्रमाण के बाहर है। ऊपर के सूत्र में 'धूर्तप्रलापस्त्रयी' के समान ही चार्वाकों का यह श्लोक 'सर्वदर्शनसंग्रह' में उद्धृत किया गया है—

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्फरी तुर्फरीत्यादी पण्डितानां वचः स्मृतम्॥

आचार-मीमांसा

अबतक चार्वाकों की पदार्थ-मीमांसा और प्रमाण-मीमांसा का विवेचन किया गया है। आचार-मीमांसा के विषय में इनके दो सूत्र मिलते हैं—

कामः एव एकः पुरुषार्थः। तदुपयोगित्वात् अर्थोऽपि अर्थकामौ पुरुषार्थौ।

'काम' ही प्रधान पुरुषार्थ है और उसमें उपयोगी होने के कारण 'अर्थ' भी पुरुषार्थ माना जाता है। इसलिए चार्वाकों के मत में दो ही पुरुषार्थ हैं—अर्थ और काम।

व्याख्या—इन दोनों सूत्रों में चार्वाकों की आचार-विषयक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। अन्य दर्शनों में पुरुषों के द्वारा प्राप्य तथा अभिलषणीय चार वस्तुएं बतलाई गई हैं, जो सामान्यतः 'पुरुषार्थ' के नाम से अभिहित की जाती हैं। ये चारों पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष और इन्हीं-की प्राप्ति के लिए मानव मात्र अश्रान्त परिश्रम किया करता है। मीमांसकों की दृष्टि में वेद के द्वारा प्रतिपादित तथा इष्ट अर्थ को देनेवाला अनुष्ठान ही 'धर्म' कहलाता है (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः) जैसे यज्ञयाग, व्रत, उप-वास आदि। रुपया-पैसा, धन-दौलत आदि का नाम है—अर्थ। 'काम' से तात्पर्य इच्छा, अभिलाषा, सुख-सौख्य, स्त्री-सम्भोगजन्य सुख आदि। संसार के प्रपंच से तथा दुःखों से छुटकारा पाना मोक्ष या मुक्ति है।

चार्वाक का कथन है कि पुरुषार्थ चार न होकर एक ही है। अधिक-से-अधिक दो। मुख्य पुरुषार्थ है—काम। चार्वाक मत में भौतिक सुख की प्राप्ति ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। इस सुख की प्राप्ति बिना धन-दौलत के हो नहीं सकती। इसलिए 'अर्थ' भी अवान्तर पुरुषार्थ है। 'काम' की ही मुख्यता है; उपयोगी होने से, कार्यसाधक होने से 'अर्थ' की गौणता है, परन्तु फिर भी दोनों ही पुरुषार्थ हैं। चार्वाक की मान्यता का मन्त्र इस प्रख्यात श्लोक में कूट-कूटकर भरा हुआ है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्,
ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य,
पुनरागमनं कुतः ॥

चार्वाकी शिक्षा है—जबतक जीओ, खूब मौज से जीओ। यदि पैसा पास न हो तो किसी धनी से ऋण लेकर घी पिओ। ऋण चुकाने का डर अपने दिल में तनिक भी न रखो। भस्म हो जानेवाले देह का फिर इस संसार में आना थोड़े ही होता है। अतः 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ'—यही जीवन का चरम लक्ष्य है। इस सिद्धान्त को हम कह सकते हैं—आधिभौतिक सुखवाद।

इस श्लोक के तात्पर्य में प्रवेश करने पर हम इसे चार्वाकों की 'चतुःसूत्री' कह सकते हैं। इस श्लोक के चारों पाद चार सूत्रों का काम करते हैं और चार्वाकों के मौलिक तत्त्वों का निर्धारण करते हैं—

पहला पाद=जीवन का लक्ष्य=सुखमय जीवन-यापन।
दूसरा पाद=काम की सिद्धि=अर्थमूलक।
तीसरा पाद=मोक्ष की कल्पना=देह का भस्म होना (मरण)।
चौथा पाद=आत्मा की अमरता=नितान्त असिद्ध देह के पुनः आगमन के अभाव में (पुनर्जन्म का अभाव)।

गम्भीर तथा मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादक होने से यह पद्य चार्वाक-दर्शन की 'चतुःसूत्री' को एकत्र प्रस्तुत करता है।

चार्वाक लोग स्वस्थ तथा सौख्यमय जीवन के पक्षपाती थे। वे नहीं चाहते थे कि यह सुन्दर जीवन आध्यात्मिक सुख पाने की मृगमरीचिका में व्यर्थ विताया जाय। जीवन के ऐहिक पक्ष के वे प्रबल प्रशंसक थे। सर्वदा 'हाय-हाय' करते रहना उनके विचार से कायरता का सूचक है, वीरता का नहीं। विपत्तियों से जमकर संघर्ष किया जाय, उन्हें जीता जाय तथा जीवन को सरस-सुन्दर बनाया, रोचक रुचिकर रचा जाय; यही उनकी व्यावहारिक दृष्टि थी। वे अध्यात्मवादियों की खिल्ली उड़ाने से नहीं चूकते, जो विषयजन्य सुख को इसलिए त्याज्य मानते हैं कि वह दुःखों से संस्पृष्ट रहता है। भला वह कौन मूर्ख होगा, जो मोती के समान चमकनेवाले चावल के दानों को इसलिए दूर फेंकता है कि उनको भूसी का एक हलका छिलका

छिपाये रहता है ? दुःख से मिश्रित लौकिक सुखों के प्रति चार्वाकों का यह दृष्टिकोण उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता--

त्याज्यं सुखं विषय संगमजन्म पुंसां,
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्,
को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी॥
--'सर्वदर्शन संग्रह' में उद्धृत प्राचीन श्लोक

समाज-व्यवस्था

चार्वाकों की समाज-व्यवस्था या समाज-संगठन भी अपनी विशिष्टता लिये हुए है। इस विषय में उनके एक-दो सूत्र मिलते हैं--

दण्डनीतिरेव विद्या। अत्र वार्ता अंतर्भवति।

दण्डनीति ही विद्या है और इसके भीतर वार्ता का अन्तर्भाव होता है।

व्याख्या--चार्वाक की दृष्टि में लोक-व्यवहार के निर्वाह करने के कारण दो ही विद्याएं हैं--दण्डनीति और वार्ता। आजकल की परिभाषा में 'दण्डनीति' से तात्पर्य राजनीति से है और 'वार्ता' से तात्पर्य अर्थशास्त्र से है, जिसके भीतर कृषि, वाणिज्य, व्यापार आदि का समावेश किया जा सकता है। इन दोनों में भी 'दण्डनीति' की ही प्रबलता तथा मुख्यता है। 'वार्ता' का तो उसमें अन्तर्भाव अभीष्ट है। 'वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः' कौटिल्य ने भी 'अर्थशास्त्र' में इस मत के माननेवाले 'बृहस्पति' के अनुयायियों का उल्लेख किया है, जो चार्वाक-मत के आदि प्रवर्तक 'बृहस्पति' से भिन्न नहीं प्रतीत होते।

चार्वाकमत में वे ही विद्याएं हैं, जिनमें लोक-व्यवहार तथा समाज को सुव्यवस्थित बनाने की क्षमता विद्यमान है। 'वार्ता' प्राणियों के जीवन-निर्वाह, अर्थ-वृद्धि, व्यापार-वाणिज्य आदि के लिए नितान्त उपयोगी है। कृषि तथा वाणिज्य भारतीय समाज के कल्याण करनेवाले हैं, क्योंकि इनके अभाव में न तो मनुष्यों के भोजन की व्यवस्था की जा सकती है और न उनके संचित धन में ही वृद्धि की जा सकती है। दण्डनीति आजकल के

'लॉ' (कानून) तथा 'आर्डर' (व्यवस्था) का सूचक है। मनु के समान चार्वाक का भी मत है कि दण्ड ही प्रजाओं का पालन करता है; दण्ड के ही भय से प्रजा अपने कार्यों का पालन करती है; दण्ड का भय यदि उठा दिया जाय तो प्रजा उच्छृंखल बन जाय और मनमाने रास्तों पर चलकर एक-दूसरे का जीना कठिन कर दे। महाभारत तथा स्मृतिग्रंथों में मानव-समाज के व्यवस्थापन के निमित्त दण्ड के आविर्भाव का जो वर्णन मिलता है, वह चार्वाक को भी मान्य है।

निग्रहानुग्रहकर्ता राजा ईश्वरः।

राजा ही ईश्वर है; ऐसी दृढ़ मान्यता चार्वाक-मत की है। चार्वाक निरीश्वरवादी है। वह ईश्वर को नहीं मानता, क्योंकि ईश्वर की सत्ता प्रत्यक्ष के द्वारा कथमपि सिद्ध नहीं की जा सकती। मानव की समग्र इन्द्रियां ईश्वर के जानने में असमर्थ हैं। न हमारी आंखें उसे देख सकती हैं, न हमारे हाथ उसे छू सकते हैं। ईश्वर की सत्ता में वैदिक दर्शन अनुमान तथा शब्द-प्रमाण का आश्रय लेता है। चार्वाक तो इन प्रमाणों में विश्वास ही नहीं करता; फलतः इनके द्वारा सिद्ध किया गया पदार्थ आकाश-कुसुम के समान नितान्त निराधार और असत्य है। तो क्या ईश्वर है ही नहीं ?

चार्वाक का उत्तर है कि ईश्वर अवश्य है। निग्रह तथा अनुग्रह करने में समर्थ व्यक्ति की ही संज्ञा है ईश्वर। जो प्रसन्न होने पर अपनी अनुकम्पा तथा प्रसाद की वर्षा करे और रुष्ट होने पर दण्ड का प्रहार करे, वही ईश्वर है। और यह ईश्वर कोई अलौकिक सत्ता न होकर नितान्त लौकिक प्रत्यक्ष पदार्थ है और वह है राजा—प्रजा के ऊपर शासन करनेवाला, उन्हें उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर लानेवाला, अपराधियों को दण्ड देनेवाला शोभन कार्य करनेवालों पर अनुग्रह करनेवाला। ऐसे प्रत्यक्ष शासक के अतिरिक्त ईश्वर कोई है ही नहीं। उसकी सत्ता नितान्त असिद्ध है।

इन दोनों सूत्रों के आधार पर हम 'चावार्की समाज' की रूपरेखा भली-भांति समझ सकते हैं। चार्वाक आधिभौतिक सुखवाद का पक्षपाती अवश्य था, उच्छृंखल जीवन के प्रति उसकी बड़ी कड़ी दृष्टि थी। समाज के भीतर रहकर ही व्यक्ति व्यवस्थित तथा मर्यादित जीवन बिता सकता है, समाज से बहिर्मुख होने पर नहीं। इसलिए समाज को दण्ड के द्वारा

शासित करनेवाला शासक---राजा---उसकी दृष्टि में 'ईश्वर' है। दण्ड-नीति तथा वार्ता---ये दोनों विद्याएं मानव-समाज के पोषण तथा परि-बृंहण के लिए उपादेय हैं। इसलिए चार्वाक इन दोनों को ही ज्ञातव्य विद्या की कोटि में रखता है। इस दर्शन के मौलिक गुणों की समीक्षा के समय 'समाज-व्यवस्था' पर दृढ़ आग्रह कथमपि भुलाया नहीं जा सकता। यह चार्वाकों को पूर्णतया 'व्यावहारिक तत्त्व ज्ञानी' सिद्ध कर रहा है।

लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्य :।

लौकिक मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

व्याख्या---यह सूत्र इस मत की मौलिक विचारधारा का सूचक है। 'लौकिक' शब्द का अर्थ है लोकोपकारी, बहुत लोगों का हित करनेवाला। चार्वाक की दृष्टि में वही मार्ग अनुसरण करने योग्य है, जो लोगों का उप-कारक हो, प्राणियों का कल्याण और मंगल का साधक हो। दूसरे शब्दों में जो 'बहुजन हिताय' तथा 'बहुजन सुखाय' हो, उसी मार्ग पर चलना मानव का कर्तव्य होना चाहिए। 'लौकिक' का दूसरा अर्थ 'ऐहिक' भी है। फलतः इस सूत्र का आशय है कि परलोक की ओर ले जानेवाला मार्ग सर्वदा उपेक्ष-णीय है, क्योंकि परलोक नामक वस्तु का सर्वथा अभाव है। यज्ञ-याग, तप, व्रत आदि पारलौकिक साधनों की चार्वाक सर्वथा उपेक्षा करता है।

समीक्षण

चार्वाक-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का यहां ऊपर संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि चार्वाक सब प्रकार से 'नास्तिक' है। न वह वेद को मानता है, न परलोक को; न ईश्वर को मानता है, न धर्म को। वह अर्थ और काम को ही पुरुषों के लिए उपादेय समझता है। वह प्रत्यक्षवादी दार्श-निक है, जो इन्द्रिय से अननुभूत पदार्थ को असत्य मानता है। भौतिक सुख का उपभोग ही मानव-जीवन का लक्ष्य है और इसलिए पास में पैसा न रहने पर वह ऋण लेकर मौजी जीवन बिताने का उपदेश देता है। ये सब सिद्धान्त समाज में विप्लवकारी हैं और इसलिए सब दार्शनिकों ने---जैन, बौद्ध और ब्राह्मण तत्त्व-ज्ञानियों ने---एक स्वर से इन सिद्धान्तों की भरपूर निन्दा की है। परन्तु एक बात की ओर ध्यान देना उचित है और यह है समाज-

व्यवस्था पर चार्वाकों का सातिशय आग्रह । चार्वाकों के स्वरूप के विषय में अपने एक पूर्व कथन को यहां दोहराना मैं उचित समझता हूं—"चार्वाक प्राचीन काल के भारतीय वैज्ञानिक हैं, जो 'तर्क' की कसौटी पर सत्य को कसते हैं। वे आधुनिक भौतिकवादियों की अपेक्षा संयमी हैं और संयत जीवन बिताने के पक्षपाती हैं। इसलिए वे ऋण लेकर भी घी पीने का उपदेश देते हैं, शराब पीने का नहीं। सुन्दर समाज में रहकर ही प्राणी अपनी उन्नति कर सकता है, इस तथ्य की ओर इन्होंने खूब आग्रह दिखलाया। अतः उनके सिद्धान्तों का भी मूल्य है। वे एकदम निःसार नहीं हैं।"

: २ :

जैन दर्शन

जैन-दर्शन एक अत्यन्त प्राचीन विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। सुदूर प्राचीन काल में इस भारतवर्ष में वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड के विरोध में उत्पन्न होनेवाले धार्मिक सम्प्रदायों में जैनधर्म अन्यतम है। 'जिन' के द्वारा प्रवर्तित होने के कारण इस धर्म की संज्ञा 'जैन' है। 'जिन' का शाब्दिक अर्थ है जेता, जीतनेवाला। राग-द्वेष को जीतनेवाले आचार्य इस नाम से प्रसिद्ध हैं, जिन्हें 'तीर्थकर' का भी अभिधान प्राप्त है। इस मत के अनुसार इन तीर्थकरों की संख्या चौबीस है, जिनमें ऋषभदेव सर्वप्रथम तथा वर्धमान-महावीर अन्तिम तीर्थकर माने जाते हैं। ऋषभदेव इस देश के अत्यन्त प्राचीन चक्रवर्ती नरेश थे, जिनका पावन चरित्र पुराणों में बहुशः वर्णित है। वर्धमान-महावीर का जन्म लगभग छः सौ ई० पू० बिहार प्रान्त के कुण्डग्राम नगर के राजा सिद्धार्थ के घर में हुआ था। यह ग्राम वैशाली (आजकल मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ़) के समीप था। इनकी माता का नाम त्रिशला था, जो श्वेताम्बरी मान्यता के अनुसार वैशाली-नरेश राजा चेटक की भगिनी थी और जिन्हें दिगम्बरी मान्यता उक्त राजा की पुत्री मानती है। इनका जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था, जिसकी स्मृति में उस दिन उनकी जयन्ती बड़े समारोह के साथ मनाई जाती है। श्वेताम्बर लोग महावीर को विवाहित होना मानते हैं, परन्तु दिगम्बर मत में यह मान्य नहीं है। तीस वर्ष की वय में महावीर ने तपस्या करने के लिए घर छोड़कर जंगल का रास्ता लिया, जहां उन्होंने अत्यन्त कठिन तपस्या के बल पर केवलज्ञान प्राप्त किया। छियासठ दिनों तक मौन विहार करने के बाद वह मगध की राजधानी राजगृह में पधारे और उसके बाहर विपुलाचल पर्वत पर ठहरे। उस समय मगध के राजा श्रेणिक अपनी रानी चेलना के साथ वहां राज्य करते थे। वहींपर महावीर ने गौतम गोत्रीय वेद-वेदांग-पारंगत इन्द्रभूति नामक ब्राह्मण विद्वान् को अपना प्रथम शिष्य बनाया, जो

प्रथम 'गणधर' के नाम से जैनधर्म के इतिहास में प्रख्यात हैं। उस समय उनकी उम्र बियालीस वर्ष की थी। तीस साल तक उन्होंने अपने धर्म का उपदेश दिया। उत्तर भारत, विशेषकर बिहार तथा उत्तर प्रदेश, उनके उपदेश का क्षेत्र था। अन्त में बिहार की पावापुरी में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात में अर्थात् अमावस्या के प्रातःकाल में सूर्योदय से पहले महावीर ने मुक्ति लाभ की। ईस्वी पूर्व ५२७वें साल में वीर-निर्वाण की उक्त तिथि मानी जाती है।

जैन मत में दो प्रधान अवान्तर-भेद हैं—दिगम्बर तथा श्वेताम्बर। दिगम्बरमार्गी यति अपने शरीर के आच्छादन के लिए वस्त्र का उपयोग नहीं करते। वे सर्वथा नग्न ही रहते हैं; परन्तु श्वेताम्बरी यति सफेद वस्त्र का प्रयोग करते हैं। इन दोनों मार्गों में दार्शनिक दृष्टि से अन्तर नहीं है। केवल आचार-दृष्टि से कतिपय भेद अवश्य हैं, परन्तु वे भी विशेष महत्त्व के नहीं हैं। अन्य अवान्तर-भेद भी मिलते हैं, परन्तु दार्शनिक दृष्टि से जैन-धर्म एक अखण्ड उपासना-मार्ग है।

जैन-दर्शन का प्रमाण-साहित्य

जैनधर्म के सर्व प्राचीन ग्रन्थ अंग नाम से प्रसिद्ध हैं तथा अर्धमागधी प्राकृत में निबद्ध हैं। जैनसिद्धान्त-ग्रन्थों की संख्या पैंतालीस है, जिनमें ग्यारह अंग, बारह उपांग, दस प्रकीर्ण, छः छेद सूत्र, चार मूल ग्रन्थ तथा दो स्वतन्त्र ग्रन्थ (नन्दी सूत्र तथा अनुयोग द्वार) माने जाते हैं। इनमें अंगों का माहात्म्य सबसे अधिक है, यह श्वेताम्बरी मान्यता के अनुसार है। दिगम्बर मत के अनुसार यह समग्र प्राचीन साहित्य विलुप्त हो गया। इस मत में प्राचीन मान्य ग्रन्थ है——षट् खण्डागम, जिसकी रचना भूतबलि और पुष्प-दन्त नामक दो विद्वानों ने श्रुत का अभ्यास कर प्राकृत भाषा में की। गुणधर आचार्य रचित कसायपाहुड (या कषायप्राभृत) इस दर्शन का दूसरा मान्य ग्रन्थ है, जिसपर यतिवृषभ नामक आचार्य ने वृत्ति-सूत्र का प्रणयन किया, जो प्राकृत भाषा में है और जिसका प्रमाण छः सहस्र श्लोक है। वीरसेन नामक प्रौढ़ आचार्य ने ७३८ शक संवत् (८१६ ईस्वी) में षट् खण्डागम पर 'धवला' नामक प्रख्यात टीका बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण लिखी।

कषायपाहुड पर भी इनकी अधूरी टीका को इन्हींके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्य ने 'जयधवला' टीका का प्रणयन किया (श० सं० ७५९, ईस्वी ८३०)। ये दोनों ही टीकाएं मणि प्रबाल शैली में रचित है, जिसका बहुत भाग प्राकृत में है और बीच में संस्कृत है। पूर्वोक्त षट् खण्डागम का अन्तिम खण्ड 'महाबन्ध' है, जिसकी रचना भूतबलि आचार्य ने की थी (चालीस हजार श्लोक प्रमाण, भाषा प्राकृत)। इन्हीं सभी जैन ग्रन्थों में कर्म-सिद्धान्त का गहन विवेचन है।

यह तो हुई धार्मिक साहित्य की सूचनिका। जैन-दर्शन के दार्शनिक ग्रन्थ भी परिमाण में बहुत, विवेचन में गम्भीर तथा युक्ति-प्रदर्शन में व्यापक दृष्टिवाले हैं। आचार्यों तथा विद्वानों की भी संख्या कम नहीं है, जिन्होंने जैन न्याय को पूर्णरूप से प्रतिष्ठित किया। दोनों मार्गों के आचार्यों के व्यापक पाण्डित्य का प्रतिफल है विस्तृत जैन दार्शनिक साहित्य। इन आचार्यों में उमास्वाति, कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, अकलंकदेव, स्वामी विद्यानन्दि तथा हेमचन्द्र की प्रमुख गणना है। इनके विस्तृत ग्रन्थों में इनका पाडित्य निःसन्देह श्लाघ्य है।

जैन-दर्शन का दृष्टि-बिन्दु

जैन दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है—अनेकान्तवाद। 'एकान्त' का अर्थ है निर्णीत रूप से एक प्रकार। तदनुसार 'अनेकान्त' का अर्थ है वस्तु के अनेक प्रकार। जैन दर्शन की विशिष्ट मान्यता है कि वस्तु का एक ही रूप, एक ही प्रकार नहीं है। दृष्टि-भेद से वही वस्तु उससे भिन्न आकार में भी प्रतीत होती है। जैन दर्शन सत् और असत् ऐसा दो प्रकार का वस्तुओं का विभाग अंगीकार नहीं करता। 'सत्' ही द्रव्य का लक्षण है, 'असत्' या 'अभाव' जैन दर्शन में कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। जो वस्तु किसी दृष्टि के द्वारा सत् है, वही वस्तु दृष्टि के भेद से असत् भी कही जा सकती है। स्वरूप (अपने रूप) की अपेक्षा से वस्तु 'सत्' कही जाती है, वही पररूप की अपेक्षा से असत् भी कही जा सकती है। तथ्य यह है कि प्रत्येक वस्तु का स्वभाव अलग-अलग होता है और वह स्वभाव उसी वस्तु में रहता है, दूसरी वस्तु में नहीं। घट तथा पट के उदाहरण पर दृष्टिपात कीजिये।

घट में घटत्व रहता है और इसलिए घट-स्वभाव को दृष्टि में रखकर हम कहते हैं कि सामने दृष्टिगोचर होनेवाला पदार्थ 'घट' है, परन्तु पटत्व को दृष्टि में रखकर हम कह सकते हैं कि 'यह घट है'? नहीं, कभी नहीं। फलतः घटत्व की दृष्टि से घट है, परन्तु पटत्व की दृष्टि से वह घट नहीं है। इस प्रकार एक ही वस्तु सत् भी है और असत् भी है। अन्तर इन वाक्यों में, इन कल्पनाओं में दृष्टि का ही तो है। इस तरह हम देखते हैं कि घड़ा एक दृष्टि से तो अवश्यमेव 'सत्' (विद्यमान) है, परन्तु दूसरी दृष्टि से वह 'नहीं है' (असत्)। अतः संसार में जो कुछ 'है' वह किसी अपेक्षा से 'नहीं भी' है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु जगत् में नहीं है। इसी सिद्धान्त को अनेकान्तवाद के नाम से पुकारते हैं।

इसीको **'स्याद्वाद'** का सिद्धान्त कहते हैं। 'स्याद्वाद' के समझने-समझाने में जैन मतवादियों तथा अजैनों की व्याख्या में महान् अन्तर है। अजैनी दार्शनिक की दृष्टि में 'स्याद्वाद' सन्देहवाद का ही अपर पर्याय है, क्योंकि 'स्यात्' का अर्थ है शायद। परन्तु जैन दार्शनिकों की दृष्टि से 'स्यात्' शब्द का वास्तविक तात्पर्य है 'कथंचित्' अथवा 'किसी अपेक्षा से' है। ऊपर कहा ही गया है कि संसार में अपेक्षा के विचार से कोई भी वस्तु सत् और असत् दोनों ही है। इसी 'अपेक्षावाद' का सूचक 'स्याद्वाद' शब्द है जिसका प्रयोग अनेकान्तवाद के समझने के लिए आवश्यक है। इसीकी तार्किक अभिव्यक्ति 'सप्तभंगी' नय के द्वारा की जाती है।

सप्तभंगी नय है क्या? किसी भी वस्तु के रूप प्रकट करने के वास्ते सात प्रकारों से कहने का ढंग। इसका स्वरूप इस प्रकार है—

१. **स्यात् अस्ति**—(किसी अपेक्षा से कोई वस्तु विद्यमान है)।
२. **स्यान्नास्ति**—(किसी अपेक्षा से कोई वस्तु अविद्यमान है)।
३. **स्यादस्ति च स्यान्नास्ति**—(किसी अपेक्षा से कोई वस्तु एक साथ विद्यमान और अविद्यमान दोनों हैं)।
४. **स्याद् अवक्तव्यम्**—(किसी अपेक्षा से वस्तु का रूप निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता है)।
५. **स्यादस्ति च स्याद् अवक्तव्यं च**—(किसी अपेक्षा से वस्तु का रूप है भी तथा अवक्तव्य भी है)।

६. **स्यान्नास्ति च स्याद् अवक्तव्यं च**—(दूसरे और चौथे भंगों को जोड़ने से यह भंग निष्पन्न होता है।)

७. **स्यादस्ति च स्यान्नास्ति च स्याद् अवक्तव्यं च**—(तीसरे और चौथे भंगों के संयोग से यह भंग तैयार होता है।)

शंकराचार्य ने ऊपर के चौथे भग 'स्याद् अवक्तव्यम्' के विषय में यह खण्डन प्रस्तुत किया है—

न चैषां पदार्थानाम् अव्यक्तव्यं संभवति। अवक्तव्यश्चेत् नोच्येरन्। उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिसिद्धम्।

—शांकर-भाष्य ब्र० सू० २।२।३३

तात्पर्य यह है कि पदार्थों को अवक्तव्य कहना क्या कथमपि संभव है? यदि ये पदार्थ अवक्तव्य होते तो इनका कथन ही कैसे किया जा सकता है। कथन भी किया जाय और अवक्तव्य भी कहा जाय—ये दोनों बातें परस्पर-विरोधी हैं। इसके उत्तर में जैन विद्वानों का कहना है कि जैन दर्शन वस्तु को सर्वथा अवक्तव्य नहीं मानता, प्रत्युत अपेक्षा की दृष्टि से ही अवक्तव्य बतलाता है। इसी बात को सूचित करने के लिए 'अवक्तव्यं' से पूर्व 'स्यात्' शब्द का प्रयोग उक्त भंग में किया गया है। अर्थात् वस्तु सर्वथा अवक्तव्य नहीं है, किन्तु किसी एक दृष्टिकोण से अवक्तव्य है।[1]

द्रव्य का लक्षण

द्रव्य का लक्षण सत् है। जैन-दर्शन में 'सत्' का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य माना गया है। उत्पाद का अर्थ है उत्पत्ति, व्यय का विनाश तथा ध्रौव्य की स्थिरता। अर्थात् जिसमें प्रति समय उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिरता पाई जाय, उसे हम यहां 'सत्' कहते हैं। घड़े की उत्पत्ति मृत्तिका के पिण्ड से हुई। यहां विचार करने पर ये तीनों बातें लक्षित होती हैं। मिट्टी के पिण्ड से घड़ा बनाते समय मिट्टी का पिण्डरूप पर्याय नष्ट हो जाता है, घट पर्याय उत्पन्न होता है और मिट्टी स्थिर रहती है। ये तीनों बातें एक ही समय में होती हैं। जिस क्षण में घट पर्याय की उत्पत्ति हुई, उसी

[1]देखिये कैलाशचन्द्रशास्त्री-रचित 'जैनधर्म' पृ० ६८-६९

क्षण में पिण्ड पर्याय का विनाश हुआ और मृत्तिका की स्थिरता उसी क्षण में विद्यमान रही। फलतः वस्तु प्रतिसमय उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यात्मक कही गई है।

तथ्य यह है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। शिशु बालक होता है, बालक जवान और जवान बूढ़ा। परन्तु यह प्रतिक्षण परिणाम इतना सूक्ष्म होता है कि वह हमारे देखने में तुरन्त नहीं आता। यह भी सत्य है कि परिवर्तन होने पर भी बालक की एकरूपता बनी रहती है, तभी तो वह पहचाना जाता है, नहीं तो बालक को युवा होने पर कोई पहचान ही नहीं सकता था कि यह देवदत्त का पुत्र यज्ञदत्त ही है। द्रव्य के इस स्वभाव में गुण ध्रुव (स्थायी) होते हैं और 'पर्याय' उत्पाद-व्ययशील होते हैं। इस प्रकार गुण के दोनों ही लक्षण एक ही तत्त्व के सूचक हैं। द्रव्य को गुण-पर्यायात्मक कहिये या उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक कहिये, तथ्य एक ही है।

जैन आचार्यों के मत में द्रव्य न तो उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है, केवल पर्यायें उत्पन्न तथा नष्ट हुआ करती हैं। इनके साथ अभिन्न होने से द्रव्य को भी हम उत्पाद व्ययशील मान लेते हैं। आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'आप्त मीमांसा' ग्रन्थ में इस दृष्टि से तत्त्व को त्रयात्मक माना है-**तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम्**। इस विषय में एक सुन्दर दृष्टान्त भी दिया है—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थिति स्वयम्।
शोक प्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥

—आप्तमीमांसा, श्लो० ५९

किसी राजा के पास सोने का घड़ा था, जिसे उसकी पुत्री चाहती थी। राजा के पुत्र ने अपने लिए उससे मुकुट तैयार कर लिया। घड़े के नाश होने से राजपुत्री को शोक हुआ और राजपुत्र को सोने का मुकुट पाने से आनन्द हुआ। राजा को उदासीनता ही रही, उसे न शोक हुआ, न हर्ष। वह तो सुवर्ण का इच्छुक था, जो दोनों दशाओं में बना ही रहा। फलतः द्रव्य या पदार्थ त्रयात्मक होता है।

निष्कर्ष यह है कि जैन दर्शन में द्रव्य ही एकमात्र तत्त्व है, जो छः प्रकार का होता है। द्रव्य-दृष्टि से वह नित्य है तथा पर्याय-दृष्टि से अनित्य है। द्रव्य के छः प्रकारों का ज्ञान निम्नांकित नक्शे से भली प्रकार हो जायगा—

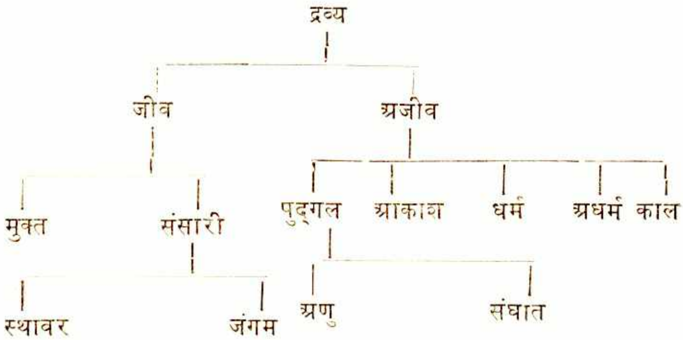

जीव

जैन दर्शन ने द्रव्य को प्रधानतया दो वर्गों में बांटा है, जिसमें 'जीव' प्रथम वर्ग है। जीव का लक्षण है--

चेतना लक्षणो जीवः।

चैतन्य ही जीव का लक्षण है। उसमें न कोई गन्ध है, न रूप। वह शब्दरूप भी नहीं है, न कोई भौतिक चिह्न है और न उसका कोई आकार है। चैतन्य गुण से विशिष्ट द्रव्य ही जीव है। जीव चेतन है। चेतना जानने और देखने के रूप में होती है। फलतः जो देखता है और जो जानता है वही जीव है। जीव अपने आप ही प्रभु है। प्रत्येक जीव अपने उत्थान और पतन के लिए स्वयं उत्तरदायी होता है। उसे न कोई बांधता है और न कोई मुक्त करता है। बन्धन और मुक्ति के लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी होता है। जीव कर्ता भी है और भोक्ता भी है। जीव शरीर-प्रमाण है। जीव जिस शरीर में रहता है, वह उसीके प्रमाणवाला होता है, दीपक के प्रकाश के समान। दीपक का प्रकाश एक छोटी कुटिया में जले, तो वह छोटा होता है और यदि किसी लम्बे-चौड़े प्रसाद में रहता है, तो वह प्रकाश फैलकर विस्तृत आकार को ग्रहण कर लेता है। जीव की भी ठीक यही दशा है। चींटी में रहनेवाला जीव नितान्त लघुकाय होता है और हाथी में रहनेवाला जीव विशाल होता है। जीव कर्मों से संयुक्त होता है। यह कर्म-बन्धन अनादि काल से विद्यमान है, खान से निकले हुए सोने की तरह। जैसे

खान से निकलने के समय सोना अशुद्ध होता है, वैसे ही जीव अनादि काल से कर्म के बन्धन में जकड़ा हुआ पाया जाता है।

जीव के दो भेद होते हैं—संसारी और मुक्त, संसारी वह जीव है,जो कर्मबन्धन के वश में होकर एक गति से दूसरी गति को प्राप्त करता है। वह जनमता है और मरता है। मुक्त जीव इन बन्धनों से मुक्त रहता है।

अजीव

जिन द्रव्यों में चैतन्य नहीं पाया जाता, वे अजीव कहलाते हैं। इनमें से पहला द्रव्य है पुद्गल।

पुद्गल—'पुद्गल' शब्द की व्युत्पत्ति जैन ग्रन्थों में इस प्रकार दी गई है—**'पूरयन्ति गलन्ति च'** जो पूर्ण हो और फिर गल जाय। सामान्यतः इसका प्रयोग पृथ्वी आदि भूत द्रव्यों के लिए किया जाता है। जो कुछ हम देखते हैं, छूते हैं, सुनते हैं, खाते हैं और पीते हैं, वह 'पुद्गल' कहलाता है। जिसमें रूप,रस,गन्ध और स्पर्श—ये चारों गुण पाये जाते हैं, वह 'पुद्गल' कहलाता है। यही मूर्तिक द्रव्य है, शेष द्रव्य अमूर्तिक होते हैं। पुद्गल की कल्पना न्याय-दर्शन की अपेक्षा जैन-दर्शन में भिन्न है। न्याय-दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु—ये चारों पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि इनके उत्पादक परमाणु मौलिक रूप से भिन्न हैं और चार प्रकार के हैं। जैन दर्शन की मान्यता इससे पृथक् है। जैन मत में सब परमाणु एकजातीय होते हैं और सभीमें ये चारों गुण पाये जाते हैं, परन्तु उनसे बने हुए द्रव्यों में सब गुणों की प्रतीति इसी कारण नहीं होती कि इन सब गुणों की अभिव्यक्ति नहीं होती। परमाणुओं में परस्पर भेद नहीं होता,भेद केवल परिणमन का है। इसलिए पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु से चार द्रव्य नहीं होते, किन्तु एक ही द्रव्य होता है और उसका नाम 'पुद्गल' है।

पुद्गल के दो भेद होते हैं—परमाणु और संघात। परमाणु का लक्षण इस प्रकार है—

> **अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदियगेज्झं**
> **जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं वियाणाहि॥**

इसका अर्थ यह है कि जो स्वयं ही आदि, अन्त तथा मध्यरूप है और

जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता और जिसका विभाग नहीं हो सकता, उस द्रव्य को 'परमाणु' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पुद्गल के सबसे छोटे अविभागी अंश को 'परमाणु' कहते हैं। परमाणु एकप्रदेशी होता है अर्थात् वह एक ही प्रदेश को व्याप्त करनेवाला होता है। इसलिए उसका दूसरा भाग नहीं हो सकता।

अनेक परमाणुओं के संयोग से जो द्रव्य तैयार होता है, वह 'स्कन्ध' कहलाता है। दो परमाणुओं के मेल से उत्पन्न होता है द्वयणुक, तीन परमाणुओं के मेल से त्र्यणुक तैयार होता है। इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तैयार होते हैं।

धर्म द्रव्य तथा अधर्मद्रव्य—इन दोनों शब्दों का अर्थ पुण्य और पाप नहीं है, जैसा साधारण लोग समझा करते हैं। ये दोनों द्रव्य हैं। षड् द्रव्यों में जीव और पुद्गल सक्रिय होते हैं अर्थात् इनमें क्रिया उत्पन्न होती और उस व्यापार का विराम भी होता है। इन दोनों द्रव्यों को चलने में सहायता पहुंचानेवाला द्रव्य ही 'धर्म द्रव्य' होता है और इन दोनों द्रव्यों को ठहरने में सहायता देनेवाला द्रव्य अधर्म द्रव्य होता है। धर्म के रूप समझाने के लिए जैन ग्रन्थों में जल का उदाहरण दिया गया है। पानी मछलियों के चलने में सहायक होता है। पानी यदि न रहे, तो मछलियों में गति नहीं हो सकती। एक बात ध्यान देने की है। धर्म और अधर्म प्रेरक द्रव्य नहीं हैं अर्थात् ये किसीको चलने और रुकने के लिए बलात् प्रेरणा नहीं देते। ये केवल सहायता करते हैं अर्थात् चलते हुए को चलने और ठहरते हुए को ठहरने में केवल सहायता देते हैं। चलने और रुकने का काम तो जीव और पुद्गल स्वयं करते हैं। धर्म और अधर्म केवल सहायता पहुंचाते हैं।

आकाश—जो द्रव्य सब द्रव्यों को अवकाश देता है, वह आकाश कहलाता है। आकाश की कोई मूर्ति नहीं होती। आकाश अमूर्तिक और सर्वव्यापी होता है। जैन-मत में आकाश दो प्रकार का होता है—लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाश के मध्य में है लोकाकाश और उसके चारों ओर सर्वव्यापी अलोकाकाश रहता है अर्थात् लोकाकाश में छहों द्रव्य पाये जाते हैं और अलोकाकाश में केवल आकाश द्रव्य ही पाया जाता है।

काल—वस्तुमात्र प्रतिक्षण परिणमनशील है। इस परिणमन या

परिवर्तन में सहायता पहुंचानेवाला द्रव्य 'काल' है। परिणमन करने की शक्ति तो सब पदार्थों में विद्यमान है ही, परन्तु शक्ति काल की सहायता बिना प्रकट नहीं हो सकती। दृष्टान्त के लिए कुम्हार के चाक को लीजिये। उसमें घूमने की शक्ति मौजूद है, किन्तु बिना कील की सहायता पाये वह घूम नहीं सकता। काल द्रव्य की भी वैसी ही स्थिति है। संसार के पदार्थ स्वतः परिवर्तनशील हैं, परन्तु काल द्रव्य उस कार्य में सहायता देता है। यह बलात् वस्तुओं को परिणमन के लिए प्रेरित नहीं करता, बल्कि परिणमन करते हुए द्रव्य को उस काम में केवल सहायता पहुंचाता है।

इस प्रकार जैन दर्शन में छः द्रव्य माने जाते हैं। इनमें काल को छोड़कर शेष पांचों द्रव्य 'अस्तिकाय' के नाम से पुकारे जाते हैं। क्यों? 'अस्तिकाय' शब्द के अर्थ पर विचार कीजिये। यह दो शब्दों को मिलाकर बनता है, जिसमें अस्ति का अर्थ है—अस्तित्व, विद्यमान। 'काय' का अर्थ है देह, शरीर। अतः 'अस्तिकाय' से तात्पर्य है—देह या प्रदेश को रखनेवाले पदार्थ। पूर्वोक्त पांचों द्रव्य (जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म तथा अधर्म) बहु-प्रदेशी है। फलतः वे 'अस्तिकाय' कहलाते हैं। परन्तु 'काल' इस विषय में इन पांचों से भिन्न है। काल के अणु असंख्य होने पर भी परस्पर सदा अबद्ध रहते हैं। न तो वे आकाश के प्रदेशों की तरह सदा से मिले हुए एक तथा अखण्ड हैं, और न पुद्गल परमाणुओं की तरह कभी मिलते हैं और न कभी अलग होते हैं। इसलिए काल की इस विशिष्टता के कारण वह 'अस्तिकाय' नहीं माना जाता।

सात तत्त्व

जैनदर्शन साधना को लक्ष्य कर सात तत्त्वों का प्रतिपादन करता है—१. जीव, २. अजीव, ३. आस्त्रव, ४. बन्ध, ५. संवर, ६. निर्जरा तथा ७. मोक्ष। इनमें १. जीव तथा २. अजीव का विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है।

३. **आस्त्रव**—इस शब्द का अर्थ है जीवों के कर्मों के आगमन का द्वार। बिना द्वार के कोई वस्तु कहीं प्रवेश या सम्बन्ध नहीं कर सकती। मनसा, वाचा, शरीरेण जो कुछ कर्म हम करते हैं, वे जीवों में प्रवेश करते हैं। मन से हम भली-बुरी बातें सोचते हैं। वचन से शोभन या अशोभन बातें करते हैं। शरीर से पाप-पुण्य का सम्पादन करते हैं। ये कर्म हमारे शरीर

में निःसन्देह प्रवेश करते हैं। इस प्रवेश के द्वार को ही 'आस्रव' कहते हैं।

जैनधर्म में कर्म-सिद्धान्त अन्य दर्शनों के एतद्विषयक सिद्धान्त से अनेक अंश में भिन्न है। जैनमत में कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीवों के साथ बंध जाता है। रागद्वेष के पाश में पड़ा हुआ जीव नाना प्रकार के कर्मों का सम्पादन करता है। फलतः संसारी जीवों के भावों से उत्पन्न होता है कर्म-बन्ध और इस कर्मबन्ध से उत्पन्न होता है रागद्वेष-भाव। यह चक्र अनादि होकर भी कभी अनन्त है और कभी सान्त है। अभव्य जीव (इस चक्र का अन्त करने में असमर्थ होनेवाले जीव) की अपेक्षा से यह कर्म अनादि और अनन्त है और भव्य जीव (इस चक्र का अन्त करनेवाले जीव) की अपेक्षा यह अनादि और सान्त है। दोनों की अपेक्षा से यह अनादि है, अन्त होने के विषय में भले ही दो प्रकार हों। कर्म का फल कैसा होता है? इस विषय में जैन-दर्शन वेदानुयायी दर्शनों से सर्वथा भिन्न है। जीव कर्म करने में तो स्वतन्त्र है, परंतु फल पाने में परतन्त्र है, क्योंकि फल का दाता ईश्वर है-- ऐसी वेदान्त आदि दर्शनों की मान्यता है। परन्तु ईश्वर की सत्ता न मानने-वाले जैन-दर्शन को यह मत मान्य नहीं। उसकी दृष्टि में कर्म स्वयं फल देता है और इसके लिए उसे किसी न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं होती। जैन-मत में कर्मों के अनेक भेद-प्रभेद माने जाते हैं। फलतः जैन-दर्शन का कर्म-सिद्धान्त अनेक तथ्यों में अन्य दर्शनों की विवेचना से स्वतन्त्र सत्ता रखता है। यह बात जैन दार्शनिकों की सूक्ष्म विवेचना की पर्याप्त सूचिका है।

४. **बन्ध**—जीव और कर्मों के परस्पर संयोग होने पर जो मेल होता है, वही बन्ध तत्त्व है। 'संयोग' शब्द से यह न समझना चाहिए कि यह बन्ध साधारण संयोग के समान है। मैं अपनी लेखनी को हाथ में लेकर लिख रहा हूं। फलतः यहां हमारे हाथ तथा लेखनी में संयोग विद्यमान है। परन्तु क्या यह बन्ध कहा जा सकता है? नहीं। बन्ध का रूप रासायनिक परिवर्तन के समान है, जो मिली हुई वस्तुओं में परिवर्तन उपस्थित कर देता है। बन्ध की दशा में जीव में भी परिवर्तन हो जाता है और कर्म-पुद्गलों में भी। दोनों अपनी पूर्व स्थिति में नहीं रहते। आस्रव तथा बन्ध

के द्वारा जीव संसारी रूप में परिणत हो जाता है और वह विषयों को भोगने लगता है। इसके आगे मोक्ष की तैयारी शुरू होती है।

५. संवर––आगे आनेवाले कर्मों के मार्ग को रोकने का ही नाम 'संवर' है। संवर के अभाव में जीव कभी भी मोक्ष नहीं पा सकता, क्योंकि उसे संसारी दशा में रखनेवाले कर्म तो सदा होते ही जाते हैं। देह से सम्बद्ध बनकर वे बन्ध उत्पन्न करते ही हैं। फलतः जीव के लिए किसी भी काल में मोक्ष पाने की आशा दुराशामात्र है। इसलिए मुमुक्षु साधकों के लिए संवर की नितान्त आवश्यकता होती है।

६. निर्जरा––यह 'संवर' से आगे की सीढ़ी है। 'निर्जरा' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है 'नितान्त जीर्ण कर देना' अर्थात् अपने द्वारा सम्पादित कर्मों को जीर्ण बना देना, जिससे वे अपने उचित फल को पैदा करने में कथमपि समर्थ न हो सकें। जिस प्रकार 'संवर' आस्रव का प्रतिपक्षी तत्त्व है, उसी प्रकार 'निर्जरा' भी बन्ध का विरोधी तत्त्व है। एक बात ध्यान देने की है। निर्जरा तो प्रतिक्षण होती रहती है। प्रत्येक क्षण में कर्म अपना फल पैदा कर जीर्ण होता रहता है, वह अपनेको समाप्त किया करता है, परन्तु तब भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि प्राचीन कर्म की समाप्ति हो जाने पर भी नवीन कर्म तो जीव में प्रवेश किया ही करते हैं। फलतः जीव का बन्ध समाप्त नहीं होता। इसके लिए संवरपूर्वक निर्जरा की नितान्त आवश्यकता है। दोनों तत्त्व मिलकर ही बन्ध को समाप्त करने में कृतकार्य होते हैं, अकेले नहीं।

७. मोक्ष—उमास्वामी की मोक्ष परिभाषा है—**कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः** सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का नाम है मोक्ष। मोक्ष या मुक्ति मुच् धातु से निष्पन्न शब्द हैं, जिसका अर्थ ही है—छुटकारा। छुटकारा किससे? बन्धन से। बन्धन क्यों? कर्मों के द्वारा। फलतः समस्त कर्म को क्षय कर देने का ही नाम मोक्ष या मुक्ति है। मोक्ष-दशा में जीव अपने स्वाभाविक स्वरूप को पा लेता है और उसमें **'अनन्त चतुष्टय'** की सद्यः उत्पत्ति हो जाती है, जिनके नाम हैं—१. अनन्त ज्ञान, २. अनन्त वीर्य, ३. अनन्त दर्शन तथा ४. अनन्त सुख। कैवल्य प्राप्त करनेवाला जीव इस भूतल पर निवास करता हुआ समाज के परम मंगल के साधन में लगा रहता है। वह स्वयं मुक्त हो जाता है और अन्य जीवों को भी मुक्त होने के लिए आशा

का सन्देश दिया करता है। ये ही केवली-मुक्त सिद्ध पुरुष धर्म के प्रवर्तक होते हैं और इसीलिए ये 'तीर्थंकर' के अभिधान से पुकारे जाते हैं।

जैनधर्म में ईश्वर

प्रश्न यह है कि जैन-दर्शन ईश्वर की बहुलमान्य सत्ता को स्वीकार करता है या नहीं। ईश्वर वही कहलाता है जो '**कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुं समर्थः**' अर्थात् जो किसी वस्तु के करने में,उसके न करने में तथा उसे अन्यथा करने में समर्थ होता है। ब्राह्मण धर्म में ऐसा ही ईश्वर माना जाता है, जो स्वतन्त्र तथा सर्वशक्तिमान् होता है। परन्तु जैन-दर्शन में इस प्रकार के ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। वह अनादि-सिद्ध परमात्मा की सत्ता कथमपि नहीं मानता। ऐसे परमात्मा की कल्पना जैन-मत में नहीं है। परन्तु वहां एक नहीं, प्रत्युत अगणित ईश्वर हैं। जैन-मत में अर्हन्तपद और सिद्ध-पद को प्राप्त कर लेनेवाले जीव ही 'ईश्वर' पद के द्वारा अभिहित किये जाते हैं। अनादिकाल से जीव कर्मबन्धन से जकड़ा हुआ है। चार प्रकार के घाती कर्मों का नाश करके जीव सर्वज्ञ या सिद्ध बन सकता है। मौलिक रूप में, प्रत्येक जीव में अनन्त चतुष्टय की सत्ता रहती है अर्थात् प्रत्येक जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से स्वतः सम्पन्न होता है, परन्तु कर्मों के कारण ये गुण अन्तर्हित से रहते हैं। जब वह घाति कर्मों का नाश कर देता है, तब पूर्वोक्त अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न हो जाता है। ऐसे विशुद्ध आत्मा को 'अर्हन्त' या 'अरिहन्त' कहते हैं। कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने के कारण यह 'जिन' भी कहलाता है। वह विश्व की समस्त वस्तुओं को अतीत, वर्तमान तथा भविष्य को, सूक्ष्म, स्थूल तथा व्यवहित को जान लेता है और इसलिए वह 'सर्वज्ञ' कहलाता है। उस व्यक्ति का ज्ञान और दर्शन आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य सहायक की अपेक्षा नहीं रखता। इसलिए वह 'केवली' भी कहलाता है। यह जीवन्मुक्त होता है। सिद्धों का पद अरिहन्तों से बढ़कर माना जाता है। अरिहन्त कर्मबन्धनों से सर्वथा सब प्रकार से मुक्त नहीं होते, परन्तु सिद्ध कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त होते हैं।

तीर्थंकर

जैनधर्म में यदि कोई ईश्वर है तो वह अर्हन्त तथा सिद्ध पुरुष ही हैं, परन्तु उन्हें लोक-प्रचलित 'ईश्वरत्व' का अधिकारी मानना सर्वथा अनुचित है। ये ईश्वर संसार से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते। न ये सृष्टि की रचना करते हैं, न उसका संचालन (जैन-मत में सृष्टि स्वयंसिद्ध वस्तु है। अतः उसके लिए किसी रचयिता की आवश्यकता नहीं होती), न ये कर्म-फल के दाता हैं, न स्तुति से प्रसन्न होते हैं,न निन्दा से अप्रसन्न। प्रत्युत वे अपने कर्म-बन्धनों का नाश कर अपने अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न होकर स्वतन्त्रता से विचरण करते हैं। अन्य धर्मों में ईश्वर का जो महनीय गौरवमय पद है, वह जैन-मत में 'तीर्थंकरों' को प्राप्त है। सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली में अन्तर है। सामान्य केवली अपनी ही मुक्ति की साधना से प्रसन्न रहता है। तीर्थंकर केवली अपनी मुक्ति पाने के साथ संसारी जीवों की मुक्ति के लिए, समस्त दुःखों से छुटकारा पाने के वास्ते, मार्ग बताता है। इसलिए जैनधर्म के उपदेशक महापुरुष 'तीर्थंकर' के नाम से अभिहित होते हैं। तीर्थंकर संख्या में चौबीस माने जाते हैं, जिनमें अन्तिम दो तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा वर्धमान महावीर ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में सर्वत्र समादृत किये जाते हैं। ब्राह्मण-धर्म में जो मान्यता राम-कृष्ण आदि अवतारों को है,जो आदर बौद्ध धर्म में गौतम बुद्ध को है, वही मान्यता और वही आदर जैनधर्म में इन तीर्थंकरों को है। इसमें आश्चर्य ही क्या है कि जैन लोग इन्हींको 'ईश्वर' के रूप में पूजते हैं ?

जैन-पूजा विधान

जैनधर्म में मूर्ति-पूजा का विधान अत्यन्त प्राचीन काल से पाया जाता है। जैनधर्म में पांच पद बहुत ही प्रतिष्ठित माने जाते हैं---

१. अर्हन्त, २. सिद्ध, ३. आचार्य, ४. उपाध्याय, ५. साधु। इन्हीं पांचों को 'पंच परमेष्ठी' की संज्ञा प्राप्त है। ये पांचों ही वन्दना, पूजा तथा अर्चना के पात्र होते हैं। इनके स्वरूप में पर्याप्त अन्तर है। जैसा ऊपर बताया गया है, अर्हन्त जीवन्मुक्त को कहते हैं। शरीर से रहित होनेवाले मुक्त सिद्ध कहे जाते हैं। जो साधु साधु-संघ के प्रधान होते हैं,

आचार का स्वयं पालन करते हैं और संघ के अन्य साधुओं से उसका पालन करवाते हैं, वे 'आचार्य' होते हैं। जो साधु शास्त्र का अभ्यास स्वयं करके दूसरों को उसका अभ्यास करवाता है तथा धर्म का उपदेश किया करता है, वह होता है, उपाध्याय'। शांन्त, निःस्पृह, जितेन्द्रिय, अपरिग्रही व्यक्तियों को 'साधु' की उपाधि मिलती है।

इन वन्दनीय पंच परमेष्ठी में अर्हन्त या तीर्थंकर की ही विशिष्ट प्रतिमाएं जैन-मन्दिरों में स्थापित की जाती हैं। इनके पूजन का विविध विधान भी ग्रन्थों में किया गया है। यह पूजा-विधि वैदिक देवताओं की पूजा-विधि से ही बहुशः सादृश्य रखती है। पूजन का फल मोक्ष की प्राप्ति ही है। यही जीवन का चरम लक्ष्य है। द्रव्य-पूजा तथा भाव-पूजा--दोनों प्रकार की पूजा में पहली बाह्य पदार्थों के द्वारा है और दूसरी मानसिक। दोनों के संयोग से ही पूजा-विधान की पूर्णता सम्पन्न होती है।[1]

जैनदर्शन और धर्म की विशिष्टता

किसी भी धर्म की विशिष्टता जानने के लिए उसके आचार-मार्ग का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। आचार-मार्ग के प्रतिपादन में ही तो धर्म का धर्मत्व निविष्ट रहता हैं। आचार ही प्रथम धर्म है—**आचारः प्रथमो धर्मः**। भारतवर्ष की पवित्र भूमि पर धर्म का दर्शन के साथ सामंजस्य सदा से पूर्ण रूप से स्थापित किया गया है। दर्शन का मूल्य है सैद्धान्तिक; धर्म का महत्व है व्यावहारिक। धर्म वही है, जिससे लौकिक उन्नति तथा पारमार्थिक कल्याण की सिद्धि हो। भारत के विद्वान् धर्म की महत्ता केवल ऐहिक जीवन के लिए ही नहीं मानते, प्रत्युत पारलौकिक कल्याण से उसका सम्बन्ध है। महर्षि कणाद के शब्दों में धर्म का लक्षण है—**यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**। पाश्चात्य देशों में धर्म और दर्शन में पारस्परिक उग्र विरोध रहा है। वहां धर्म दर्शन का बाधक रहा है, साधक नहीं; विरोधी रहा है, सहायक नहीं। परन्तु भारतवर्ष में धर्म और दर्शन में गहरी मैत्री

[1]विशेष के लिए देखिये पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री कृत 'जैन धर्म' पृष्ठ १२३ से १३३

रही है। दोनों का आविर्भाव इसीलिए हुआ है कि वे तीनों ताप से संतप्त जनता की शान्ति के लिए, क्लेशबहुल संसार से निवृत्ति पाने के लिए, आनन्दमय मोक्ष की सिद्धि के लिए, सुन्दर तथा निश्चित मार्ग का उपदेश देते हैं। दर्शन सिद्धान्त' का साधक है तो धर्म व्यवहार का प्रतिपादक है। धर्म और दर्शन में घनिष्ठ सामंजस्य है, समन्वय है। बिना धार्मिक आचार द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट किये धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है। धर्म का प्रासाद खड़ा करने के लिए दर्शन नींव रखता है। धर्म के सहयोग से भारतीय दर्शन की व्यापक व्यावहारिक दृष्टि है और दर्शन की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित होने के कारण भारतीय धर्म आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है तथा वह अपनेको तर्कहीन विचारों तथा विश्वासों से बचाने में समर्थ हुआ है। दुःख की निवृत्ति की खोज से धर्म उत्पन्न होते हैं और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का एकमात्र उपाय यही दर्शन है। धर्म और दर्शन के इस मंजुल समन्वय की भव्य झाकी हमें जैनधर्म में विशेष रूप से दीख पड़ती है।

जैनधर्म की महती विशिष्टता है—आचार पर विशेष आग्रह। धर्म के व्याख्याता तीर्थंकर के सामने सबसे महत्वपूर्ण समस्या है जगत् के दुःख का निवारण। जिधर भी दृष्टि डालिये उधर ही दुःखों का समुदाय तुमल तरंगों के समान थपेड़ा मारकर हमारे जीवन-सिन्धु को क्षुब्ध बनाये रहता है। इस दुःख-क्षोभ से आत्मा को बचाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य है। प्रत्येक प्राणी की आत्मा अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, आदि महान् गुणों से विशिष्ट है। महावीर मनुष्य के स्वातन्त्र्य के उपासक हैं। जिसमें अनन्त वीर्य भरा हुआ है, भला वह किसीका दास बन सकता है? परन्तु मनुष्य जगती-तल पर सर्वत्र ही दास बना हुआ है, कहीं वह बाह्य प्रभु की दासता में आबद्ध है तो कहीं अपनी वासनाओं की आन्तरिक दासता से जकड़ा हुआ है। इस दासता से आत्मा को उन्मुक्त करना ही जैन-शास्त्रों का उद्देश्य है। कर्म के कारण ही जीव को बन्धन प्राप्त होता है। कर्म ही दासता का कारण है। जैनधर्म में कर्म का विवेचन बड़ा ही सांगोपांग है। समग्र कर्म का क्षय हो जाना ही मोक्ष कहलाता है—**कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः** (तत्वार्थसूत्र १०।३)

मोक्ष उत्पन्न होने से पहले केवल-उपयोग (सर्वज्ञत्व–सर्वदर्शित्व) की उत्पत्ति जैनशास्त्रों में अनिवार्य मानी गई है। कैवल्य के प्रतिबंधक चार प्रकार के कर्म होते हैं—मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय। इन सबमें मोहनीय सबसे अधिक बलवान है। अतः उसके नाश के बाद ही अन्य कर्मों का नाश शक्य होता है। मोह के प्रभुत्व की महिमा सब धर्मों में स्वीकार की गई है। योगदर्शन में पंचविधि क्लेशों में अविद्या ही अन्य क्लेशों में आदिम है; **अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः** (योगसूत्र १२।३) अविद्या का अर्थ है—अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्म में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्मबुद्धि रखना। पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग को नित्य मानना, परम बीभत्स अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, दुःखदायी जगत् के पदार्थों में सुख मानना तथा शरीर, इन्द्रिय और मन को आत्मा मानना—अविद्या के प्रत्यक्ष दृष्टान्त हैं। यही चतुष्पाद अविद्या क्लेश-सन्तान का बीज है तथा विचार के साथ कर्माशय की उत्पादिका है। पतंजलि का स्पष्ट कथन है—**अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्** (योगसूत्र २।४)। बौद्धधर्म में भी अविद्या को द्वादश निदानों में आदिम निदान माना गया है। बौद्ध मत का मुख्य सिद्धान्त है—प्रतीत्यसमुत्पाद, जिसके अनुसार अविद्या ही संस्कार, विज्ञान, नामरूप आदि के उदय द्वारा जरा-मरण की उत्पादिका है। ठीक इसी भांति मोहनीय कर्मों का सर्वातिशायी प्रभुत्व होता है। बिना इनके नाश हुए न अन्य कर्मों का नाश होता है और न तदुपरान्त केवलज्ञान का उदय ही होता है। अतः समग्र कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होने से ही मुक्ति होती है। आत्यन्तिक का अर्थ है—पूर्वबद्ध कर्म का तथा नवीन कर्म के बांधने की योग्यता का अभाव। प्राचीन कर्मों के नाश के साथ-साथ नवीन कर्मों में बन्धन की शक्ति न होने पर ही मोक्ष माना जा सकता है। आत्यन्तिक क्षय का यही अर्थ है।

आत्मा को परमात्मा के रूप में परिणत कर देना ही जैनधर्म का लक्ष्य है। परमात्मप्रकाश के रचयिता योगीन्दु के अनुसार आत्मा के तीन स्तर होते हैं—१. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा, ३. परमात्मा। साधारण लोगों की दृष्टि में यह शरीर ही आत्मा है—यही हुआ बहिरात्मा; शरीर, मन तथा इन्द्रिय से भिन्न, परन्तु मोहनीय आदि कर्मों के वशीभूत होनेवाला

जीव ही अन्तरात्मा के नाम से पुकारा जाता है। यही अन्तरात्मा साधन विशेषों के द्वारा वशीभूत होकर परमात्मा बन जाता है। परमात्मा कौन है ? इस आत्मा से अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं। परमात्मा का रूप देखिये—

जो णिय-भाउ न परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ॥

—परमात्मप्रकाश १।१८

अर्थात्—जो अपने भाव—अनन्तज्ञान आदि नहीं छोड़ता, और जो दूसरे के भाव को ग्रहण नहीं करता, जो नियम से जगत्त्रय में तीनों काल में विद्यमान रहनेवाले समस्त पदार्थों को जानता है, वही शान्त स्वरूप शिव होता है। योगीन्दु का कथन है कि जैसे आकाश में एक ही उदित नक्षत्र जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही जिसके केवलज्ञान में जगत् प्रतिबिम्बित होता है वही अनादि परमात्मा होता है—

गयणि अणंति वि एक्क उडु जेहउ भुअणु विहाइ।
मुक्कहँ जसु पए बिम्बियउ सो परमप्पु अणाइ ।।

—परमात्मप्रकाश १।३८

जैनियों के अनुसार परमात्मा जगत् के कर्तृत्व आदि गुणों से विशिष्ट आत्मा से पृथक् नहीं होता (जैसा न्याय वैशेषिक मानता है) प्रत्युत अन्तरात्मा ही कतिपय विशिष्ट साधनों के द्वारा स्वयं परमात्मा बन जाता है।

इन्हीं साधनों के प्रतिपादन में महावीर की शिक्षा का महत्त्व है। संसार में दुःख की सत्ता इतनी बलवती है तथा पद-पद पर हमें आक्रान्त कर रही है कि उससे छुटकारे के लिए उद्योग करना प्रत्येक विवेकशील प्राणी का कर्तव्य हो जाता है। जैनधर्म के अनुसार इसका केवलमात्र उपाय है रत्न-त्रय का सम्पादन—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र। जैनधर्म के अनुसार दर्शन तथा ज्ञान का अन्तर खूब स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है। दर्शन है सच्ची श्रद्धा। जीवों के आध्यात्मिक विकास में श्रद्धा की भूयसी प्रतिष्ठा है। गीता का महत्त्वपूर्ण वचन है—**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**—जो मनुष्य जिस वस्तु की श्रद्धा रखता है, वह वही बन जाता है। श्रद्धा के

आधार पर ही ज्ञान प्रतिष्ठित होता है और इस ज्ञान का उपयोग है चारित्र में। सदाचार के द्वारा साधक भविष्य में होनेवाले नवीन कर्मों को रोक लेता है और इसीके अंगभूत तपस्या के बल पर वह करोड़ों जन्मों के पापों को क्षीण कर देता है। तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का होता है शोषण और चरित्र के द्वारा नवीन कर्मों का प्रतिरोध। इस प्रकार जीव कर्म-प्रपंच से बचकर आत्मकल्याण की ऊंची चोटी पर पहुंचने में समर्थ होता है। भगवान महावीर का स्वयं उपदेश है—

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगण्हइ तवेण परिसुज्झइ॥

समन्वय बुद्धि जैनधर्म में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। वह किसी भी धर्म से न तो विरोध रखता है और न किसी दार्शनिक दृष्टि का अपलाप करता है। वह 'स्याद्वाद' के महनीय सिद्धान्त के द्वारा समग्र सिद्धान्तों में सामंजस्य का पक्षपाती है। जैन मतानुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है—**अनन्त धर्मात्मकमेव तत्त्वम्।** कोई भी वस्तु अनन्त धर्मों का समुच्चय होती है। मानव-बुद्धि केवल एक-दो धर्मों को जानकर उसीकी सत्ता पर आग्रह दिखलाती है, परन्तु वस्तुस्थिति पर विचार करने से प्रत्येक ज्ञान का सापेक्ष होना ही न्याय-संगत प्रतीत हो रहा है। साधारणतया ज्ञान तीन प्रकार के होते हैं—१. दुर्णय, २. नय, ३. प्रमाण। यदि विद्यमान होनेवाली किसी वस्तु को हम विद्यमान ही (सदैव) बतलायें, तो उनके अन्य प्रकारों के निषेध करने के कारण यह ज्ञान दुर्णय (दुष्ट नय) के नाम से पुकारा जाता है। अन्य प्रकारों का बिना निषेध किये वस्तु को सद् (विद्यमान) बतलाना आंशिक ज्ञान से संवलित 'नय' कहलायेगा। विद्यमान वस्तु के विषय में 'सम्भवतः यह है' (स्यात् सत्)[1] यही ज्ञान वस्तुतः सच्चा है, क्योंकि इसमें वस्तु के ज्ञात और अज्ञात समस्त

[1] **'दृष्टि विशेष की अपेक्षा से'—स्यात् शब्द का अर्थ लेना उचित है। स्वाद्वाद-सिद्धान्त किसी वस्तु-विवेचना को 'यह ही है' कहकर एकान्त पक्ष में जिज्ञासु को नहीं डालता; बल्कि वह स्पष्ट रूप से—'सम्भवतः' नहीं, वस्तु-विवेचना के रूप-विशेष को 'यह भी है' निर्दिष्ट करके पूर्ण सत्य के दर्शन कराता है।**

धर्मों का एकत्र संकलन हो जाता है—यही है प्रमाण। 'स्याद्वाद' ही सच्चा प्रमाण है। स्याद्वाद के मानने के कारण जैनधर्म की दृष्टि अतिशय व्यापक तथा समन्वयी प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए उसकी आत्माविषयक कल्पना को हम ले सकते हैं। आत्मा को कुछ दार्शनिक 'सर्वगत' मानते हैं, कुछ 'जड़' मानते हैं, बौद्ध लोग शून्य मानते हैं और जैन लोग उसे देह-प्रमाण मानते हैं। ये भिन्न-भिन्न दृष्टियां व्यवहार नय का फल हैं, परन्तु यदि 'निश्चय नय' से विचार किया जाय, तो आत्मा यह चारों स्वयं है। इस विषय में योगीन्दु का कथन महावीर के 'स्याद्वाद' दृष्टि का ही प्रतीक है—

अप्पा जोइय सव्वगउ अप्पा जडु वि वियाणि।
अप्पा देह-पमाणु मुणि अप्पा सुण्णउ वियाणि॥

——परमात्मप्रकाश १।५१

आगे के अनेक दोहों के द्वारा लेखक ने इस दोहा के समन्वयवाद का प्रमाणपुरःसर वर्णन किया है। यह समन्वय अन्यत्र मिलना नितान्त दुष्कर है।

महावीर के उपदेश की महत्ता इस कारण विशेष है कि वे उनके स्वानुभव पर अवलम्बित हैं। विद्वान् तथा यति के उपदेश का अन्तर तो यही कारण होता है। विद्वान् का ज्ञान पुस्तक के आधार पर ही अवलम्बित रहता है। वह उसकी सत्यता की परीक्षा स्वानुभूति की कसौटी पर कभी नहीं करता। '**यथाश्रुतं तथा लिखितम्**'—बस उसका यही महामन्त्र होता है, परन्तु यति या साधु-सन्त का उपदेश अपने निज अनुभव के ऊपर ही अवलम्बित रहता है। इसीलिए उसमें प्रभावोत्पादन की महती शक्ति है। परमार्थ का मुख्य प्रमाण है—स्वानुभूति—**स्वानुभूत्येक मानाय नमः शान्तायतेजसे**। अपनी अनुभूति ही परमार्थ की सत्ता के लिए मुख्य प्रमाण है। महावीर की शिक्षाएं स्वानुभूति की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित हैं, इसीलिए उनमें इतना ज़ोर दिखाई पड़ता है, इतनी प्रभावशालिता दीख पड़ती है। एक-दो उदाहरण देखिये—

कुसग्गे जह ओस बिंदुए
थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।

एवं मानुसाण जीविश्रं
समयं गोयम ! मा पमायए ।।

आशय है कि हे गौतम, जैसे घास के अग्रभाग पर तरल ओस की बूंद थोड़े ही समय तक टिक सकती है, वैसे ही शरीरधारियों का जीवन है। अतः थोड़े से समय के लिए भी प्रमाद मत करो। इस गाथा की उपमा इतनी सुन्दर, सटीक तथा सरस है कि यह उपदेश चित्त पर गहरा प्रभाव जमाता है। स्मरण रखना चाहिए कि जीवन की असारता की शिक्षा हृदय पर इतनी चोट करती है कि कहा नहीं जा सकता। इस असारता को हृदयंगम बनाने के लिए कुश के सिरे पर लटकनेवाले ओस-बिन्दु की उपमा बड़ी ही सुन्दर है। इसके भीतर स्वानुभूति का पर्याप्त पुट है।

महावीर ने त्याग के महनीय गुणों की ओर साधकों की दृष्टि फेंकी है। आर्यसंस्कृति के मूल में यही सर्वातिशायी पदार्थ है-त्याग। वैदिक ऋषि कहते हैं--

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।

त्याग से धन को भोगो। किसीके धन को खसोटने का लालच न करो। अन्य धर्मवालों की दृष्टि स्वधन को अपने कार्य में लगाने के प्रति है। और आजकल मानव-समाज दूसरे के धन को लूट-पाटकर अपने स्वार्थ में लगाने का ही पक्षपाती है। आधुनिक संसार की मनोवृत्ति का क्या यह सच्चा वर्णन नहीं है ? परन्तु भारतीय संस्कृति का आधार यह नहीं है। अन्यत्र दिखलाया गया है कि भारतीय संस्कृति जिन तीन तकारों--त्याग, तप और तपोवन--पर आश्रित रहती हैं, उनमें 'त्याग' ही मुख्य तथा सर्वातिशायी है। महावीर स्वामी त्याग की बड़ी ही सुन्दर परिभाषा बतलाते हैं--

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ ति वुच्चइ ।।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी जो मनुष्य सुन्दर तथा प्रिय भोगों को प्राप्त करके भी उनकी ओर पीठ करता है अर्थात् उन भोगों में अलिप्त रहता है; इतना ही नहीं, अपने अधीन होनेवाले भोगों को भी वह छोड़ता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है। अप्राप्त तथा अप्राप्य भोगों का परित्याग

करनेवाले कहां नहीं है ? न मिलनेवाले अंगूर को खट्टा बतानेवाली लोमड़ी किस समाज में नहीं होती ? परन्तु यह व्यक्ति त्यागी नहीं है ! त्याग के लिए आवश्यक होता है--ज्ञानपूर्वक वस्तुप्रहाण। यह पूर्ण ममता के परित्याग तथा पूर्ण वैराग्य के होने पर ही संभव होता है। इसी प्रसंग में महावीर ने इन्द्रियासक्ति का सुन्दर दृष्टान्तों के द्वारा वर्णन किया है। वह नितान्त हृदयावर्जक है। एक-एक इन्द्रिय के वश में पड़ा हुआ जीव अपना विनाश प्राप्त करता है । उस मनुष्य को क्या कहा जाय, जो पांच इन्द्रियों के पाश में जकड़ा हुआ अपना हतजीवन व्यतीत करता है ?

महावीर की शिक्षा में अहिंसा का स्थान बड़ा ही ऊंचा है। आजकल संसार हिंसा का क्रीड़ा-निकेतन बना हुआ है। जिधर देखिये उधर ही हिंसा देवी का प्रचण्ड ताण्डव लोगों के हृदय में उन्माद उत्पन्न कर रहा है। संसार को इस घनघोर विनाश से बचाने का एक ही मार्ग है और वह है अहिंसा-व्रत का पालन। 'अहिंसा' का प्रयोग हम व्यापक अर्थ में कर रहे हैं ! प्राणियों के प्राणनाश को ही हम हिंसा नहीं मानते, प्रत्युत हिंसा का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। मनसा वाचा कर्मणा तीनों के द्वारा हिंसा-निवृत्ति ही महावीर स्वामी को मान्य है। महावीर के वचन हैं--

एवं खु नाणिणो सारं, जं ण हिंसइ किंचण ।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ॥

इस प्रकार महावीर ने त्याग तथा तपस्या के आचरण पर तथा अहिंसा व्रत के पालन पर विशेष महत्त्व दिया है । ये ही भारतीय संस्कृति के मूल आधार हैं। इन्हींके ऊपर हमारी प्राचीन अथ च मृत्युञ्जय सभ्यता आज भी टिकी हुई है। भारतीय धार्मिक परम्परा का ही निर्वाह हमें महावीर की शिक्षा में मिलता है। उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों को ग्रहण कर उन्होंने अपने मत का परिष्कार किया। महावीर तो अन्तिम तीर्थ-कर हैं। उनसे प्राचीन तेईस तीर्थंकरों ने भिन्न-भिन्न समयों में इस धर्म का भव्य उपदेश प्राणियों के हितार्थ किया । आजकल के इतिहासज्ञ इन समस्त तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता में विश्वास नहीं करते, परन्तु प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ को ऐतिहासिक व्यक्ति मानना ही पड़ेगा। श्रीमद्-भागवत के पांच स्कन्द (अ० ४-६) में ये मनुवंशी राजा नाभि तथा महारानी

मरुदेवी के पुत्र बतलाये गए हैं । इनके सिद्धान्त का जो वर्णन यहां उपलब्ध होता है, वह जैनधर्म के सिद्धान्तों से मेल खाता है। ऋषभ के ही ज्येष्ठ पुत्र भरत (या जड़ भरत) के नाम से यह देश 'भारतवर्ष' के नाम से विख्यात है । अतः ऋषभनाथ को ऐतिहासिक व्यक्ति मानना नितान्त उचित है। इन्हींकी परम्परा महावीर के सिद्धान्तों में अभिव्यक्त होती है। हम महावीर के मत को उपनिषन्मूलक धर्मों से पृथक् नहीं मानते । जिस प्रकार हिमालय में स्थित मानसरोवर से निकलकर विभिन्न जलधाराएं इस भारत भूमि को आप्यायित तथा उर्वर बनाती हैं, उसी प्रकार उपनिषदों से विभिन्न विचारधाराएं निकलकर इस देश के मस्तिष्क को पुष्ट तथा तृप्त करती हैं। भारतवर्ष में पनपनेवाले समग्र धर्म-वृक्षों के मूल में विराजनेवाली है यही उपनिषत्—ब्रह्मविद्या और इसी ब्रह्मविद्या के आधार पर उगनेवाले जैनधर्म का यह कल्पद्रुम है, जिसकी शीतल छाया में जाकर मानव मात्र कल्याण साधन कर सकता है। महावीर का यह उपदेश कभी न भूलना चाहिए--

जर जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हावंति, ताव धम्मं समायरे ।।

—जबतक बुढ़ापा नहीं सताता, जबतक व्याधियां नहीं बढ़तीं, जबतक इन्द्रियां हीन-अशक्त नहीं बनतीं, तबतक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए। उसके बाद होता ही क्या है ? बहुत ही ठीक है यह कथन, परन्तु इसका उपयोग तब हो सकता है, जब इसको व्यवहार में लाकर इसके अनुसार अपना जीवन बनाया जाय। बिना क्रिया के ज्ञान बोझ ही है '**ज्ञानं भारः क्रियां विना**'। महावीर के उपदेश का संकेत इसी ओर है।

: ३ :

बौद्ध-दर्शन

बौद्धधर्म विश्व के महनीय धर्मों में अन्यतम है तथा बौद्ध-दर्शन संसार के प्रख्यात तत्त्वज्ञानीय सम्प्रदायों में एक प्रमुख विचारधारा का प्रतिनिधि है। भगवान् बुद्ध इसी भारत-भूमि पर अवतीर्ण हुए और उन्होंने अपने समय की परिस्थिति का निरीक्षण कर जिस धर्म का चक्र-प्रवर्तन (आरम्भ) किया, वह इतना सजीव, इतना व्यावहारिक तथा इतना मंगल-साधक था कि आज ढाई हजार वर्षों के अनन्तर भी उसका प्रभाव मानव-समाज पर तनिक भी कम नहीं हुआ है। एशिया के केवल एक छोटे-से पश्चिमी भाग को छोड़कर इस विस्तृत भूखण्ड पर, जिसमें चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, बर्मा, थाइलैण्ड, हिन्दचीन, श्रीलंका आदि देश सम्मिलित हैं, इसकी प्रभुता अतुलनीय है। आज के विद्वानों ने यह धारणा बना रखी है कि बौद्ध धर्म नैराश्यवादी है, क्योंकि इसके द्वारा उद्घाटित आर्यसत्यों में 'दुःख' ही प्रथम सत्य के रूप में गृहीत किया गया है, परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। यह सच है कि बुद्ध ने जीवन की समस्याओं के विश्लेषण में 'दुःख' की सत्यता मानी है, परन्तु साथ-ही-साथ उन्होंने दुःख के 'समुदय' (कारण) तथा दुःख के 'निरोध' (निर्वाण) को बतलाकर उस मार्ग का स्पष्टतः प्रतिपादन किया है, जिसपर चलने से निर्वाण की प्राप्ति होती है। इस प्रकार मनुष्य की स्वतन्त्रता, स्वावलम्ब तथा महत्ता का प्रतिपादन करना बौद्ध-धर्म की महती विशिष्टता है। इस धर्म ने करोड़ों प्राणियों का मंगल-साधन किया है तथा आज भी उनके आत्यन्तिक कल्याण की साधना में लगा हुआ है। विश्व में धर्मानुयायियों की गणना की दृष्टि से विचार किया जाय तो बौद्ध-धर्म ही सर्वप्रथम ठहरता है। ईसाई धर्म के इतने विभिन्न सम्प्रदाय हैं कि विद्वानों की दृष्टि में वह एक धर्म न होकर, अनेक और परस्पर-विरोधी सम्प्रदायों का एक विराट समुच्चय मात्र है।

बुद्ध का जीवन-चरित

बुद्ध का जन्म आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व प्राचीन कोशल जनपद (वर्तमान उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग में स्थित) के मुख्य नगर कपिलवस्तु में हुआ था। इनके पिता का नाम था राजा शुद्धोदन, जो शाक्य गणतन्त्र के मुखिया थे। माता का नाम था महामाया, जो पुत्र-जन्म से छः या सात दिनों के बाद ही परलोक सिधार गईं और इनके पालन का भार इनकी विमाता प्रजावती गौतमी पर पड़ा। इनका बचपन का नाम सिद्धार्थ था। विवाह कर देने पर भी इनका चित्त विषयों के चाकचिक्य में कभी नहीं रमा। महल से बाहर घूमने के समय इन्होंने चार बार में चार व्यक्तियों को देखा—एक वृद्ध पुरुष, रोगी, शव (मुर्दा) तथा संन्यासी। उसी समय इन्होंने उन्तीस साल के वय में युवा पत्नी के प्रेममय आलिंगन को, नवजात शिशु के छोह को तथा बड़े साम्राज्य के वैभव को लात मारकर विरक्त होकर जंगल का रास्ता लिया। सिद्धार्थ का यह गृहत्याग 'महाभिनिष्क्रमण' के नाम से प्रसिद्ध है। ये जंगल में भटकते रहे और 'आराडकलाम' तथा 'रुद्रक रामपुत्र' नामक विद्वानों से इन्होंने तत्त्व-ज्ञान तथा योग-साधना की प्रक्रिया सीखी। छः सालों तक इन्होंने कठिन तपस्या के द्वारा सुखाकर अपने शरीर को कांटा बना दिया, परन्तु इन्हें अपने अभीष्ट ज्ञान (संबोधि) की प्राप्ति नहीं हुई। तब इन्होंने गया के पास 'उसवेला' नामक स्थान में समाधि के द्वारा आर्यसत्यों का साक्षात्कार किया और उसी दिन से (४७१-विक्रम पूर्व, वैशाखी पूर्णिमा) ये बुद्ध (जगा हुआ) कहलाने लगे। उस समय सिद्धार्थ केवल पैंतीस साल के नवयुवक थे। उसी वर्ष की आषाढ़ी पूर्णिमा को उन्होंने काशी के समीप मृगदाव (वर्तमान सारनाथ) में कौण्डिन्य आदि पंचवर्गीय भिक्षुओं के सामने अपने धर्म का प्रथम उपदेश किया, जो 'धर्मचक्रप्रवर्तन' के नाम से बौद्ध साहित्य में प्रसिद्ध है।

इसके अनन्तर इन्होंने अपनी शेष आयु धर्म के विपुल प्रचार तथा प्रसार में बिताई। इन्होंने अपने शिष्य भिक्षुओं को एक सूत्र में संगठित करने के लिए संघ की स्थापना की और भिक्षुओं के आचार के निमित्त विनय का उपदेश दिया, जो 'विनयपिटक' नामक पालिग्रन्थ में संगृहीत है। जनता के हृदय तक सीधे पहुंचने के लिए इन्होंने अपने उपदेशों को लोकभाषा के

द्वारा देना स्वीकार किया, जो आजकल 'पाली भाषा' के नाम से प्रसिद्ध है। अस्सी साल की आयु में ४२६ विक्रमपूर्व वैशाखी पूर्णिमा को कुशीनगर (आजकल 'कसिया', जिला गोरखपुर) में बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया। बौद्ध धर्म के इतिहास में वैशाखी पूर्णिमा बड़ी पवित्र मानी जाती है, क्योंकि इसी तिथि को बुद्ध के जीवन की तीन महनीय घटनाएं घटीं—उनका जन्म, संबोधि (ज्ञान-प्राप्ति) तथा निर्वाण (मोक्ष)। इसीलिए बौद्ध देशों में वैशाखी का पर्व बड़े उत्साह, उल्लास तथा श्रद्धा के साथ मनाया जाता है। बौद्धधर्म के चार तीर्थ-स्थल हैं—१. लुम्बिनी जहां गौतम का जन्म हुआ था; २. बोधगया, जहां उन्हें संबोधि प्राप्त हुई; ३. सारनाथ, जो उनके उपदेश का प्रथम स्थान था तथा ४. कुशीनगर, जहां बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुआ। आज भी संसार भर के बौद्ध यात्री इन तीर्थों के दर्शन करके पुण्यसंभार का अर्जन करते हैं तथा अपने को भाग्यशाली मानते हैं। इन तीर्थों में बोधगया को छोड़कर तीनों तीर्थ उत्तर प्रदेश के ही पूर्वी भाग में हैं। बोधगया बिहार राज्य में एक प्रख्यात नगर है।

बौद्ध साहित्य

बौद्धधर्म की दो प्रधान शाखाएं या सम्प्रदाय हैं—१. हीनयान तथा २. महायान। इनमें हीनयान के मत का वर्णन पाली भाषा में निबद्ध त्रिपिटकों में उपलब्ध होता है। यह मत थेरवादी या स्थविरवादी भिक्षुओं का है, जो आजकल लंका, स्याम, बर्मा आदि देशों में पाये जाते हैं। महायान के आधारभूत ग्रन्थ संस्कृत में रचित हैं। इस साहित्य का संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जाता है।

पिटक का अर्थ है पिटारी अर्थात् संग्रह। बुद्ध के वचन तीन पिटकों में संगृहीत हैं, जो विषय की विशिष्टता लेकर विरचित हैं।

१. **सुत्तपिटक**—इसमें बुद्ध के उपदेश संगृहीत हैं। इसके पांच निकाय हैं—(क) दीघनिकाय, (ख) मज्झिमनिकाय, (ग) संजुत्तनिकाय, (घ) अंगुत्तर निकाय तथा (ङ) खुद्दक निकाय। अन्तिम निकाय में पंद्रह छोटे-छोटे ग्रन्थ सम्मिलित किये जाते हैं, जिनमें 'धम्मपद' तथा 'जातक' अत्यन्त

लोकप्रिय और प्रसिद्ध हैं। जातक बुद्ध के प्राचीन जीवन से सम्बद्ध पांच सौ पचास कथाओं का एक विराट संग्रह है और 'धम्मपद' चार सौ तेईस उपदेशात्मक गाथाओं का एक बड़ा ही रोचक ग्रन्थ है। बौद्धों के अनुसार बुद्ध के उपदेश इसी ग्रन्थ में संक्षेप में दिये गए हैं। यह मान्यता सत्य प्रतीत होती है, क्योंकि बौद्ध-दर्शन के और बौद्ध जीवन-पद्धति के प्रमुख सिद्धान्तों की यहां विवेचना की गई है। इसमें भी अन्य बौद्ध ग्रन्थों की भांति यज्ञ-याग तथा आत्मप्रपीड़क हठ-योगों की निन्दा है। इसका विशेष आग्रह शील पर है। यह छोटी-सी पुस्तक साहित्यिक गुणों से परिपूर्ण है। एक गाथा में कहा गया है कि धर्म-ग्रन्थों का कितना ही पाठ करे, लेकिन यदि प्रमाद के कारण मनुष्य उन धर्मग्रन्थों के अनुसार आचरण नहीं करता, तो दूसरों की गायें गिननेवाले ग्वालों की तरह वह श्रमणत्व का भागी नहीं होता (गाथा १६)

२. **विनयपिटक**—'विनय' का अर्थ है नियम। इस पिटक में भिक्षु और भिक्षुणियों के आचार तथा व्यवहार-सम्बन्धी नियम दिये गए हैं। इन नियमों का यथावत् पालन न करने से प्रायश्चित्त भी करना पड़ता है। पालिरूप में यह पिटक पांच भागों में विभक्त है—

(अ) खन्धक : (१) महावग्ग
(२) चुल्लवग्ग।
(आ) सुत्तविभंग : (३) पाराजिका से निस्सग्गिय तक
(४) पाचित्तिय से सेखिय तक और
भिक्खुणी-विभंग
(५) परिवार।

इसमें पातिमोक्ख सुत्त (संस्कृत में 'प्रातिमोक्षसूत्र') विनयपिटक का मुख्य सार है। पालिपिटक का यह सबसे पुराना अंश है, क्योंकि इसकी भाषा निकायों की भाषा से भी प्राचीन है।

३. **अभिधम्मपिटक**—इस पिटक का नाम 'अभिधर्म' है। इसके अनेक कारण असंग ने एक कारिका में बतलाये हैं। सत्य, बोधि, विमोक्ष, सुख आदि के उपदेश देने के कारण इसमें निर्वाण के अभिमुख धर्म प्रतिपादित हैं; एक ही धर्म के अनेक प्रभेद बतलाये गए हैं। दूसरे मतों के खण्डन करने के कारण तथा सुत्तपिटक के सिद्धान्तों की उचित व्याख्या करने के कारण यह

नामकरण किया गया है—

अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मश्च ।

—महायान सूत्रालंकार ११।३

इसके सात विभाग हैं--धम्म संगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपंञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान । सच तो यह है कि जहां सुत्तपिटक आचार-मार्ग का प्रतिपादन करता है, विनयपिटक व्यावहारिक नियमों का तथा उनके प्रायश्चित्तों का विवरण देता है, वहां अभिधम्मपिटक बौद्ध तत्त्व-ज्ञान तथा मनोविज्ञान का प्रचुरता से वर्णन करता है। फलतः दार्शनिक दृष्टि से इसका त्रिपिटक में प्रमुख स्थान है।

महायान के आचार तथा तत्त्व-ज्ञान कतिपय प्राचीन संस्कृत में रचित सूत्रों के आधार पर आश्रित हैं, जिनमें नौ ग्रन्थों की प्रमुखता है—

१. सद्धर्म पुण्डरीक, २. प्रज्ञा पारमिता सूत्र, ३. गण्डव्यूह सूत्र, ४. दशभूमिक सूत्र, ५. रत्नकूट, ६. समाधिराज सूत्र, ७. सुखावती व्यूह, ८. सुवर्णप्रभास सूत्र तथा ९. लंकावतार सूत्र । इनमें आदिम तथा अन्तिम ग्रन्थ अपने सिद्धान्त-प्रतिपादन के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। 'सद्धर्म पुण्डरीक' संस्कृत गद्य और पद्य का मिश्रण है, जिसमें गद्य की भाषा तो विशुद्ध संस्कृत है, परन्तु पद्य की भाषा मिश्रित संस्कृत है––संस्कृत तथा पालि का मिश्रित रूप। यह ग्रन्थ उस युग की रचना है जब हीन-यान महायान के रूप में संक्रमण कर रहा था। फलतः यह बौद्धधर्म की संक्रान्ति का सूचक ग्रन्थ है। इसलिए इसमें कतिपय सिद्धान्तों की मान्यता केवल हीनयानियों में है और अन्य सिद्धान्तों की मान्यता महायानियों को स्वीकृत है। 'लंकावतार सूत्र' विज्ञानवादियों का प्रमुख ग्रन्थ है, जिसमें विज्ञान या चित्त ही एक सत्ता के रूप में प्रदर्शित किया गया है। मैत्रेयनाथ ने इसी ग्रन्थ से विज्ञानवाद के तथ्य को पल्लवित तथा प्रतिष्ठित किया। ये तो प्राचीन सूत्र हैं, जो महायानियों को सामान्यतः मान्य तथा स्वीकृत हैं। महायानियों के दो प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय थे। १. विज्ञानवाद अथवा योगाचार; २. माध्यमिक अथवा शून्यवाद। इन मतों के आचार्य भिन्न-भिन्न हुए, जिन्होंने अपने प्रौढ़ ग्रन्थ लिखकर विशिष्ट मत का प्रति-पादन किया।

वज्रयान का भी अपना विपुल साहित्य है, जो तन्त्र के ऊपर आधारित है। स्थानाभाव के कारण इस मत का प्रतिपादन इस छोटे ग्रंथ में नहीं किया गया है।

बुद्ध की शिक्षा

तथागत बुद्ध का जीवन-दर्शन आचार से सम्बन्ध रखता है। क्लेश-बहुल प्रपंच से मुक्ति पाने का सरल मार्ग है आचार का यथावत् पालन। बुद्ध से उनके शिष्य जब अध्यात्म के रहस्यमय गूढ़ विषयों पर प्रश्न करते थे, तब बुद्ध कोई उत्तर न देकर मौन हो जाया करते थे। इस मौनावलम्बन का अर्थ यह है कि ये 'अतिप्रश्न' हैं, जिनका प्रतिपादन करना जितना दुरूह है उतना ही अनावश्यक है। इस विषय में बुद्ध ने बड़े सुन्दर दृष्टान्त तथा उपमाएं दी हैं। ब्राह्मणों के आत्मवाद के विषय में 'दीघनिकाय' के 'पोट्ठपाद सुत्त' में उनका कथन है कि आत्मा को स्वर्ग में सुख भोगते हुए किसने देखा? बिना देखे उसकी चाह रखना नितान्त उपहासास्पद है। बुद्ध के वचन हैं—कोई पुरुष ऐसा कहे कि 'इस जनपद में जो जनपद कल्याणी (देश की सुन्दरतम स्त्री) है, मैं उसे चाहता हूं।' इसपर लोग उससे पूछते हैं कि जिस स्त्री की तू इच्छा करता है, वह क्षत्रियाणी है, ब्राह्मणी है, वैश्यस्त्री है या शूद्री है? अमुक नामवाली या अमुक गोत्रवाली है; लम्बी, छोटी या मझले कद की है? ऐसे प्रश्न का उत्तर यदि वह 'नहीं' कहता है, तो उसके वचन को कोई प्रमाण मान सकता है? नहीं, कभी नहीं। इसी प्रकार आत्मवादी ब्राह्मणों के वचन भी प्रमाण नहीं माने जा सकते। दूसरा दृष्टान्त तो इससे कहीं अधिक रोचक और सुन्दर है। कोई पुरुष महल पर चढ़ने के लिए चौरस्ते पर सीढ़ी बनावे। तब उसको लोग यह कहें—"हे पुरुष जिस प्रासाद के लिए तू सीढ़ी बनाता है, जानता है वह प्रासाद पूर्व दिशा में है, दक्षिण दिशा में, पश्चिम दिशा में या उत्तर दिशा में है? ऊंचा, नीचा या मझोला है? ऐसा पूछने पर 'नहीं' कहे। उसको यह कहें—'हे पुरुष, जिसको तू नहीं जानता, तूने नहीं देखा, उस प्रासाद पर चढ़ने के लिए सीढ़ी बना रहा है?' यदि ऐसा पूछने पर

वह हां कहे तो क्या उसका वचन प्रमाणरहित नहीं हो जाता ?

—दीघ-निकाय पृष्ठ ७३

इन उदाहरणों की सहायता से गौतम बुद्ध यह दिखलाना चाहते हैं कि ब्राह्मण-दर्शन में प्रतिपादित 'ग्रात्मा' नामक कोई पदार्थ नहीं है; क्योंकि जब ग्रात्मा को किसीने देखा नहीं, सुना नहीं, ग्रनुभव नहीं किया, तब उसकी सत्ता में कैसे विश्वास किया जाय ? परलोक में उस ग्रात्मा को सुखी बनाने के लिए जो उपाय किये जाते हैं, वे निरर्थक नहीं तो क्या हैं ? जब मूल ही नहीं, तब उसे सींचने के लिए उद्योग करना भी उपहास की ही बात है।

श्रावस्ती के जेतवन में विहार करने के ग्रवसर पर मालुंक्यपुत्त ने बुद्ध से दस मेण्डक प्रश्नों को पूछा कि लोक शाश्वत है ? ग्रशाश्वत है ? ग्रन्तवान् है ? या ग्रनन्त है ? जीव शरीर से भिन्न है या ग्रभिन्न है ? ग्रादि ग्रादि। इसके उत्तर में गौतम ने इन प्रश्नों को 'ग्रव्याकृत' (व्याख्या के ग्रयोग्य) बताया, क्योंकि इन प्रश्नों के उत्तर से ग्राचार-मार्ग की कोई भी समस्या नहीं सुलझती। ग्राचार-मार्ग के लिए उपयोगी साधन हैं वैराग्य, उपशम, ग्रभिज्ञा (=लोकोत्तर ज्ञान) तथा संबोधि (=परमोत्कृष्ट ज्ञान)। उक्त प्रश्नों का उत्तर इनके उत्पादन में तनिक भी सहायता नहीं करता। फलतः इनका उत्तर देना व्यर्थ ग्रौर निरर्थक है। इस विषय में गौतम ने बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। कोई व्यक्ति विष से बुझे बाणों से घायल होकर पीड़ा के मारे बेचैन होकर कराहता हो, ग्रौर उसके हित-चिन्तक सम्बन्धी चिकित्सा के लिए किसी विष-वैद्य को बुलाने के लिए जा रहे हों। उस समय वह रोगी पूछ बैठता है कि वैद्य का नाम क्या है ? उनका गोत्र कौन-सा है ? उनका रंग कैसा है, उनका रूप कैसा है ? इन प्रश्नों के उत्तर पाये बिना मैं उस वैद्य की चिकित्सा कराने के लिए उद्यत नहीं हूं। इसपर उसके संगे-संबन्धी चिल्ला उठते हैं—"यह मूर्खता परले दर्जे की है। तुम्हारी इन व्यर्थ की बातों से क्या लाभ ?वह ग्रपनी विद्या का पारगामी पण्डित है। उसे हम बुला देते हैं। दवा करालो ग्रौर इस ग्रसीम बेचैनी से छुटकारा पाग्रो।" उचित मार्ग भी यही है। हमें ग्राम खाने से काम गुठली गिनने से लाभ नहीं ? इन मेण्डक प्रश्नों के उत्तर पाने का

आग्रह भी इसी कोटि का है। भवरोग से पीड़ित बीमारों की भी ठीक यही दशा है। उन्हें अध्यात्म को लेकर क्या करना है ? उनके लिए तो कर्तव्य-मार्ग की जानकारी पाकर उसपर चलना ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इसी कारण ही बौद्धधर्म आरम्भ में आचारशास्त्र पर ही आग्रह करने के कारण 'नैतिक यथार्थवाद' (एथिकल रीयलीज़्म) के नाम से प्रख्यात है।

बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त

बौद्धधर्म तथा दर्शन कालान्तर में विकास को पाकर नाना रूपों में परिवर्तित हो गया, परन्तु उसके मूल में कतिपय सिद्धान्त आधारभूत होने के हेतु सर्वदा विद्यमान रहे। ये मौलिक सिद्धान्त तीन हैं—

१. सत्ता अविच्छिन्न रूप से प्रवाहशील है,

२. एक में अनेक की और अनेक में एक की उपलब्धि होती है।

३. निर्वाण ही परम शान्त है।

इन सिद्धान्तों को विस्तार से समझने की आवश्यकता है। बौद्धमत में संसार, चाहे वह भौतिक हो या मानसिक या बौद्धिक हो, बाहरी हो या भीतरी, सदा सर्वदा परिवर्तित होता रहता है। हम यह ग्रंथ लेखनी से लिख रहे हैं। यहां लिखने की क्रिया भी देखने में एक समानाकार की प्रतीत होती है, परन्तु वह वास्तव में क्षणिक है, क्षण-भर ठहरकर अतीत के गर्भ में चली जाती है। लिखनेवाला भी प्रतिक्षण में परिवर्तनशील है। 'परिवर्तन' की यह मीमांसा बुद्ध की दार्शनिक जगत् को महती देन है।

१. सत्ता अविच्छिन्नरूप से प्रवाहशील है

हमारे कमरे में जो बिजली का प्रकाश हो रहा है, वह देखने में स्थिर मालूम होता है, किन्तु यथार्थ में यह एक अटूट प्रवाह है, जो बिजली की धारा से 'बल्ब' में प्रत्येक क्षण पैदा होकर चारों ओर व्याप्त हो रहा है। उसी प्रकार जितने भी पदार्थ हैं, चाहे कितने भी ठोस और कठोर क्यों न हों, क्षण-क्षण नये होकर उत्पन्न हो रहे हैं। उनका अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा है। छोटे-से-छोटा ज़र्रा भी दो क्षण तक एक बना नहीं रहता। इसी अनित्यता की भावना करते हुए ग्रीस देश के प्रसिद्ध दार्शनिक हेरेक्लाइट्स ने कहा, "कोई मनुष्य एक नदी में दो डुबकियां नहीं ले सकता। जब

एक डुबकी लेकर वह बाहर निकलेगा और दूसरी लेने की तैयारी करेगा, इतने में नदी का कण-कण बदल जायगा और वह स्वयं भी 'वही' न रहेगा।"

अब प्रश्न हो सकता है कि यदि पदार्थ इतनी गति से प्रवाहित हो रहे हैं तो वे स्थिर क्यों प्रतीत होते हैं और उनकी प्रत्यभिज्ञा कैसे होती है ? इसके उत्तर में बौद्ध-दर्शन का कहना है कि बाह्य भौतिक पदार्थों के साथ 'चित्त' भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहशील है, जिससे उनकी गतिशीलता का भान चित्त को नहीं होता। पौधा धीरे-धीरे बढ़कर एक बड़ा पेड़ हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका विकास प्रत्येक क्षण अनवरत रूप से होता रहता है। किन्तु माली क्या घड़ी-घड़ी उसके परिवर्तन को देख पाता है ? कल्पना करें कि माली पौधे के सामने बैठकर उसे एकटक सप्ताह-भर देखता रहे कि पौधे में किस क्षण परिवर्तन हुआ तो क्या वह उस क्षण को पकड़ सकेगा ? नहीं, उसका विकास इतना सूक्ष्म और इतना अविच्छिन्न है कि यह सम्भव नहीं कि ऐसा कोई क्षण जाना जा सके। हम पदार्थ के जितना नजदीक रहते हैं, उसकी परिवर्तनशीलता का हमें उतना ही कम भान होता है। 'परिवर्तन' का बोध होने के लिए आवश्यक है कि हम उस वस्तु की किसी अतीत अवस्था का चित्र मन में लाकर उसकी वर्तमान से तुलना करें। जब हम किसी बच्चे को एक-दो साल के बाद देखते हैं और उसकी तुलना पहले देखी हुई अवस्था से करते हैं, तब हमें उसमें बड़ा परिवर्तन मालूम होता है। किन्तु, अनवरत उसके साथ रहनेवाली उसकी मां को इस परिवर्तन का पता उतना नहीं लगता।

तट पर स्थित चीजों को ही देखकर चलती नौका पर बैठा आदमी उसकी गति का अन्दाजा करता है। यदि बगल में चलती किसी दूसरी नौका पर वह दृष्टि रखे तो उसे अपनी गति का ठीक-ठीक पता नहीं लग सकता। ठीक उसी तरह सभी ज्ञेय पदार्थ हमें तबतक स्थिर मालूम होते हैं, जबतक हम उनके पहले की किसी स्थिति का ख्याल नहीं करते, किन्तु यथार्थ में ज्ञेय और ज्ञाता (चित्त) दोनों अविच्छिन्न रूप से प्रवाहशील हैं। नदी के तल पर जिस प्रकार एक तरंग गिरते ही दूसरी उठा देती है और वह भी तीसरी, उसी प्रकार सत्ता क्षण-क्षण उत्पन्न होती, स्थित रहती और भंग हो

जाती है और भंग होते दूसरा क्षण उत्पन्न कर देती है। इस तरह मानसिक तथा भौतिक सभी अवस्थाओं की सन्तति अबाध रूप से चल रही है। पानी जमकर बर्फ और जलकर वाष्प हो जाता है। यहां बर्फ, पानी और वाष्प एक ही सन्तति के तीन क्षण हैं। वे एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न भी नहीं और एक भी नहीं हैं—"**न च सो न च अञ्ञो**"।

सूखे घास के खेत के एक कोने में कोई आग जला दे तो वह बढ़ती-बढ़ती दूसरे कोने तक पहुंच जायगी। यह आग वही नहीं है, जो मनुष्य ने जलाई थी, किन्तु उसीसे उत्पन्न होनेवाली सन्तति में होने के कारण भिन्न भी नहीं कही जा सकती। और, इस कोने में भी आग लगाने की जिम्मेदारी उसीपर होगी।

अनित्यता के प्रबल प्रवाह में वस्तु के अत्यन्त परिवर्तित होजाने पर भी हम उसे 'उसी' नाम से जानते रहते हैं, इसका मुख्य कारण है उससे हमारी स्वार्थ-साधना का होते रहना। मैं एक चीज की ओर इशारा करके पूछता हूं—क्या यह बहुत दिन चलेगी? इसका क्या मतलब है? यही न कि क्या यह बहुत दिन तक मेरे स्वार्थ की पूर्ति करती रहेगी? इससे अधिक और क्या? मेरे मित्र के पास लगभग तीस वर्ष से एक बाइसिकिल है। एक-एक करके हरेक पुर्जे को कभी-न-कभी वह बदलवा चुके हैं। सारी साइकिल की कितनी बार मरम्मत हो चुकी है और कितनी बार उसपर रोगन फिर चुका है। लेकिन फिर भी उनका कहना है कि यह उनकी वही साइकिल है, जिसे उन्होंने तीस वर्ष पहले खरीदा था। इतने परिवर्तन होते हुए भी इस साइकिल को वह 'यह वही है' केवल इसीलिए समझते हैं कि इसपर चढ़ने का जो उनका स्वार्थ है, वह इतने दिनों तक बराबर होता रहा है। यद्यपि अपने व्यवहार में हमें 'टिकाऊ', 'वही है' आदि शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ता है, किन्तु परमार्थ की दृष्टि से यह हमारे अज्ञान के परिचायक हैं। जबतक हम अपनी तृष्णा का अन्त नहीं कर देते तबतक हमारी 'सत्काय-दृष्टि' अर्थात् वस्तु को 'वही है' ऐसा समझने की अविद्या बनी रहेगी और हम मानसिक तथा भौतिक अवस्थाओं की अनित्यता को नहीं देख सकेंगे।

आचार्य बुद्धघोष ने अनित्यता की व्याख्या करते हुए कहा है, "यथार्थ रूप से देखा जाय तो एक प्राणी का जीवन-काल एक चित्त क्षणमात्र है।

जिस प्रकार रथ का पहिया चलते हुए या खड़ा रहते अपने एक अल्प अंश पर ही चलता या खड़ा रहता है, उसी प्रकार प्राणी का जीवनकाल एक ही चित्तक्षण है। बीते चित्तक्षण की अवस्था में न वह जीता था, न जीता है और न जीयेगा; भविष्य की चित्तक्षण की अवस्था में वह जीयेगा, न जीता था और न जीता है; वर्तमान चित्तक्षण की अवस्था में वह जीता है, न जीता था और न जीयेगा।

"यदि यही वास्तविकता है तो अतीत (भूत), वर्तमान तथा भविष्यत् से तात्पर्य क्या समझना चाहिए? अतीत, वर्तमान तथा भविष्य की कल्पना हमें उसी चीज के सम्बन्ध में होती है, जिसे हम 'वही' समझते हैं। "पहले यह वैसी नहीं थी, अब यह ऐसी है, भविष्य में यह ऐसी रहेगी।' इसका आशय यह है—'एक ही बनी रहनेवाली सत्ता की कल्पना' के आधार पर पूर्व तथा पर का विचार ही 'काल' है। लेकिन हम देख चुके हैं कि यहां अनित्यता-ही-अनित्यता है। ज्ञान के प्रकाश में एक ही बनी रहनेवाली कोई सत्ता नहीं है। जब अर्हत् अपनी अविद्या का मूलोच्छेद कर अनित्यता का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह पूर्व और पर के बन्धनों से छूट जाता है।"

२. एक में अनेक की और अनेक में एक की उपलब्धि

सामने कुर्सी पड़ी है। वह 'एक चीज' है। किन्तु, पैर, बांह, बेंत की बुनावट, गद्दा आदि तो उसके अनेक अंग हैं—उनमें 'कुर्सी' कौन-सा है? या 'कुर्सी' नाम की कोई सत्ता इन अंगों से पृथक् कहीं स्थित है? यह स्पष्ट है कि न तो इनमें कोई 'एक अंग' कुर्सी है, और न इन अंगों के परे कोई चीज कुर्सी है। अपने भिन्न-भिन्न अंगों और गुणों के आधार पर ही 'कुर्सी' की ख्याति है। इसी प्रकार यदि उसके अंगों को अलग-अलग लेकर देखें तो वे भी अपने में 'एक चीज' नहीं निकलेंगे। उनकी भी ख्याति उनके अपने प्रत्यंगों के आधार पर होती है। जहांतक चले जायं, ऐसा कोई छोटा-से-छोटा कण भी नहीं मिलेगा, जो परमार्थ रूप से अपने में 'एक' हो। एक में अनेक की और अनेक में एक की उपलब्धि होती है। यही नियम मनुष्य पर भी लागू होता है। मनुष्य कोई शुद्ध एक सत्ता नहीं है, किन्तु वह मानसिक (मेंटल) तथा भौतिक (मेटीरियल) अनेक अवस्थाओं का समुदाय-

मात्र है, जो उत्पाद-स्थिति-भंग की अविच्छिन्न धारा में प्रवाहित हो रही है। सभी भौतिक अवस्थाओं को एक साथ 'रूप' और सभी मानसिक अवस्थाओं को एक साथ 'नाम' कहते हैं। 'नाम' की तीन स्थितियां हैं—१. वेदना—विषय के स्पर्श से जो सुख-दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य या उपेक्षा की अनुभूति होती है, उसे समूह-रूप से 'वेदना' कहते हैं। २. संज्ञा—विषय को जो 'वैसा' करके पहचान लेना है, यही संज्ञा है, ३. संस्कार—वितर्क, विचार,लोभ,द्वेष, करुणा इत्यादि मानसिक प्रवृत्तियों को एक साथ 'संस्कार' कहते हैं। पाप-पुण्य आदि जितने प्रकार के चित्त हैं सभीको एक साथ विज्ञान कहते हैं। इस तरह, 'मनुष्य' इन पांच अवस्थाओं के समुदाय का समुदाय है। इन्हें 'पंच स्कन्ध' कहते हैं—रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध और विज्ञान-स्कन्ध।

मिलिन्द प्रश्न (पृ० ३०-३३) में भदन्त नागसेन ने यवनाधिपति मिलिन्द (मिनैण्डर) से आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है, जो बौद्ध मत में मान्य समझा जाता है। मिलिन्द नागसेन के पास चिलचिलाती धूप में अपने प्रश्नों के उत्तर के लिए आया। तब नागसेन ने उससे पूछा—

प्रश्न—जिसपर चढ़कर आप आये हैं, क्या वह दण्ड है?

उत्तर—नहीं।

प्र०—तो क्या धुरा है?

उ०—यह भी नहीं है।

प्र०—तो क्या चक्के रथ हैं?

उ०—नहीं, चक्के रथ नहीं हैं।

प्र०—तो क्या रथ को बांधनेवाली रस्सियां रथ हैं?

उ०—नहीं, रस्सियां भी रथ नहीं हैं।

प्र०—तो क्या चाबुक रथ है!

उ०—नहीं, चाबुक भी रथ नहीं है।

प्र०—तब रथ ही क्या चीज़?

मिलिन्द एकदम निरुत्तर हो गया। तब अगत्या उसे स्वीकार करना पड़ा कि चक्का, रस्सी, धुरा, चाबुक आदि अवयवों का समुदाय ही 'रथ' के नाम से व्यवहृत किया जाता है। अवयवों को छोड़कर किसी अवयवी

की सत्ता नहीं होती। 'रथ' एक व्यावहारिक नाम या संज्ञा है, जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संघात का अभिधान है। चक्का, रस्सी, धुरा, चाबुक आदि को छोड़कर 'रथ' की पृथक् सत्ता है ही नहीं। 'आत्मा' के विषय में भी यही समझना चाहिए। पूर्ववर्णित पांचों स्कन्धों का समुदाय ही 'आत्मा' नाम से पुकारा जाता है। इन्हें छोड़ देने पर आत्मा नामक कोई चीज अलग नहीं होती। यह दार्शनिक परिभाषा में नैरात्म्यवाद के नाम से प्रख्यात सिद्धान्त है।

३. निर्वाण ही परम शान्त है।

'निर्वाण' के ज्ञान के लिए व द्वादश निदानों की शृंखला को जानना आवश्यक है। ये निदान दुःख के कारण हैं। इनकी एक शृंखला है, जिनमें से प्रत्येक में पारस्परिक कार्यकारणभाव की सत्ता है। इस शृंखला का रूप इस प्रकार है—

१. जरामरण—बुढ़ापा और मृत्यु।
२. जाति=जन्म लेना।
३. भव=पुनर्जन्म उत्पन्न करनेवाले कर्म।
४. उपादान=आसक्ति।
५. तृष्णा=विषय को पाने की तीव्र इच्छा।
६. वेदना=इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न अनुभव।
७. स्पर्श[1]=विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क।
८. षडायतन=मन तथा पांचों ज्ञानेन्द्रियां।
९. नामरूप=दृश्यमान शरीर तथा मन से संवलित संस्थान विशेष।

[1]गीता में भी यह शब्द इसी व्यापक अर्थ में गृहीत किया गया है—
ये हि संस्पर्शजा भोगाः दुःखयोनय एव ते। (५।२२)

१०. विज्ञान=चैतन्य।
|
११. संस्कार=पूर्व-जन्म के कर्म और अनुभव से उत्पन्न सूक्ष्म
| वासनामय वस्तु।
१२. अविद्या=अज्ञान; तथ्य को अतथ्य जानना।

इस चक्र का नाम 'भवचक्र' है, जिसका अक्षरार्थ है—संसार का चक्कर; जगत् का आवागमन।

यह भवचक्र का प्रपंच अनादिकाल से प्रवाहित होता है। इसमें पड़नेवाला प्राणी संसार में जन्मता है और मरता है। उसके दुःखों की सीमा नहीं रहती। इस विषय में तथागत के उपदेश बड़े स्पष्ट हैं। 'संजुत्त निकाय' (१४-२) में उनका कथन है—

"भिक्षुओं, संसार अनादि है। अविद्या और तृष्णा से संचालित भटकते-फिरते प्राणियों के आदि और अन्त का पता नहीं चलता। इस तरह भव-चक्र में पड़ा प्राणी अनादिकाल से बारंबार जन्मता और मरता है। तो भिक्षुओं, क्या समझते हो इन चारों महासमुद्रों में पानी है, यह अधिक है अथवा यह जो संसार में बारंबार जन्म लेनेवालों में प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग के साथ रो-पीटकर आंसू बहाये हैं। भिक्षुओं, चिरकाल तक माता के मरने का दुःख सहा है, पुत्र के मरने का दुःख सहा है, सम्पत्ति के विनाश होने का दुःख सहा है, रोगी होने का दुःख सहा है। उन माता के दुःख सहनेवालों ने, पिता के दुःख सहनेवालों ने···, संसार में बार-बार जन्म लेकर प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग के कारण जो रो-पीटकर आंसू बहाये हैं, वे ही अधिक हैं, इन चार महासमुद्रों का जल नहीं। यह क्यों? भिक्षुओं, संसार अनादि है। अविद्या और तृष्णा से संचालित भट-कते-फिरते जीवों के आदि का पता नहीं। इस प्रकार भिक्षुओं, दीर्घकाल तक दुःख का अनुभव किया है, तीव्र दुःख का अनुभव किया है, बड़ी-बड़ी हानियां सही हैं, श्मशान भूमि को पाट दिया। अब तो भिक्षुओं, सभी संस्कारों से निर्वेद प्राप्त करो, वैराग्य प्राप्त करो, मुक्ति प्राप्त करो।"

बौद्धधर्म में 'निर्वाण' तत्त्व को ठीक-ठीक समझने के लिए 'भवचक्र'

के सिद्धान्त को जानना आवश्यक है।

इसे यथार्थतः समझने के लिए मूल अविद्या से आरम्भ कीजिये। अविद्या से शुरू होनेवाली शृंखला 'प्रतीत्य समुत्पाद' के नाम से प्रख्यात है। 'प्रतीत्य समुत्पाद' का अर्थ है—इसके होने पर यह होता है अर्थात् कार्यकारण की शृंखला। इस शृंखला में ग्यारह कड़ियां हैं—१. अविद्या के होने से संस्कार होता है, २. संस्कार (कर्म) के होने से उसके विपाक स्वरूप मृत्यु के अनन्तर चित्त की संतति जन्मान्तर में चली आती है, ३. 'विज्ञान' के होने से जन्मान्तर में 'नामरूप' होते हैं। नामरूप का अर्थ है—मानसिक तथा भौतिक स्थिति। ४. नामरूप के होने पर चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया और मन—ये छः 'आयतन' उठ खड़े होते हैं। ५. इन छहों आयतनों के कारण विषयों के साथ सम्पर्क होता है जो 'स्पर्श' कहलाता है, ६. स्पर्श होने से सुख, दुःख आदि 'वेदनाएं' होती हैं, ७. वेदना के होने से 'तृष्णा' होती है। ८. तृष्णा होने से विषयों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है, जो 'उपादान' कहलाती है। ९. उपादान होने से जीवन में भागदौड़ होती है, जिसे भव कहते हैं। १०. 'भव' होने से जन्मान्तर में उसके व्यक्तित्व की संतति चालू रहती है ('जाति' का यही अर्थ है) ११. संतति चालू रहने से जरा-मरण उत्पन्न होता है।

बुद्ध के द्वारा प्रदर्शित 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' के अभ्यास करने से तृष्णा का नाश हो जाता है और आगे चलकर मूलभूत अविद्या का ही नाश हो जाता है। यही निर्वाण है। निर्वाण के रूप को समझने के लिए दीपक के बुझने का दृष्टान्त बौद्ध ग्रन्थों में दिया जाता है। बुझ जाने पर दीपक कहीं नष्ट नहीं होता, प्रत्युत यहीं बना रहता है। उसकी लौ नष्ट हो जाती है और इसीको हम बुझना कहते हैं। निर्वाण में भी यही होता है। तृष्णा का क्षय होना ही निर्वाण है। पूछा जाता है कि 'निर्वाण' अपने-आपको मिटा देता है क्या ? यह प्रश्न 'मैं' के अज्ञान पर आश्रित है। यथार्थ में कोई एक 'मैं' तो है नहीं, जिसका उच्छेद किया जा सके। निर्वाण उच्छेद नहीं है, बल्कि तृष्णा का अशेष निरोध कर देना ही निर्वाण है। जो 'मैं' पर आग्रह रखते हैं, उनके लिए निर्वाण अपनेको मिटा देना ही है।

आर्यसत्य

बौद्धधर्म के रहस्य को जानने के लिए चार आर्यसत्य का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। इन्हीं आर्यसत्यों के उद्‌घाटन करने से शाक्यमुनि 'बुद्ध' के नाम से अभिहित किये गए अर्थात् इस रहस्य का प्रकटीकरण आध्यात्मिक जागरण (बुद्धत्व) का संकेत है। ये आर्यसत्य संख्या में चार हैं--(क) दुःखम्, (ख) दुःखसमुदयः (दुःख का कारण), (ग) दुःखनिरोध (दुःख-से मुक्ति), (घ) दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपत् (दुःख-निरोध की प्राप्ति का उपाय या मार्ग)। इन सत्यों को यहां समझने की आवश्यकता है।

(क) **दुःखम्**--संसार का अनुभव हमें बतलाता है कि यहां दुःख पूर्णतया विद्यमान है। जिसे हम सुख की कोटि में रखते हैं, वह भी दुःख ही उत्पन्न करता है। सम्पति, धन-दौलत का उदाहरण लीजिये हम समझते हैं कि सम्पत्ति सुःख की निशानी है। सम्पन्न व्यक्ति सदा सुख से पूर्ण रहता है, परन्तु यह धारणा भी केवल कल्पना से अधिक सत्य नहीं है। भला, विचार कीजिये। रुपये-पैसे के कमाने में दुःख होता है, उसके बढ़ाने में भी दुःख है; उनके रक्षण में दुःख है; हम अपने रुपयों को बैंक में रखते हैं रक्षण और वर्धन की दृष्टि से; परन्तु बैंक के फेल हो जाने पर हमारे ऊपर दुःखों का पहाड़ गिर पड़ता है। ऐसी दशा में क्या रुपयों से सुख मिलता है ?

कथमर्थाः सुखावहाः। सचमुच दुःख की सत्ता का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता।

(ख) **दुःख-समुदयः**---यह द्वितीय आर्यसत्य है। दुःख का कारण भी है। दुःख के उदय का एक ही कारण नहीं है, प्रत्युत उसकी एक शृंखला है। इसीको बौद्ध-दर्शन में निदान कहते हैं, जो संख्या में बारह हैं। इन द्वादश निदानों के कार्य-कारण की एक व्यवस्थित शृंखला है, जो वर्तमान जन्म से, भविष्य जन्म से तथा अतीत जन्म से सम्बन्ध रखती है। प्रथम निदान से आरम्भ कर कारण को खोजते-खोजते हम अन्तिम निदान पर पहुंचते हैं, जो 'अविद्या' के नाम से प्रख्यात है।

(ग) **दुःख-निरोधः**--यदि दुःख है और उसका कारण भी है तो

निश्चित बात है कि इन कारणों के हटा देने पर उनसे उत्पन्न दुःख भी आप-से-आप समाप्त हो जायगा। इस तीसरे आर्यसत्य का नाम है—निर्वाण अर्थात् दुःखों से पूर्णतः छुटकारा या मुक्ति।

(घ) **दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपत्**—इसका अर्थ है निर्वाण की ओर ले जानेवाला पन्थ। बुद्ध की दृष्टि तथा अनुभूति में यही तथ्य स्फुरित हुआ कि भोगविलास में जीवन बिताना जिस प्रकार अनुचित और दुःखमय है, उसी प्रकार व्रत-उपवासों के द्वारा शरीर का उत्पीड़न भी व्यर्थ और निरर्थक है। इसीलिए वह मध्यम मार्ग के पूर्णतया समर्थक है। इस मार्ग के आठ अंग हैं, जो इसी कारण आर्य अष्टांगिक मार्ग के नाम से प्रख्यात है—

१. सम्यक् ज्ञान—आर्यसत्यों को ठीक-ठीक समझना।

२. सम्यक् संकल्प—दृढ़ निश्चय पर डटा रहना।

३. सम्यक् वचन—सत्य बोलना, मिथ्या का परित्याग।

४. सम्यक् कर्मान्त—हिंसा, द्रोह तथा दुराचरण से रहित कर्म।

५. सम्यक् आजीव—न्यायपूर्ण जीविका चलाना।

६. सम्यक् व्यायाम—भलाई उत्पन्न करने के लिए सन्तत उद्योग करना।

७. सम्यक् स्मृति—लोभ आदि चित्त-संताप से अलग रहना।

८. सम्यक् समाधि—रागद्वेष से हीन चित्त की एकाग्रता।

यही बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग है। इसके सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है और निर्वाण की सद्यः प्राप्ति होती है। बुद्ध की शिक्षा का संक्षेप इस धम्मपद की गाथा में निर्दिष्ट है

सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं। (१४।५)

१. सब पापों का न करना, २. पुण्य-कर्मों का संचय, तथा ३. चित्त की परिशुद्धि—ये ही बौद्धधर्म के उपदेश के तीन तत्त्व हैं। संक्षेप में बुद्ध की यही शिक्षा है।

बौद्धधर्म आजकल विश्व के प्रतिष्ठित देशों में फैला हुआ है—यूरोप के विभिन्न देशों के विद्वान् इसके प्रति आकृष्ट ही नहीं हुए हैं, प्रत्युत इस

धर्म को स्वीकार कर बौद्ध बनकर अपने जीवन को उच्च आचार-मार्ग पर लगा रहे हैं, इसका क्या कारण है? इसके मुख्य कारणों में बुद्ध का बुद्धिवाद अन्यतम है। बुद्ध किसी व्यक्ति के प्रामाण्य पर उसके मत को मानने का उपदेश नहीं देते। वह तो यहां तक कहते हैं कि मेरे भी वचनों को इसलिए न मानो कि वे एक बुद्ध के द्वारा कहे गए हैं, प्रतिपादित हैं तथा उद्घाटित हैं। प्रत्येक सत्य को युक्ति तथा तर्क की कसौटी पर कसकर मानो। व्यक्ति के प्रामाण्य का कोई मूल्य नहीं। मूल्य है सिद्धान्तों की सत्यता का, मतों की युक्ति युक्तता तथा तार्किकता का। सत्यान्वेषण के निमित्त तर्क ही एकमात्र कसौटी है। गौतम बुद्ध का इस मत पर बड़ा आग्रह था और इसीलिए आज के वैज्ञानिक तथा तार्किक युग में यह धर्म आकर्षण का विषय बना हुआ है। अपने अन्तिम उपदेश में गौतम ने यही शिक्षा दी और भिक्षुओं को स्वावलम्बी बनने का महान् उपदेश दिया। चक्कवत्ति-सीहनादसुत्त (दीघनिकाय ३।३) में उन्होंने यही शिक्षा दी—

"भिक्षुओं, आत्मद्वीप, आत्मशरण अर्थात् स्वावलम्बी होकर विहार करो; किसी दूसरे के भरोसे मत रहो। धर्मद्वीप और धर्मशरण होकर विहार करो; दूसरे किसीके भरोसे मत रहो।"

स्वावलम्बी बनने की यह शिक्षा ही बौद्धधर्म के द्वारा विश्व-विजय की घोषणा का आरम्भिक घोष है। इस शिक्षा ने भिक्षुओं में अगम्य स्थानों में धर्म प्रचार करने की, अगनित क्लेशों को सहने की, अपने धर्म की प्रचार-वेदी पर प्राणों का न्यौछावर कर देने की वह स्फूर्ति और प्रेरणा भर दी कि आज भी इस धर्म की दुन्दुभि संसार के कोने-कोने में बज रही है। बुद्ध के समुज्ज्वल व्यक्तित्व का तथा उदात्त उपदेश का यही अमृत फल है।

बौद्धधर्म के प्रधानतया दो भेद हैं—हीनयान तथा महायान। दोनों मार्गों का लक्ष्य तथा साधन-क्रम आपस में नितान्त भिन्न हैं। मानव-जीवन के लिए कौन-सा आदर्श है, जिसकी प्राप्ति करना उसके लिए सन्तत वांछनीय है। इस प्रश्न के विषय में दोनों यानों में महान् अन्तर है। हीनयान का आदर्श है—अर्हत् और महायान का आदर्श है बोधिसत्त्व। अर्हत् वह साधक है, जो अपने ही अर्थात् व्यक्तिगत निर्वाण के लिए सदा उद्योगशील

रहता है। हीनयानी का आदर्श होता है कि मैं एक ही आत्मा की इच्छाओं का दमन करूं तथा एक ही आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति कराऊं। उसकी सारी शिक्षा, समग्र साधना, इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। बोधिसत्त्व का लक्ष्य कुछ दूसरा ही होता है। वह अपने ही स्वार्थ के लिए क्रियाशील नहीं होता; प्रत्युत सब प्राणियों को वह परमार्थ सत्य में प्रतिष्ठित करना चाहता है। इस प्रकार हीनयान कोरा निवृत्ति-मार्ग है। ठीक इसके विपरीत महायान प्रवृत्तिमार्गी धर्म है। हीनयान में कोरे ज्ञान की ही प्रधानता रहती है; महायान में भक्ति की विशिष्टता होती है। बुद्ध की मूर्ति बनाना, उसकी स्थापना करना तथा भक्ति के साथ उसकी पूजा-अर्चा करना महायान में प्रमुख स्थान रखता है। बोधिसत्त्व की मानसिक स्थिति का परिचायक निम्नांकित पद्य बड़े महत्व का है। इसका अर्थ है कि जबतक एक भी व्यक्ति संसार के पचड़े में पड़ा हुआ दुःख भोग रहा है, तबतक मैं अकेले निर्वाण प्राप्त कर क्या करूंगा? जीवों को निर्वाण पा लेने पर मेरे हृदय में आनन्द की लहरी इतने उछाह से प्रवाहित होती है कि मुझे अकेले रसहीन फीका निर्वाण पाने से लाभ ही क्या? महायानी साधना का यही अन्तिम लक्ष्य होता है—

मुच्यमानेसु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेनारसिकेन किम्॥

बौद्ध-दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय

बौद्ध-दर्शन का लक्ष्य है सत्ता का परीक्षण। प्रश्न यह है कि सत्ता भीतर रहती है या बाहर? संसार में दो वस्तुओं के अस्तित्व का पता हमें भली भांति चलता है—एक है भीतरी तत्त्व (मन, चित्त या विज्ञान) और दूसरा है बाहरी तत्त्व (पृथ्वी, जल आदि पंचभूत)। अब प्रश्न है कि इन दोनों की स्थिति पृथक् रूप से मान्य है अथवा एक की स्थिति दूसरे पर आश्रित है अथवा दोनों में से किसीकी भी स्थिति नहीं है। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर विभिन्न रूपों में दिये जाते हैं। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन के चार सम्प्रदाय हैं—१. वैभाषिक, सौत्रान्तिक, ३. विज्ञानवादी (योगाचार), ४. शून्यवाद (माध्यमिक)। इन चारों मतों के स्वरूप को प्रथमतः संक्षेप में

समझने की आवश्यकता है ।

१. **वैभाषिक**—इस मत के अनुसार जिस जगत् का अनुभव हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा हो रहा है, उसकी बाह्य सत्ता अवश्यमेव है। हमारे भीतर चित्त की भी सत्ता स्वतन्त्र रूप से है। बाहरी पदार्थों की सत्ता चित्त-निरपेक्ष है, अर्थात् हम अपनी इन्द्रियों की सहायता से बाहरी पदार्थ की सत्ता प्रत्यक्ष रूप से मानते हैं। बाह्य तथा आन्तर पदार्थ स्वतन्त्ररूप से पृथक् रूप से सत्ता धारण करते हैं।

२. **सौत्रान्तिक**—इनका कहना है कि 'बाह्य सत्ता' है तो अवश्य, परन्तु उसका ज्ञान हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता। जब समग्र पदार्थ क्षणिक हैं, तब किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है। जिस क्षण में किसी भी पदार्थ का हमारी इन्द्रियों के साथ सम्पर्क घटित होता है, वह पदार्थ प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर अतीत हो चुका रहता है। केवल उससे उत्पन्न संवेदन शेष रहता हैं, प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नीला, पीला या काला के चित्र चित्त के ऊपर खिच जाता है। चित्त को इसका ज्ञान होता है और इनके द्वारा वह इनके उत्पादक बाहरी पदार्थों की सत्ता का अनुमान करता है। फलतः बाहरी पदार्थों की सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध न होकर अनुमान के द्वारा गम्य है। यही है सौत्रान्तिकों की बाह्यार्थ की अनुमेयता का सिद्धान्त। इस मत में चित्त के आकारों के द्वारा ही बाह्य पदार्थों का अनुमान होता है। उनकी चित्त-निरपेक्ष सत्ता नहीं है। फलतः ये दोनों ही सर्वास्तिवादी हैं। दोनों मतों में 'सर्व' है' (सर्वन् अस्ति) का सिद्धान्त मान्य है। अन्तर इतना ही है कि वैभाषिक मत में बाह्य सत्ता चित्त-निरपेक्ष है, परन्तु सौत्रान्तिक मत में बाह्यसत्ता चित्त-सापेक्ष है ।

३. **विज्ञानवाद**—विज्ञानवाद सत्ता की मीमांसा में एक पग आगे बढ़कर आता है। यह बाह्य सत्ता को कथमपि नहीं मानता। अन्ततः बाह्य सत्ता का पता ही कैसे चलता है हमको? चित्त में समय-समय पर उत्पन्न होनेवाले आकारों के ज्ञान द्वारा ही तो। ऐसी दशा में ज्ञान की सत्ता मानना ही तर्कसंगत सिद्धान्त है। यदि बाह्य अर्थ की सत्ता ज्ञान पर अवलम्बित है, तो ज्ञान ही वास्तविक सत्ता है। विज्ञान (या विज्ञप्ति) ही एकमात्र परमार्थ है। विज्ञान के ही चित्त, मन तथा विज्ञप्ति अन्य पर्याय

हैं। एक ही वस्तु विभिन्न नामों के द्वारा अपनी क्रिया के भेद के कारण भिन्न शब्दों से पुकारी जाती है। चेतन क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण यह 'चित्त' कहलाता है; मनन क्रिया करने से वही 'मन' है तथा विषयों के ग्रहण करने में कारण होने के हेतु वही 'विज्ञान' शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है। 'आलय विज्ञान' भी विज्ञान का ही एक प्रकार है। योगाचार दार्शनिकों का यही मत है।

४. शून्यवाद—माध्यमिक लोग न तो बाह्यार्थ को मानते हैं और न विज्ञान को ही। उनकी दृष्टि में शून्य ही परमार्थ सत्य है। यह शून्य कोई अभाववादी शब्द नहीं है, प्रत्युत यह अनिर्वचनीय तत्त्व का द्योतक है, जो न सत् है, न असत् है, न सदसद् है और न इन दोनों से भिन्न है। इन चारों कोटि से भिन्न तथा विलक्षण होने के कारण यह पदार्थ 'शून्य' नाम से अभिहित किया जाता है।

इस प्रकार 'प्रत्यक्ष बाह्य सत्ता' से 'अनुमेय बाह्य सत्ता' पर हम आते हैं। तदनन्तर 'विज्ञानमात्र सता' से आगे बढ़कर हम 'शून्य' में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। बौद्ध साधना का यही चरम लक्ष्य है। आगे चारों मतों का सविस्तर वर्णन पृथक्-पृथक् किया जा रहा है।

वैभाषिक मत

वैभाषिक मत के आचार्यों ने अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए अनेक ग्रंथों का प्रणयन संस्कृत भाषा में किया था, परन्तु दुःख है कि मूल ग्रंथ सर्वथा दुर्दैव के कारण नष्ट हो गये हैं। केवल उनका चीनी भाषा में अनुवाद समग्ररूपेण मिलते हैं, जिनसे मूल ग्रंथों की विपुलता तथा व्यापकता का स्पष्ट परिचय हमें मिलता है। इस मत के नामकरण का कारण एक ऐतिहासिक घटना में छिपा हुआ है। कनिष्क (द्वितीय शती) ने बौद्धधर्म के परिशोधन और परिमार्जन के लिए बौद्धभिक्षुओं की एक महती संगीति (सम्मेलन) एकत्रित की, जो 'चतुर्थ संगीति' के नाम से बौद्ध इतिहास में प्रख्यात है। इस संगीति में अभिधर्म के ऊपर एक महनीय भाष्य-ग्रंथ तैयार किया गया, जो 'विभाषा' या 'विभाषा-शास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'विभाषा' के सिद्धान्तों को अपना आधार मानने के कारण यह सम्प्रदाय

तदनुसार 'वैभाषिक' नाम से अभिहित किया गया। आचार्य वसुबन्धु—(२८० ई०—३६० ई० के आस-पास) की महत्त्वपूर्ण रचना 'अभिधर्म-कोश' इस मत का सबसे श्रेष्ठ तथा प्रामाणिक ग्रंथरत्न है, जिसके ऊपर भाष्य तथा टीकाओं की परम्परा आज भी उपलब्ध है। सप्तमशती में हुएनसांग के द्वारा विहित कोश-व्याख्या का अनुवाद चीनी भाषा में आज भी उपलब्ध है। संघभद्र (चतुर्थ शती) को अभिधर्म-कोश के सिद्धान्त विशुद्ध वैभाषिक प्रतीत नहीं हुए। फलतः उन्होंने इसके खण्डन में 'कोशकरका' (सप्त लक्ष श्लोकोंवाला ग्रंथ) नामक नितान्त गौरवशाली ग्रंथ का प्रणयन किया। इन्हीं पुस्तकों के विशेषतः अभिधर्म कोश के आधार पर वैभाषिक मत की सिद्धान्तावली खड़ी है।

वैभाषिकों के प्रधान मत का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। यह मत मानता है—सर्वम् अस्ति अर्थात् जगत् में सबकुछ विद्यमान है। आन्तर जगत् भी सत्य है तथा बाहरी जगत् भी। इसी सिद्धान्त के कारण यह मत सर्वास्तिवाद के नाम से प्रख्यात है। इस मत में पदार्थों की मीमांसा एक विभिन्न प्रकार से की गई है।

बौद्ध-दर्शन मानता है कि इस विश्व में 'धर्म' की सत्ता सर्वतोमुखी है। यह 'धर्म' शब्द सामान्य रूप से समझे जानेवाले आचार या कर्मकाण्ड के लिए व्यवहृत नहीं होता, प्रत्युत यहां धर्म से अभिप्राय भूत (बाहरी) तथा चित्त (भीतरी) के सूक्ष्म तत्त्वों से है, जिनका पृथक्-करण और नहीं किया जा सकता। बौद्धधर्म के अनुसार यह संसार धर्मों के परस्पर मेल से उत्पन्न होनेवाला एक संघातमात्र (समूह) है। धर्म अत्यन्त सूक्ष्म और सत्तात्मक होते हैं और इन्हींके परस्पर आघात-प्रतिघात से यह विचित्र जगत् उत्पन्न होता है। ऊपर वर्णित चारों सम्प्रदायों में केवल शून्यवाद ही इसकी सत्ता नहीं मानता, अन्य तीन मत इसकी सत्ता मानते हैं। इस प्रकार धर्म की सत्ता के विषय में प्रथम तीन मतों में कोई अन्तर नहीं है, अंतर है तो केवल धर्म की संख्या के विषय में ही है। बौद्धधर्म का यह सर्वप्रधान सिद्धान्त है कि जगत् में जितने धर्म हैं, वे सब 'हेतु' (कारण) से उत्पन्न होते हैं। उनके हेतु को तथागत (बुद्ध) ने बतलाया है तथा इनके 'निरोध' (रोकना) का भी वर्णन किया है। इस प्रकार धर्म, उनके हेतु तथा उनके

निरोध का ज्ञान बुद्ध-धर्म का सार है। इस मत का प्रतिपादक यह पद्य अत्यंत प्रख्यात है—

ये धर्मा हेतु प्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
अवदच्च तन्निरोधो एवं वादी महाश्रमणो ॥

ये धर्म दो प्रकार के होते हैं—१. सास्रव (मलसहित); २. अनास्रव—मल रहित (विशुद्ध)। सास्रव धर्म की प्रसिद्ध संज्ञा है—संस्कृत। संस्कृत का तात्पर्य है संस्कारवाले धर्म अर्थात् हेतु तथा प्रत्यय से उत्पन्न होनेवाले, रागद्वेष आदि से मिश्रित धर्म, जो अनित्य होते हैं। **संस्कृतं क्षणिकं मतः**—अभिधर्म कोश। 'अनास्रव' धर्मका अर्थ है—हेतु प्रत्यय से उत्पन्न न होने-वाले, अतएव नित्य और विशुद्ध धर्म। इस प्रकार नित्यानित्य-भेद से धर्म के दो प्रकार हैं और प्रत्येक केअनेक अवान्तर भेद हैं।

धर्म

- असंस्कृत (३ प्रकार)
  - १. आकाश
  - २. प्रतिसंख्या-निरोध
  - ३. अप्रतिसंख्या निरोध
- संस्कृत
  - रूप (११प्रकार)
  - चित्त (१ प्रकार)
  - चैतसिक (४६ प्रकार)
  - चित्तविप्रयुक्त (१४ प्रकार)

इस प्रकार वैभाषिक मत में धर्मों की संख्या है पचहत्तर, जिनमें तीन असंस्कृत धर्म हैं और बहत्तर संस्कृत-धर्म हैं।

असंस्कृत धर्म—आकाश नित्य सर्व-व्यापक सत्तात्मक पदार्थ है। इसका रूप नहीं होता, क्योंकि यह भौतिक पदार्थ नहीं होता। परन्तु इसकी स्वतन्त्र सत्ता अवश्य है। 'प्रतिसंख्या' का तात्पर्य है प्रज्ञा। इस तरह प्रति-संख्या-निरोध का अर्थ है प्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न निरोध। प्रज्ञा के उदय होने पर जब किसी धर्म में रागद्वेष का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है, तब

उस धर्म के लिए 'प्रतिसंख्या-निरोध' का उदय होता है। 'अप्रतिसंख्या-निरोध' का शाब्दिक अर्थ है बिना प्रज्ञा के ही निरोध। इस निरोध में धर्म के प्रति राग, द्वेष, ममता आदि का भविष्य में भी कथमपि उदय नहीं होता। इसका फल होता है कि इस निरोध से जीव भव-चक्र से मुक्ति-लाभ कर लेता है और वह फिर उसमें नहीं पड़ता। बौद्धधर्म का यही अन्तिम लक्ष्य है।

संस्कृत धर्म—संस्कृत-धर्म के चार मुख्य भेद हैं—रूप, चित्त, चैतसिक तथा चित्तविप्रयुक्त। इनमें रूपधर्म ग्यारह प्रकार का होता है, चित्त धर्म (मन या विज्ञान) एक ही प्रकार माना जाता है। चैतसिक छियालीस प्रकार के तथा चित्त विप्रयुक्त धर्म चौदह प्रकार के होते हैं। इन चारों प्रकार के सम्मिलित भेद बहत्तर होते है।

१. रूप—रूप का अर्थ है—भूत अर्थात् वह धर्म, जो रूप धारण करे। रूप वह पदार्थ है, जो अवरोध उत्पन्न करे। रूप एकादश प्रकार का होता है, जिसमें पांच बाह्य इन्द्रिय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा तथा काय) तथा पांच इनके विषय (रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श) मिलकर दस भेद होते हैं। अन्तिम भेद है—अविज्ञप्ति। वसुबन्धु के अनुसार अविज्ञप्ति कर्म का एक भेद है। चेतनाजन्य कर्म दो प्रकार के होते हैं। कुछ कर्मों का फल तुरन्त प्रकट होता है (विज्ञप्ति), परन्तु कुछ कर्मों का फल तुरन्त अभिव्यक्त न होकर कालान्तर में प्रकट होता है। इन्हीं कर्मों का नाम 'अविज्ञप्ति' है। यह वस्तुतः कर्म न होकर कर्म का फल है, भौतिक न होकर नैतिक है। कोई व्यक्ति किसी व्रतशः अनुष्ठान करता है, तो यह हुआ विज्ञप्ति-कर्म। परन्तु उस व्रत के अनुष्ठान से उस व्यक्ति का विज्ञान गूढ़रूप से शोभन तथा सुन्दर बन जाता है, इसीका नाम है—अविज्ञप्ति कर्म। इस प्रकार अविज्ञप्ति वही तत्त्व है, जिसे वैशेषिक 'अदृष्ट' के नाम से और मीमांसक 'अपूर्व' के नाम से पुकारते हैं।

२. चित्त—साधारण रूप से हम जिसे 'जीव' कहते हैं, उसे ही बौद्ध लोग 'चित्त' की संज्ञा देते हैं। चित्त की सत्ता तभी तक है जबतक इन्द्रियों तथा उनके विषयों में घात-प्रतिघात होता रहता है। चित्त, मन तथा

विज्ञान समानार्थक शब्द हैं। मन की व्युत्पत्ति 'मा' धातु से होने के कारण इसका अर्थ है--मापनेवाला या किसी वस्तु का निश्चय करनेवाला। 'चित्त' का अर्थ है किसी वस्तु का सामान्य ज्ञान (आलोचन मात्र या निर्विकल्पक ज्ञान)। यही चित्त जब वस्तुओं के ग्रहण में प्रवृत्त होता है, तब इसे 'विज्ञान' कहते हैं। प्रत्येक चित्त प्रतिक्षण बदलता रहता है। वह कार्य-कारण के नियमानुसार नवीन रूप धारण करता है। चित्त वस्तुतः एक ही धर्म है, परन्तु आलम्बनों की भिन्नता के कारण वह सात प्रकार का होता है।

३. चैतसिक (या चैत्त धर्म)--चित्त से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म या संस्कार चैतसिक या चित्त संप्रयुक्त के नाम से पुकारे जाते हैं। ये विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म गणना में छियालीस माने जाते हैं।

४. चित्तविप्रयुक्त धर्म--जिन धर्मों का समावेश न तो भौतिक धर्मों के भीतर किया जाता है और न चैत्त धर्मों में ही, उन्हें ही इस नाम से पुकारते हैं। इनका विस्तृत तथा अन्वर्थक नाम है--'रूप-चित्त-विप्रयुक्त' अर्थात् रूप और चित्त दोनों से पृथक् रहनेवाले धर्म, इनकी संख्या चौदह है।

एक बात ध्यान देने की है। ऊपर वर्णित धर्म के पचहत्तर भेद सर्वास्तिवादियों के अनुसार हैं। स्थविरवादियों के मत में प्रथम तीन ही भेद मान्य हैं, जिनके प्रकारों की सम्मिलित संख्या एक सौ सत्तर है तथा विज्ञानवादियों के अनुसार यह संख्या पूरी एक सौ है।[1]

सौत्रान्तिक मत

यह बौद्ध-दर्शन का दूसरा प्रख्यात सम्प्रदाय है। बौद्ध-धर्म के तीनों पिटक ही धर्म के तथ्य जानने के लिए उपादेय हैं, जिनमें अन्तिम 'अभिधर्म पिटक' तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों को विशेषरूप से प्रतिपादन करनेवाला है। परन्तु सौत्रान्तिक मत के दार्शनिक यह बात नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि अभिधर्म तथागत बुद्ध की रचना न होने से प्रमाणकोटि में

[1] तुलनात्मक विवरण के निमित्त बलदेव उपाध्याय-रचित 'बौद्धधर्म-मीमांसा' पृष्ठ १८७-२०२ (द्वितीय संस्करण, १९५४) देखिये।

नहीं आ सकता। 'सुत्तपिटक' के सूत्रों में ही बुद्ध की महनीय शिक्षा समाविष्ट है। फलतः सूत्र या 'सूत्रान्त' को अपने विचारों का आधार मानने के हेतु यह मत 'सौत्रान्तिक' नाम से अभिहित किया जाता है। इस मत के आचार्य तथा उनके ग्रन्थों के विषय में हमारी जानकारी अधिक नहीं है। हुएनसांग (६५० ई०) के प्रामाण्य पर हम इतना ही जानते हैं कि इस मत के संस्थापक का नाम आचार्य कुमारलात था, जिनका समय द्वितीय शती का उत्तरार्द्ध और तृतीय शती का प्रारम्भकाल माना जाता है। कुमारलात के दो शिष्य थे—श्रीलात और हरिवर्मा। इनमें श्रीलात ने सौत्रान्तिक मत का प्रचार किया और हरिवर्मा ने 'सत्यसिद्ध' नामक एक नवीन बौद्ध सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसका प्रचार चीन में विशेष रूप से परिलक्षित होता है।

सौत्रांतिकमत का सिद्धांत—सौत्रान्तिकों का प्रधान मत यह है कि जगत् की सत्ता प्रत्यक्षतः न होकर अनुमानतः सिद्ध है। इस मत को पुष्ट करनेवाली युक्ति इस प्रकार प्रदर्शित की जा सकती है। जगत् के सब पदार्थ क्षणिकहैं। तब उनका प्रत्यक्ष क्योंकर हो सकता है? सामने घट पड़ा हुआ है। जबतक हम अपनी आंखों से उसे देखने का प्रयास करते हैं अर्थात् घट और नेत्रेन्द्रिय का संयोग होता है, तबतक वह घट अतीत के पेट में चला जाता है। उससे उत्पन्न केवल विज्ञान ही शेष रह जाता है। पदार्थ अस्त हो जाता है। केवल उसका चित्र (नीला, पीला आदि) ही बच रहता है और इन्हीं चित्रों को देखकर हम अनुमान करते हैं कि इनका उत्पादक पदार्थ भी अवश्य सत्य होगा। इस प्रकार घड़े के अस्तित्व का ज्ञान हमें अपनी इन्द्रियों की सहायता से प्रत्यक्षरूपेण नहीं होता (जैसा वैभाषिक लोग मानते हैं) प्रत्युत उसके चित्र को देखकर अनुमान के द्वारा घट की सत्ता का ज्ञान होता है। ये दोनों मत 'सर्वास्तिवादी' हैं अर्थात् भूत तथा चित्त दोनों को सत्य मानते हैं। परन्तु अन्तर यह है कि जहां वैभाषिक लोग पदार्थ को प्रत्यक्ष मानते हैं, वहां सौत्रान्तिक उसका अनुमान मानते हैं

संक्षेप में सौत्रान्तिक चित्त तथा बाह्यजगत् दोनों की सत्ता मानते हैं। यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं माना जायगा तो बाह्य वस्तु की प्रतीति किस प्रकार होती है, इसे हम ठीक-ठीक समझा नहीं सकते। विज्ञान-

वादी कहता है, "मेरा 'ज्ञान' ही सच्चा है, परन्तु गाय के ज्ञान के समय मैं अपनी मानस-अवस्था को ही 'गाय के समान' देखता हूं।" इसपर सौत्रान्तिक का कहना है कि जिस व्यक्ति ने गाय का प्रत्यक्ष ज्ञान ही कभी नहीं किया है, वह अपने ज्ञान को 'गाय के समान' कैसे बतला सकता है। 'गाय के समान' कहना वैसा ही निरर्थक है, जिस प्रकार 'वन्ध्यापुत्र' कहना। जब वे बाह्य वस्तु को मानते ही नहीं, तब बाह्य वस्तु का ज्ञान कैसे हो सकता है तथा उस ज्ञान से किसी की तुलना भी कैसे की जा सकती है? इस प्रकार विज्ञान को सत्य माननेवाले विज्ञानवादी का मत मान्य नहीं हो सकता। विज्ञान या चित्त को ही केवल सत्य मानना नितान्त युक्तिहीन मत है।

विज्ञानवादी वस्तु तथा वस्तु-ज्ञान को समकालीन मानता है। घट तथा घट-ज्ञान दोनों एक ही अभिन्न वस्तु हैं, क्योंकि वे समकालीन होते हैं। सौत्रान्तिक मत में यह युक्ति ठीक नहीं है। जब हमें घट का प्रत्यक्ष होता है, तब हमें स्पष्ट अनुभव होता है कि घड़ा हमारे बाहर है और ज्ञान हमारे भीतर है। स्थिति दोनों की भिन्न-भिन्न होती है। अतएव बाह्य वस्तु और उसके ज्ञान को अभिन्न मानना तर्कहीन बात है। इसे ही हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं—वस्तु (घट, पट आदि) बाहर में एक सत्ताधारी पदार्थ है और उसका ज्ञान विषयी (अनुभवकर्ता) में उत्पन्न होता है। वस्तु होता है विषय, परन्तु वस्तु-ज्ञान होता है विषयीगत। घड़ा एक बाहरी वस्तु है (विषय) और घड़े का ज्ञान होता है अनुभव करनेवाले मुझमें (विषयी में)। इससे दोनों में भिन्नता सिद्ध है। यदि दोनों को एक ही अभिन्न माना जाय, तो 'मैं ही घड़ा हूं', ऐसा अनुभव होना चाहिए। परन्तु लोक में ऐसा अनुभव तो कभी नहीं होता। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं माना जायगा, तो 'घट-ज्ञान' और 'पट-ज्ञान' में भी कोई अन्तर नहीं होता, क्योंकि ज्ञान-रूप होने के कारण घट का ज्ञान और पट का ज्ञान एक ही होता। लेकिन 'घट-ज्ञान' को तथा 'पट-ज्ञान' को क्या कभी हम एक मानते हैं? इससे स्पष्ट है कि दोनों में वस्तु-सम्बन्धी भेद है।

इस प्रकार बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व मानना नितान्त आवश्यक है। बाह्य वस्तुओं में भिन्न-भिन्न आकार हैं; फलतः उनका ज्ञान भी भिन्न-

भिन्न आकार का होता है। इन विभिन्न आकारों के ज्ञान से ही हम उनके कारणरूप बाहरी वस्तुओं की सत्ता का अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण हैं। इसीलिए सौत्रान्तिक लोग बाह्य वस्तु को मानते हैं और उसकी सत्ता को अनुमान से सिद्ध मानते हैं।

इस सिद्धान्त को 'बाह्यानुमेयवाद' कहते हैं। विज्ञानवाद के खण्डन में सौत्रान्तिकों की युक्तियां बड़ा महत्त्व रखती हैं। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में सौत्रान्तिकों के समान अनेक दार्शनिक हुए हैं। बर्कले के 'विज्ञानवाद' (सबजेक्टिव आइडियलिज़्म) के खण्डन में आधुनिक काल में मूर जैसे वस्तुवादी की युक्तियां इसी प्रकार की हैं। सौत्रान्तिकों की प्रमाणमीमांसा लॉक के 'साकार ज्ञानवाद' (रिप्रेजेंटैन्शनीज्म) के साथ बहुत मिलती हैं। इस प्रकार इस मत का दार्शनिक महत्त्व कम नहीं है।

विज्ञानवाद

विज्ञानवाद का दूसरा नाम 'योगाचार' है। इस मत के अनेक प्रौढ़ आचार्यों ने अपनी रचनाओं के द्वारा इस मत के तथ्यों का बड़ा ही प्रामाणिक उपन्यास किया है। इन आचार्यों में मैत्रेय, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति प्रमुख हैं। मैत्रेय या मैत्रेयनाथ (तृतीय शती) ने विज्ञानवाद का प्रवर्तन किया। 'अभिसमयालंकार' इनका प्रौढ़ ग्रन्थ है। इनके शिष्य असंग ने 'योगाचार भूमि-शास्त्र' लिखकर अपने गुरु के द्वारा प्रतिपादित तथ्यों का उपबृंहण किया। असंग के ही अनुज तथा शिष्य वसुबन्धु ने अपने जीवन की सन्ध्या में योगाचार-मत में प्रवेश किया तथा 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' के द्वारा विज्ञान के स्वरूप का बड़ा ही प्रामाणिक विवरण दिया। दिङ्नाग (पंचम शती) बौद्ध-न्याय के प्रतिष्ठापक रूप से विद्वानों में प्रसिद्ध हैं। अपनी शास्त्र-पटुता और वावदूकता के कारण ये 'वादिवृषभ' (शास्त्रार्थ करनेवालों में प्रमुख) की उपाधि से विभूषित किये गए थे। 'प्रमाण समुच्चय' इनकी प्रमुख रचना बौद्धन्याय का आधार-ग्रन्थ मानी जाती है। धर्मकीर्ति (६३५ ई०–६५० ई० के लगभग) दिङ्नाग के विद्वान् भाष्यकार थे, जिनका 'प्रमाण वार्तिक' अपने विषय का नितान्त प्रौढ़, उदात्त तथा शोभन ग्रन्थ-रत्न माना जाता है।

विज्ञानवाद का सिद्धान्त—'विज्ञानवाद' नामकरण इस मत के मुख्य तथ्य के ऊपर आधारित है। इनका मत है कि विज्ञान या चित्त ही एकमात्र सत्य पदार्थ है। अर्थात् मन या चित्त ही केवल सत्ता रखता है। बाह्य वस्तु या संसार तो इसी मन का विलास है। जगत् में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, अनुभव में आता है वह सब विज्ञान की नाना अभिव्यक्ति है। विज्ञान के बाहर किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। विज्ञानवादी चित्त को आठ प्रकार का मानते हैं। इनमें चक्षुर्विज्ञान आदि छः भेद तो वैभाषिकों को भी सम्मत हैं,परन्तु मनोविज्ञान तथा आलय-विज्ञान दो नूतन भेद यहां स्वीकृत किये गए हैं। बाह्य पदार्थ का ज्ञान किस प्रकार होता है ? चक्षुर्विज्ञान आदि छः विज्ञान बाहरी वस्तु और इन्द्रिय के संयोग होने से उत्पन्न होते हैं। ये विषय के ज्ञान के लिए द्वारमात्र हैं। ये अपने द्वारा प्राप्त ज्ञान को मनोविज्ञान के पास ले जाता है। वह उसे स्वयं आलय-विज्ञान के पास प्रस्तुत करता है। तभी विषय का यथार्थ ज्ञान होता है। इस प्रकार चित्त (या विज्ञान)के परिणाम होने के द्वारा समस्त जगत् अष्ट विध-विज्ञानों के अन्तर्गत लाया जा सकता है।

योगाचार—विज्ञानवादी 'योगाचार' के नाम से भी विख्यात हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि 'आलय-विज्ञान' का अस्तित्व जानने के लिए योग के आचरण को ये नितान्त आवश्यक मानते थे। इसकी दो विशेषताएं थीं—योग और आचार। योग से तात्पर्य जिज्ञासा से है और आचार का सदाचार से। इन दोनों पर जोर देने के कारण यह मत इस नाम से विख्यात था। विज्ञानवादी आचार्यों की महती देन है आलय विज्ञान की कल्पना तथा तर्कों से उसकी सिद्धि। विज्ञान के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं (त्रिंशिका कारिका१-२)। इनमें विपाक पहला परिणाम है। इसीकी प्रसिद्ध संज्ञा 'आलय विज्ञान' है। क्लेशों को उत्पन्न करनेवाले धर्म बीज यहां निवास करते हैं। अतः उनके आलय या स्थान होने के कारण यह विज्ञान इस नाम से प्रसिद्ध किया गया है।

आलय-विज्ञान—इसके स्वरूप को समझने के लिए एक दृष्टान्त का सहारा लिया जाता है। समुद्र में हवा के झकोरों से तरंगें नाचने लगती हैं, सदा वे अपनी लीला दिखाया करती हैं। वे कभी विराम नहीं पातीं।

उसी प्रकार आलय-विज्ञान में विषयों के सम्पर्क से विज्ञान की नाना तरंगें उठा करती हैं। वे सदा नाचती हुई अपना खेल दिखलाती हैं और कभी नष्ट नहीं होतीं। इस दृष्टान्त में आलय-विज्ञान है समुद्र के समान, विषय है वायु के समान और विज्ञान है तरंग के समान। वसुबन्धु ने आलय-विज्ञान की समता जल के ओघ (बाढ़) के साथ दी है। जिस प्रकार जल का प्रवाह तृण, काष्ठ, ईंधन आदि नाना वस्तुओं को खींचता हुआ आगे बढ़ता जाता है, उसी प्रकार आलय विज्ञान भी पुण्य-पाप की वासना से वासित संज्ञा, वेदना आदि चैत्त धर्मों को खींचता हुआ आगे बढ़ता जाता है। जबतक यह संसार है, तबतक आलय-विज्ञान का अन्त नहीं होता। इस आलय-विज्ञान से ही जगत् की उत्पत्ति होती रहती है। इसकी कल्पना 'आत्मा' के समान है। इसलिए बहुत-से बौद्ध आचार्य विज्ञानवादियों के ऊपर यह आरोप करते हैं कि उनका मत क्षणिकवादी तथागत के मत से सर्वथा भिन्न है और इसलिए यह उपेक्षणीय है।

माध्यमिक

माध्यमिक मत के आचार्य शून्यवादी कहे जाते हैं। इस मत के प्रवर्त्तक आचार्य नागार्जुन हुए। इनका सर्वमान्य ग्रंथ है—'माध्यमिक कारिका', जिसमें कारिका के रूप में इनके सिद्धान्त प्रतिपादित किये गए हैं। इनका आविर्भावकाल द्वितीय शती के आस-पास माना जाता है। इसके ऊपर चन्द्रकीर्ति की टीका बड़ी प्रख्यात है। चन्द्रकीर्ति का समय पंचम शती माना जाता है। इस मत का माध्यमिक नाम क्यों पड़ा? इसका उत्तर है कि ये लोग भाव और अभाव इन दोनों के बीच की स्थिति मानते हैं। भाव और अभाव दोनों अन्तों से रहित होने के कारण सब भावों की अनुत्पत्तिरूपा शून्यता को ही मध्यभाग कहते हैं। यह बीच की अवस्था आठ प्रकार के 'नाहीं' या 'निषेधों' में विद्यमान रहती है।

अनिरोधम् अनुत्पादम् अनुच्छेदम् अशाश्वतम्।
अनेकार्थम् अनानार्थम् अनागमम् अनिर्गमम्॥

इस दशा में निरोध नहीं है; उत्पत्तिभी नहीं है, उच्छेद अर्थात् नाश नहीं है, शाश्वत भी नहीं है, एकार्थ या एकता भी नहीं है और अनेकता भी नहीं

है। यहां आना भी नहीं हैं और जाना भी नहीं है। इस वर्णन को पढ़कर ऐसा लगता है कि यह श्रुति के द्वारा वर्णित 'ब्रह्म' का नेति-नेति प्रतिपादन है। माध्यमिकों की दृष्टि में किसी वस्तु को सत् (विद्यमान) नहीं कह सकते, किन्तु जब वह दिखाई पड़ती है, तब उसे असत् भी नहीं कह सकते। फलतः पदार्थ अनिर्वचनीय के समान प्रतीत होता है। इसी तथ्य को द्योतन करने के लिए वे 'शून्य' शब्द का प्रयोग करते हैं।

शून्यवाद

माध्यमिक आचार्य अपने मत को 'शून्यवाद' के नाम से भी पुकारते हैं, परन्तु 'शून्यवाद' का तथ्य क्या है ? इसके विषय में ब्राह्मण और माध्यमिक से भिन्न दार्शनिकों के विचार एकसमान हैं। ये विद्वान् 'शून्य' का अर्थ बिल्कुल सत्ता का निरास मानते हैं। विज्ञानवादियों ने 'शून्य' का यही अर्थ समझकर उसका खण्डन किया है। माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शन-संग्रह' में एक विलक्षण युक्ति देकर संसार को 'सर्वशून्य' सिद्ध किया है। माध्यमिक शून्यवाद को 'सर्ववैनाशिकवाद' नाम से भी अभिहित किया है, क्योंकि माना जाता है कि इसके अनुसार किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है; परन्तु शून्यवाद के मूल ग्रन्थों के अध्ययन से यही सिद्ध होता है कि शून्य शब्द का प्रयोग सत्ता निरास के अर्थ में नहीं किया गया है।

शून्य का अर्थ—इस प्रत्यक्ष जगत से परे पारमार्थिक सत्ता विद्यमान है, लेकिन वह अवर्णनीय है। उसके विषय में यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि वह तत्त्व आंतरिक है या बाह्य है। लौकिक विचारों से वर्णनीय न होने के कारण वह तत्त्व 'शून्य' कहा गया है। परन्तु शून्य वस्तुतः अभावरूपी नहीं है। अभाव स्वयं एक सापेक्ष शब्द है, क्योंकि 'भाव' की कल्पना पर ही 'अभाव' आश्रित है। परन्तु वह परमतत्व स्वतः एक निरपेक्ष सत्ता है। वह अपनी सत्ता के लिए किसीपर आश्रित नहीं है। जब आपने कहा कि 'यहां घड़ा नहीं है', तब आपने अनजाने ही 'है' की भी कल्पना स्वीकार कर ली। फलतः अभाव की सत्ता भाव के ऊपर अवलम्बित होने से एक सापेक्ष सत्ता (किसी वस्तु की अपेक्षा रखनेवाली सत्ता) है। 'शून्य' एक निरपेक्ष तत्त्व है, जो स्वतः अपने-आप पूर्ण है, सत्य है, वर्तमान

है; अन्य किसीके आधार पर खड़ा नहीं रखता। 'शून्य' का यही अर्थ इस मत में अभीष्ट है।

माध्यमिक लोग दो प्रकार की सत्यता मानते हैं—१. पारमार्थिक सत्य तथा २. संवृत्ति सत्य। पहला सत्य तो शून्य रूप है। वही वास्तव है और उससे इतर सबकुछ मिथ्या है, झूठा है तथा अनृत है, परन्तु उसकी व्यावहारिक सत्ता है। 'संवृति सत्य' का अर्थ है व्यावहारिक सत्य। निर्वाण से भिन्न पदार्थों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है।

संवृत्ति सत्य पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति के लिए एक साधनमात्र है। निर्वाण की दशा भी साधारण व्यावहारिक दशा से भिन्न होती है, क्योंकि निर्वाण पानेवाला प्राणी व्यावहारिक दशा से सर्वथा मुक्त हो जाता है। हमारी कल्पना से वह अतीत होती है। उसका भी वर्णन नकारात्मक रूप से ही किया जा सकता है। निर्वाण का रूप-निर्धारण करते हुए आचार्य नागार्जुन के इस नकारात्मक विवरण पर ध्यान देना आवश्यक है। वह कहते हैं कि जो अज्ञात है (अर्थात् साधारण उपायों के द्वारा अविदित होता है), जिसकी प्राप्ति नई नहीं होती (अर्थात् जो सर्वदा प्राप्त है), जिसका विनाश नहीं होता, जो नित्य भी नहीं है, जो निरुद्ध नहीं है और जो उत्पन्न भी नहीं है, उसीका नाम निर्वाण है (माध्यमिक कारिक २५।३)। निर्वाण को यथार्थ रूपसे जाननेवाला व्यक्ति ही 'तथागत' (बुद्ध) है और इसीलिए उनका भी स्वरूप निर्वाण के समान ही वर्णनातीत है।

शून्यवाद के इस संक्षिप्त वर्णन से पाठकों को यह बात ध्यान में आ गई होगी कि माध्यमिकों के शून्याद्वैत तथा शंकराचार्य के ब्रह्माद्वैत के सिद्धान्तों में अनेक समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं। माध्यमिक दो प्रकार के सत्य मानते हैं—व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य। वे वस्तु जगत् को काल्पनिक और असत्य मानते हैं। पारमार्थिक सत्ता का नकारात्मक वर्णन करते हैं तथा निर्वाण को उस सत्य की अनुभूति मानते हैं। अद्वैत-वेदान्त में भी ये विचार पाये जाते हैं। इसी कारण बहुत-से आलोचक शंकराचार्य के ही नहीं, प्रत्युत उनके भी पूर्ववर्ती आचार्य गौड़पाद के सिद्धान्तों पर माध्यमिकों की विचारधारा का प्रभाव स्वीकार करते हैं।

निर्वाण का स्वरूप

निर्वाण के स्वरूप के विषय में हीनयान और महायान की कल्पनाएं नितान्त भिन्न हैं। यह विषय बौद्ध-दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। निर्वाण के विषय में बौद्धधर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय का विशिष्ट मत है। निर्वाण भाव-रूप है अथवा अभाव रूप, इस विषय को लेकर बौद्ध-दर्शन में पर्याप्त मीमांसा की गई है। इस उपादेय विषय की यहां मीमांसा प्रस्तुत की जा रही है।

हीनयान

निर्वाण का सामान्य रूप—हीनयान मतानुयायी अपनेको तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित मानता है—१. दुःख-दुःखता अर्थात् भौतिक और मानसिक कारणों से उत्पन्न होनेवाला क्लेश, २. संस्कार-दुःखता अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाशशील जगत् की वस्तुओं से उत्पन्न होनेवाला क्लेश, ३. विपरिणाम दुःखता अर्थात् सुख का दुःख रूप में परिणत होने का क्लेश। मनुष्य को इन क्लेशों से कभी छुटकारा नहीं मिलता, चाहे वह कामधातु, रूपधातु अथवा अरूपधातु में ही जीवन क्यों न व्यतीत करता हो। इस दुःख से छुटकारा पाने का उपाय बुद्ध ने स्वयं बतलाया है—आर्य सत्य, सांसारिक पदार्थों की अनित्यता तथा अनात्मता का ज्ञान। अष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन से तथा जगत् के पदार्थों में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, इस ज्ञान को परिनैष्ठिक रूप देने पर साधक उपरिनिर्दिष्ट क्लेशों से सदा के लिए मुक्ति पा लेता है। फिर ये क्लेश उसे किसी प्रकार पीड़ित करने के लिए या संसार में बद्ध करने के लिए कथमपि समर्थ नहीं होते। अतः आर्य सत्य के ज्ञान से—सदाचार के अनुष्ठान से—हीनयान-सम्प्रदाय में कोई भी साधक क्लेशों से निवृत्ति पा लेता है।

निर्वाण और निरोध की एकता—हीनयान के विविध सम्प्रदायों में इस विषय को लेकर पर्याप्त मतभेद दिखाई पड़ता है। निकायों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि निर्वाण क्लेशभाव रूप है। जब क्लेश के आवरण का सर्वथा परिहार हो जाता है तब निर्वाण की अवस्था का जन्म होता है। इसे सुख-रूप भी बतलाया गया है; परन्तु अधिकतर बौद्ध निकाय निर्वाण को

अभावात्मक ही मानते हैं। 'मिलिंदप्रश्न' में निर्वाण के विषय में बड़ी सूक्ष्म विवेचना की गई है।[1] इसका स्पष्ट कथन है कि निरोध हो जाना ही निर्वाण है। संसार के सभी अज्ञानी जीव इन्द्रियों और विषयों के योग में लगे रहने के कारण नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं। परन्तु ज्ञानी आर्य-श्रावक इन्द्रियों और विषयों के उपभोग में न कभी लगा रहता है और न उसमें आनन्द ही लेता है। फलतः उसकी तृष्णा का निरोध हो जाता है। तृष्णा के निरोध के साथ उपादान का—भव का—निरोध उत्पन्न होता है। पुनर्जन्म के बन्द होते ही सभी दुःख रुक जाते हैं। इस प्रकार तृष्णादिक क्लेशों का निरोध हो जाना ही निर्वाण है। नागसेन की सम्मति में निर्वाण के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है। जिस प्रकार जलती हुई आग की लपट बुझ जाने पर दिखाई नहीं जा सकती, उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद वह व्यक्ति दिखाया नहीं जा सकता, क्योंकि उसके व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। अतः निर्वाण के अनन्तर व्यक्तित्व की सत्ता किसी प्रकार सिद्ध नहीं रहती।

निर्वाण की निर्गुणता—संसार में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं की यह विशेषता है कि उनमें से कुछ तो कर्म के कारण उत्पन्न होती हैं, कुछ हेतु के कारण और कुछ ऋतु के कारण। परन्तु निर्वाण ही आकाश के साथ ऐसा पदार्थ है, जो न तो कर्म के कारण उत्पन्न होता है, न हेतु के कारण और न ऋतु के कारण। वह तो हेतु से रहित त्रिकालातीत, इन्द्रियातीत और अनिर्वचनीय पदार्थ है, जिसे विशुद्ध ज्ञान के द्वारा अर्हत् जान सकता है। निर्वाण के साक्षात् करने के उपाय हैं, परन्तु उसे उत्पन्न करने का कोई उपाय नहीं है। साक्षात् करना तथा उत्पन्न करना दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं। कोई भी मनुष्य अपनी प्राकृतिक शक्ति के बल पर हिमालय तक जा सकता है, परन्तु वह लाखों कोशिश करने पर भी उसे इस स्थान पर नहीं ला सकता, कोई भी मनुष्य साधारण शक्ति के सहारे भी नाव पर चढ़कर समुद्र के इस पार से उस पार तक जा सकता है, परन्तु अश्रान्त परिश्रम करने पर भी उस पार को इस पार नहीं ला सकता, ठीक यही दशा निर्वाण की भी है। उसके साक्षात्कार करने का मार्ग बताया जा सकता

[1] मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ ६२।

है, परन्तु उसके उत्पादक हेतु को कोई भी नहीं दिखा सकता।[1] इसका कारण यह है कि निर्वाण निर्गुण है। उसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों से परे है। अदृश्य होने पर भी, इन्द्रियों द्वारा गोचर न किये जाने पर भी उसकी सत्ता है। अर्हत्-पद को प्राप्त कर भिक्षु विशुद्ध, ऋजु और आवरणों तथा सांसारिक कामों से रहित मन द्वारा निर्वाण को देखता है। अतः उसकी सत्ता के विषय में किसी प्रकार का अपलाप नहीं दिया जा सकता, परन्तु निर्गुण होने से वह उत्पादरहित है। उपाय होने से उसका साक्षात्कार अवश्य होता है, परन्तु वह स्वयं अनिर्वचनीय पदार्थ है।

निर्वाण की सुखरूपता—नागसेन ने निर्वाण की अवस्था के विषय में भी खूब विचार किया है।[2] महाराज मिलिन्द की सम्मति में निर्वाण में दुःख कुछ-न-कुछ अवश्य ही विद्यमान रहता है, क्योंकि निर्वाण की खोज करनेवाले नाना प्रकार के संयमों से अपने शरीर, मन तथा इन्द्रियों को तप्त किया करते हैं। ये संसार से नाता तोड़कर और इन्द्रियों तथा मन की वासनाओं को मारकर बन्द कर देते हैं, जिससे शरीर को भी कष्ट होता है और मन को भी। इसी युक्ति के सहारे मिलिन्द की दृष्टि से निर्वाण भी दुख से सना होता है। इसके उत्तर में नागसेन की स्पष्ट सम्मति है कि निर्वाण में दुःख का लेश भी नहीं रहता। वह तो सुख-ही-सुख है। राज्य की प्राप्ति होने में नाना प्रकार के क्लेश सहने पड़ते हैं, परन्तु स्वयं राज्य-प्राप्ति क्लेश में नहीं है। इसी प्रकार तपस्या, ममतात्याग, इन्द्रिय-जय आदि निर्वाण के उपायों में क्लेश अवश्य है, परन्तु स्वयं निर्वाण में क्लेश कहां ? वह तो महासमुद्रों के समान अनन्त है। कमल के समान क्लेशों से अलिप्त है। जल के समान सभी क्लेशों की गर्मी को शान्त कर देता है। कामतृष्णा, भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा की प्यास को बुझा देता है। वह आकाश के समान दश गुणों से युक्त रहता है। न पैदा होता है, न पुराना होता है, न मरता है और न आवागमन को प्राप्त करता है। वह दुर्जेय, स्वच्छन्द तथा अनन्त

---

[1] 'मिलिन्द प्रश्न', पृष्ठ ३२९-३३३।

[2] वही, पृष्ठ ३८४-४०३।

है। अच्छी राह पर चलकर संसार के सभी संस्कारों को अनित्य दुःख तथा अनात्म रूप से देखता हुआ कोई भी व्यक्ति प्रज्ञा से निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है। उसके लिए किसी दिशा का निर्देश नहीं किया जा सकता। महाकवि अश्वघोष का कहना है कि बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी पर जलता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न किसी विदिशा में, प्रत्युत स्नेह (तेल) के क्षय होने से वह केवल शान्ति को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष कहीं नहीं जाता है—न पृथ्वी पर, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न किसी विदिशा में—केवल क्लेश के क्षय हो जाने पर वह शान्ति प्राप्त कर लेता है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नांतरिक्षम्।
दिशं न कञ्चित् विदिशं न कञ्चिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति शांतिम्।

—सौंदरनन्द, १६।२८-२९

स्थविरवादी मत में निर्वाण की कल्पना—निर्वाण की यही सामान्य कल्पना है। ज्ञान के उदय होने से जब अविद्या के पाश स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाते हैं तब अर्हत् की अवस्था का नाम निर्वाण है। यही चरम लक्ष्य है, जिसके लिए भगवान् तथागत ने अपने धर्म की शिक्षा दी है। निर्वाण इसी लोक में प्राप्त होता है। वेदान्त में जीवन्मुक्त पुरुष की जो कल्पना है, वही कल्पना निर्वाण-प्राप्त अर्हत् की है। परन्तु निर्वाण के स्वरूप के विवेचन में हीनयान तथा महायान सम्प्रदाय के अनुयायियों में पर्याप्त मतभेद है। सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि हीनयान निर्वाण को दुःख का अभाव मात्र मानता है और महायान उसे आनन्द रूप बताता है। परन्तु हीनयान के सम्प्रदायों के भीतर भी इसके विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। थेरवादियों की दृष्टि से निर्वाण मानसिक तथा भौतिक जीवन का चरम निरोध है। निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है। 'निर्वाण' शब्द का अर्थ ही है बुझ जाना। जिस प्रकार दीपक तबतक जलता रहता है जबतक उसमें बत्ती और तेल विद्यमान रहते हैं, उनके नष्ट होते ही दीपक स्वतः शान्त हो जाता है, उसी प्रकार तृष्णा आदि

क्लेशों के विराम ले लेने पर जब यह भौतिक जीवन अपने चरम अवसान पर पहुंच जाता है तब यह निर्वाण कहलाता है।

वैभाषिक मत में निर्वाण—वैभाषिकों के मत इस विषय में स्थविर-वादियों के मत के समान ही हैं। वे भी निर्वाण को अभावात्मक मानते हैं। निर्वाण प्रतिसंख्या-निरोध है, अर्थात् विशुद्ध प्रज्ञा के सहारे सांसारिक साश्रव धर्मों तथा संस्कारों का जब अन्त हो जाता है तब वही निर्वाण कहलाता है।

प्रतिसंख्यानमनाश्रवा एव प्रज्ञा गृह्यते, तेन प्रज्ञाविशेषेन प्राप्यो निरोधः इति प्रतिसंख्या निरोधः!

——यशोमित्रकृत अभिधर्मकोशव्याख्या, पृष्ठ १६

निर्वाण नित्य, असंस्कृत धर्म, स्वतन्त्र सत्ता (भाव=वस्तु), पृथक् भूत सत्य पदार्थ (द्रव्य सत्य) है।

द्रव्य सन् प्रतिसंख्या-निरोधः सत्यचतुष्टयनिर्देशनिर्दिष्टत्वात् मार्ग-सत्यवत् इति वैभाषिकाः।

——अभिधर्मकोशव्याख्या, पृष्ठ १७

निर्वाण अचेतन अवस्था का सूचक है अथवा चेतन अवस्था का? इस प्रश्न के विषय में वैभाषिकों में एकमत नहीं दिखाई पड़ता। तिब्बतीय पर-म्परा से ज्ञात होता है कि कुछ वैभाषिक निर्वाण की प्राप्ति के अवसर पर उस चेतना का सर्वथा निरोध मानते थे, जो क्लेशोत्पादक (साश्रव) संस्कारों के द्वारा प्रभावित होती है। इसका अभिप्राय यह कि आश्रवों से किसी प्रकार भी प्रभावित न होनेवाली कोई चेतना अवश्य है, जो निर्वाण की प्राप्ति होने के बाद भी विद्यमान रहती है। वैभाषिकों का यह एक एकांगी मत था। इस मत के माननेवाले कौन थे, यह कहना बहुत ही कठिन है। वैभाषिकों का सामान्य मत यही है कि यह अभावात्मक है। संघभद्र की 'तर्कज्वाला' के अध्ययन से प्रतीत होता है कि मध्य भारत में वैभाषिकों का एक ऐसा सम्प्रदाय था, जो 'तथता' नामक चतुर्थ असंस्कृत धर्म मानता था। यह तथता वैशेषिकों के अभाव पदार्थ के समान था। निर्वाण की कल्पना के लिए ही अभाव के चारों भेदों—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव—की कल्पना की गई थी। यह तथता महायान सम्प्रदाय में परमार्थ सत्य के लिए

प्रयुक्त 'तथता' शब्द से नितान्त भिन्न है। इस प्रकार वैभाषिकों के मत में निर्वाण क्लेशाभाव रूप माना जाता है। परन्तु अभाव होने पर भी यह सत्तात्मक पदार्थ है। वैभाषिक लोग भी वैशेषिकों के समान अभाव पदार्थ मानते थे। भाव पदार्थों के समान अभाव भी स्वतन्त्र पदार्थ था।

सौत्रान्तिक मत में निर्वाण का रूप—ये लोग निर्वाण को विशुद्ध ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होनेवाला भौतिक जीवन का चरम निरोध मानते थे। इस अवस्था में भौतिक सत्ता किसी प्रकार विद्यमान नहीं रहती। इसीलिए यह उस सत्ता का अभाव माना गया है। परन्तु इस विषय में वैभाषिकों से इनका मत भिन्न है। वैभाषिक लोग तो निर्वाण को स्वतः सत्तावान् पदार्थ अर्थात् वस्तु मानते हैं। परन्तु सौत्रान्तिक लोग निर्वाण को वस्तु नहीं मानते। निर्वाण की प्राप्ति के अनन्तर सूक्ष्म चेतना विद्यमान रहती है, जो चरम शान्ति में डूबी रहती है। भोट देश की परम्परा से पता चलता है कि सौत्रान्तिकों की एक ऐसी उपशाखा थी, जो निर्वाण को भौतिक सत्ता तथा चेतना का उपशम मानती थी। उसकी दृष्टि में निर्वाण प्राप्त होनेवाले अर्हत् की भौतिक सत्ता का ही सर्वथा निरोध नहीं हो जाता, प्रत्युत चेतना का भी विनाश हो जाता है। इस शाखा के मतानुसार निर्वाण के अनन्तर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। न तो कुछ जीवन शेष रहता है और न कोई चेतना ही बाकी रह जाती है। इस प्रकार यह निर्वाण नितान्त अभावात्मक है।

नैयायिकों की मुक्ति से निर्वाण की तुलना—निर्वाण की यह हीनयानी कल्पना ब्राह्मण दार्शनिकों में से न्याय-वैशेषिक की मुक्ति की कल्पना से बिल्कुल मिलती-जुलती है। गौतम के शब्दों में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग (मुक्ति) कहते हैं। **तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।** —न्यायसूत्र १।१।२२ अत्यन्त का अर्थ है चरम अवसान, अर्थात् जिससे उपात्त वर्तमान जन्म का परिहार हो जाय तथा भविष्य में अन्य जन्म की उत्पत्ति न हो। गृहीत जन्म का नाश तो होना ही चाहिए, साथ ही भविष्य जन्म की अनुत्पत्ति भी आवश्यक है। इन दोनों के सिद्ध होने पर आत्मा दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति पा लेती है। जबतक वासना आदि आत्मगुणों का उच्छेद नहीं होता, तबतक दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए आत्मा

के नौ विशेष गुणों—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार—का मूलोच्छेद हो जाता है। मुक्त दशा में आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है और अखिल गुणों से विरहित रहती है। वह छह प्रकार की ऊर्मियों से भी रहित हो जाती है। ऊर्मि का अर्थ है क्लेश। भूख-प्यास प्राण को; लोभ-मोह चित्त को; शीत-आतप शरीर को क्लेशदायक होने से ये छहों ऊर्मि कहे जाते हैं। मुक्त आत्मा इन छहों ऊर्मियों के प्रभाव को पार कर लेती है और सुख-दुःख आदि सांसारिक बन्धनों से विमुक्त हो जाती है। उस अवस्था में दुःख के समान सुख का भी अभाव आत्मा में रहता है। जयन्त भट्ट[1] ने बहुत विस्तारपूर्वक भाववादी वेदान्तियों के मत का खण्डन कर मुक्ति के अभाव पक्ष को पुष्ट किया है। मुक्ति में सुख न मानने का प्रधान कारण यह है कि सुख के साथ राग का सम्बन्ध सदा लगा रहता है और यह राग है बन्धन का कारण। ऐसी अवस्था में मोक्ष को सुखात्मक मानने में बन्धन की निवृत्ति कथमपि नहीं हो सकती। इसलिए नैयायिक लोग मुक्ति को दुःख का अभाव रूप ही मानते हैं।

इसी अभावात्मक मोक्ष की कल्पना के कारण वेदान्ती श्रीहर्ष ने नैयायिकों की बहुत दिल्लगी उड़ाई है। उनका कहना है कि जिस सूत्रकार ने सचेतन प्राणियों के लिए ज्ञान, सुख आदि से विरहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य बताकर उपदेश किया है, उनका 'गोतम' नाम शब्दतः ही यथार्थ नहीं है, अपितु अर्थतः भी यथार्थ है, वे केवल गो न होकर गोतम (अतिशयेन गौः इति गोतमः=पक्का बैल) हैं।

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः ॥

—नैषधचरित, १७।७५

इस विवेचन से स्पष्ट है कि नैयायिक मुक्ति और हीनयानी निर्वाण की कल्पना एक ही है।

---

[1]न्यायमंजरी, भाग २ (चौखंभा संस्करण), पृ० ७५-८१

महायान

महायान सम्प्रदायवाले इस मुक्ति को वास्तविक रूप में निर्वाण मानने को तैयार नहीं हैं। उनकी सम्मति में इस निर्वाण से केवल क्लेशावरण का ही क्षय होता है, ज्ञेयावरण की सत्ता बनी ही रहती। हीनयान[1] सम्प्रदाय की दृष्टि में राग-द्वेष की सत्ता पंच स्कन्ध के रूप से या उससे भिन्न प्रकार से आत्मा की सत्ता मानने के ऊपर अवलम्बित है। आत्मा की सत्ता रहने पर ही मनुष्य के हृदय में यज्ञ-यागादिक में हिंसा करने की प्रवृत्ति होती है। परलोक में आत्मा को सुख पहुंचाने के लिए ही मनुष्य नाना प्रकार के अकुशल कर्मों का सम्पादन करता है। इसलिए समस्त क्लेश और दोष इसी आत्मदृष्टि (सत्काम दृष्टि) के विषम परिणाम हैं। अतः आत्मा का निषेध करना क्लेश-नाश का परम उपाय है। इसीको कहते हैं पुद्गल-नैरात्म्य। हीनयान इसी नैरात्म्य को मानता है। परन्तु इस नैरात्म्य के ज्ञान से केवल क्लेशावरण का ही क्षय होता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरे आवरण की भी सत्ता है, जिसे ज्ञेयावरण कहते हैं। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' में इन दोनों आवरणों का भेद बड़ी कुशलता से दिखाया गया है। नैरात्म्य दो प्रकार का है—(क) पुद्गल नैरात्म्य और (ख) धर्म नैरात्म्य। रागादिक क्लेश आत्मदृष्टि से उत्पन्न होते हैं, अतः पुद्गल नैरात्म्य के ज्ञान से प्राणी सब क्लेशों को छोड़ देता है।

जगत् के पदार्थों के अभाव या उनकी शून्यता के ज्ञान से सच्चे ज्ञान के ऊपर पड़ा आवरण स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाता है। मोक्ष और सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए इन दोनों आवरणों (क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण) का हटना नितान्त आवश्यक है। क्लेश-मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवरण का काम करते हैं, मुक्ति को रोकते हैं। अतः इस आवरण को दूर हटाने से मुक्ति

[1]सत्कामदृष्टिप्रभवानशेषान्, क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन्।
आत्मानमस्या विषयञ्च बुद्ध्वा, योगी करोत्यात्मनिषेधमेव ॥
—चन्द्रकीर्तिकृत माध्यमकावतार, ६।१२०। माध्यमिकवृत्ति, पृष्ठ ६४० में उद्धृत।

प्राप्त होती है। ज्ञेयावरण सब ज्ञेय पदार्थों के ऊपर ज्ञान की प्रवृत्ति रोकता है। अतः इस आवरण के दूर हो जाने पर सब वस्तुओं में अप्रतिहत ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जिससे सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।[1]

पुद्गलधर्मनैरात्म्यप्रतिपादनं पुनः क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणार्थम्। तथा ह्यात्मदृष्टिप्रभवा रागादयः क्लेशाः पुद्गलनैरात्म्यावबोधश्च सत्कायदृष्टेः प्रतिपक्षत्वात् तत्प्रहाणाय प्रवर्तमानः सर्वक्लेशान् प्रजहाति। धर्मनैरात्म्यज्ञानादपि ज्ञेयावरणप्रतिपक्षत्वात् ज्ञेयावरणं प्रहीयते। क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणमपि मोक्षसर्वज्ञत्वाधिगमार्थम्। क्लेशा हि मोक्षप्राप्तेरावरणमिति अतस्तेषु प्रहीणेषु मोक्षऽधिगम्यते। ज्ञेयावरणमपि सर्वस्मिन् ज्ञेये ज्ञानप्रवृत्तिप्रतिबन्धभूतं अक्लिष्टज्ञानम्। तस्मिन् प्रहीणे सर्वाकारे ज्ञेयेऽसक्तमप्रतिहतं च ज्ञानं प्रवर्तत इत्यतः सर्वज्ञत्वमधिगम्यते॥

——स्थिरमतिकृत और डा० सिल्वन लेवी सम्पादित 'त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्यम्', पृष्ठ १५

आवरणों का यह द्विविध भेद दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। महायान सम्प्रदाय के अनुसार हीनयानी निर्वाण में केवल पहले आवरण (अर्थात् क्लेशावरण) का ही अपनयन होता है। परन्तु शून्यता का ज्ञान होने से दूसरे प्रकार के आवरण का भी नाश होता है। जबतक इस दूसरे आवरण का क्षय नहीं होता तबतक वास्तविक निर्वाण हो ही नहीं सकता। परन्तु हीनयानी लोग इस भेद को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अर्हतों का ज्ञान अनावरण हो जाता है; परन्तु महायान सम्प्रदाय की यह कल्पना नितान्त मौलिक है। हीनयान सम्प्रदाय के अनुसार अर्हत्-पद की प्राप्ति ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। परन्तु महायान सम्प्रदाय के अनुसार बुद्धत्व-प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। उद्देश्य की इसी भिन्नता के कारण निर्वाण की कल्पना में भी भेद है।

नागार्जुन का मत—नागार्जुन ने निर्वाण की बहुत विशद परीक्षा 'माध्यमिककारिका' के पच्चीसवें परिच्छेद में की है। उनके मतानुसार निर्वाण न तो छोड़ा जा सकता है और न प्राप्त किया जाता है। यह न तो उच्छिन्न होनेवाला पदार्थ है और न शाश्वत। यह न तो निरुद्ध है और न उत्पन्न। उत्पत्ति होने पर ही किसी वस्तु का निरोध होता है। निर्वाण दोनों

से भिन्न है—

अप्रहाणम् असंप्राप्तम् अनुच्छिन्नम् अशाश्वतम् ।
अनिरुद्धम् अनुत्पन्नम् एतन्निर्वाणमुच्यते ।।

इस कारिका की व्याख्या करते हुए चंद्रकीर्ति का कथन है कि राग के समान निर्वाण का प्रहाण (त्याग) नहीं हो सकता और न सात्त्विक जीवन के फल के समान इसकी प्राप्ति ही संभव है। हीनयानियों के निर्वाण के समान यह नित्य नहीं है। यह स्वभाव से ही उत्पत्ति-विनाशरहित है और इसका लक्षण शब्दतः निर्वचनीय नहीं है। जबतक कल्पना का साम्राज्य बना हुआ है तबतक निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। महायानियों के अनुसार निर्वाण और संसार में कुछ भी भेद नहीं है। कल्पना-जाल के क्षय होने का नाम ही निर्वाण है। नागार्जुन ने निर्वाण को भाव पदार्थ माननेवाले तथा अभाव पदार्थ माननेवाले दार्शनिकों के मत की आलोचना की है। उनके मत में निर्वाण भाव तथा अभाव दोनों से अतिरिक्त पदार्थ है। यह अनिर्वचनीय है। यह परम तत्त्व है। इसीका नाम भूतकोटि या धर्मधातु है।

दोनों मतों में निर्वाण का सामान्य रूप

हीनयान तथा महायान संप्रदायों के ग्रंथों के अनुशीलन से निर्वाणविषयक सामान्य कल्पना का रूप इस प्रकार का स्थिर होता है—१. यह शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता (निष्प्रपंच)। यह असंस्कृत धर्म है, अतः न तो इसकी उत्पत्ति है, न इसका विनाश है और न परिवर्तन है। २. इसकी अनुभूति अपने ही अन्दर स्वतः की जा सकती है। इसीको योगाचारी लोग प्रत्यात्मवेद्य कहते हैं और हीनयानी लोग 'पच्चत्तं वेदितब्बं' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं। ३. यह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के बुद्धों के लिए एक है और सम है। ४. मार्ग द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है। ५. निर्वाण में व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है। ६. दोनों मतवाले बुद्ध के ज्ञान तथा शक्ति को लोकत्तर, अर्हत् के ज्ञान से बहुत ही उन्नत मानते हैं। महायानी लोग अर्हत् के निर्वाण को निम्न कोटि का तथा असिद्धावस्था का सूचक मानते हैं। इसे हीनयानी लोग

भी स्वीकार करते हैं।

दोनों सम्प्रदायों में निर्वाण की कल्पना में जो पार्थक्य है, उसे संक्षेप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा रहा है—

हीनयान	महायान
१. निर्वाण सत्य, नित्य, दुःखाभाव तथा पवित्र है।	१. महायानी इसको स्वीकार करता है, केवल दुःखाभाव न मानकर इसे सुख रूप मानता है। वस्तुतः माध्यमिक और योगाचार नित्य, अनित्य, सुख और असुख की कल्पना निर्वाण में नहीं मानते, क्योंकि उनकी दृष्टि निर्वाण अनिर्वचनीय है।
२. निर्वाण प्राप्त करने की वस्तु है (प्राप्तम्)।	२. निर्वाण अप्राप्य है।
३. निर्वाण भिक्षुओं के ध्यान और ज्ञान के लिए आरंभण (आलंबन) है।	३. ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय, भिक्षु और निर्वाण में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।
४. निर्वाण लोकोत्तर दशा है। प्राणिमात्र के लिए यह ऐसी सबसे उन्नत दशा है, जिसकी कल्पना की जा सकती है।	४. लोकोत्तर से बढ़कर भी एक दशा होती है, जिसे 'लंकावतार सूत्र' में 'लोकोत्तरतम' कहा गया है। यही निर्वाण है, जिसमें सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। योगाचार के मत में हीनयानी लोग केवल विमुक्तिकाय (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं और महायानी लोग धर्मकाय और सर्वज्ञत्व को प्राप्त करते हैं।
५. निर्वाण के केवल दो रूप हैं—सोपाधिशेष और निरुपाधिशेष या प्रति-संख्या निरोध और अप्रति-संख्या-निरोध।	५. योगाचार के अनुसार निर्वाण के दो भेद और होते हैं—प्रकृतिशुद्ध निर्वाण और अप्रतिष्ठित[1] निर्वाण।

---

[1] 'सूत्रालंकार' (पृष्ठ १२६-२७) के अनुसार श्रावक और प्रत्येक बुद्ध

६. हीनयानी निर्वाण और संसार की धर्म-समता नहीं मानता।	६. माध्यमिकों के मतानुसार निर्वाण ही निराकार परमार्थ भूत है। यही एकमात्र सत्ता है। अन्य पदार्थ चित्त के केवल विकल्प मात्र हैं। इस प्रकार निर्वाण और संसार में धर्म-समता रहती है। इन दोनों का सम्बन्ध समुद्र और लहरी के समान है।
७. हीनयानी जगत् के पदार्थों की भी सत्ता मानता है। जगत् उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार निर्वाण।	७. माध्यमिक और योगाचार दोनों की सम्मति में निर्वाण अद्वैत है; अर्थात् उसमें ज्ञाता, ज्ञेय; विषय, विषयी; विधि, निषेध का द्वैत किसी प्रकार भी विद्यमान नहीं रहता। यही एक तत्त्व है। जगत का प्रपंच मायिक तथा मिथ्या है।
८. हीनयानी को यह द्विविध आवरण की कल्पना मान्य नहीं है।	८. महायान-सम्प्रदाय में निर्वाण की प्राप्ति को रोकनेवाले

मैत्री से हीन होने के कारण अपना चित्त निर्वाण की प्राप्ति में ही लगाते हैं। परन्तु बोधिसत्त्व मैत्री से युक्त होने के कारण निर्वाण में अपना चित्त कभी नहीं लगाता। इसीलिए उसकी सत्ता अप्रतिष्ठित निर्वाण में मानी जाती है। यह निर्वाण बुद्धों के द्वारा ही प्राप्य है। यह अवस्था अर्हत् से बढ़कर है। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' के अनुसार इस दशा में बुद्ध संसार एवं निर्वाण दोनों की कल्पना से बहुत ऊंचे रहते हैं।

> आविष्टानां कृपया न तिष्ठति मनः शमे कृपालूनाम्।
> कुत एव लोक सौख्ये स्वजीविते वा भवेत् स्नेहः ॥
> निस्नेहानां श्रावकप्रत्येकबुद्धानां सर्वदुःखोपशमे निर्वाणे प्रतिष्ठितं मनः। बोधिसत्त्वानां तु करुणाविष्टत्वात् निर्वाणेऽपि मनः न प्रतिष्ठितम्।

उसकी सम्मति में क्लेशावरण के अनन्तर अर्हत् का ज्ञान आवरण-हीन रहता है।	दो प्रकार के आवरण माने गए हैं—क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण। उनकी सम्मति में हीनयानी केवल क्लेशा-वरण से मुक्त हो सकता है। महायानी ही स्वयं दोनों आवरणों से मुक्त हो सकते हैं।[1]

निर्वाण का परिनिष्ठित रूप

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हीनयान मत में जब भिक्षु अर्हत की दशा प्राप्त कर लेता है तब उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। साधारणतया प्राणी पूर्वकर्मों के कारण उत्पन्न होनेवाले धर्मों का संघातमात्र है। वह अनन्त काल से इस भ्रान्ति में पड़ा है कि उसके भीतर आत्मा नामक कोई चेतन पदार्थ है। अष्टांगिक मार्ग के सेवन से प्रत्येक व्यक्ति को वस्तुओं की अनित्यता का अनुभव हो जाता है। जिन स्कंधों से उसका शरीर बना हुआ है, वे स्कंध विशिष्ट रूप से उसीके नहीं हैं। जगत् के प्रत्येक प्राणी उन्हीं स्कंधों से बने हैं। इस विषय का जब उसे अच्छी तरह ज्ञान हो जाता है तब वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है। निर्वाण वह मानसिक दशा है, जिसमें भिक्षु जगत् के अनन्त प्राणियों के साथ अपना विभेद नहीं कर सकता। उसके व्यक्तित्व का लोप हो जाता है तथा सब प्राणियों के एकत्व की भावना उसके हृदय में जाग्रित हो जाती है। साधारण रीति से हीनयानी निर्वाण की यही कल्पना है। परन्तु महायानी कल्पना इससे नितान्त भिन्न है। महायानी लोग धर्मों की सत्ता मानते ही नहीं। वे लोग केवल धर्मकाय या धर्मधातु को ही सत्य मानते हैं। बुद्ध को छोड़कर जितने प्राणी हैं, वे सब कल्पना-जाल में पड़े हैं। पुत्र और धन को रखनेवाला व्यक्ति उसी प्रकार भ्रान्ति में पड़ा हुआ है, जिस प्रकार सुख और शान्ति के सूचक निर्वाण को

---

[1] हीनयानी निर्वाण का वर्णन 'कथावत्थु,' 'विशुद्धिमग्ग' तथा 'अभिधम्म-कोश' के अनुसार है तथा महायानी निर्वाण का वर्णन 'माध्यमिकवृत्ति' और 'लंकावतारसूत्र' के अनुसार है। इन दोनों मतों के विशेष विवरण के लिए देखिये 'दत्तकृत आस्पेक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म'—पृष्ठ १९८-२०१

पानेवाला हीनयानी अर्हत। दोनों असत्य में सत्य की भावना कर कल्पना के प्रपंच में पड़े हुए हैं। महायान मत में निर्वाण ही परम सत्ता है। उसे छोड़कर जगत के समस्त पदार्थ कल्पना-प्रसूत हैं। जिस क्षण प्राणी इस बात का अनुभव करने लगता है कि वही सत्य है, संसार निर्वाण से पृथक् नहीं है (अर्थात् दोनों एक ही हैं) उस क्षण वह बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। इसके लिए केवल अपने आत्मत्व की भावना को ही दूर करने से काम नहीं चलेगा, प्रत्युत जिस वस्तु को वह देखता है, वह पदार्थ भी आत्मशून्य है, इसका ज्ञान भी परमावश्यक है। जब इस ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब महायानी कल्पना के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

सांख्य और वेदान्त की मुक्ति से निर्वाण की तुलना

उपरिनिर्दिष्ट निर्वाण की द्विविध कल्पना सांख्य तथा वेदांत की मुक्ति के साथ तुलनीय है। इन दोनों ब्राह्मण दर्शनों की मुक्ति में महान् अन्तर है। सांख्य द्वैतवादी है और वेदांत अद्वैतवादी। सांख्य की दृष्टि में प्रकृति और पुरुष को एक मानने से अज्ञान उत्पन्न होता है। वेदांत की दृष्टि में एक तत्त्व को अनेक समझने में अज्ञान है। सांख्य की प्रक्रिया के अनुसार समाधि के द्वारा बाह्य जगत के पदार्थों पर ध्यान लगाने से सब विषय धीरे-धीरे छंट जाते हैं तथा अस्मिता में उनका अवसान हो जाता है। अस्मिता विषयी और विषय के परस्पर मिश्रण का सूचक है। 'अस्मि' में दो अंश हैं—अस्+मि। अस्=सत्त्व या प्रकृति तथा मि=उत्तम पुरुष=चेतन। 'अस्मि' पुरुष नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सत्त्व का अंश नहीं है। 'अस्मि' प्रकृति भी नहीं है, क्योंकि जड़ होने से वह 'मि' अर्थात् 'चेतन पुरुष' नहीं हो सकती। इसीलिए 'अस्मि' प्रकृति तथा पुरुष का, विषयी तथा विषय का मिश्रण है। समाधिप्रज्ञा के बल पर हम इस अंश तक पहुंचते हैं। अब यहां से पुरुष को प्रकृति से पृथक् हटाने का प्रयत्न होता है। विवेकख्याति ही सांख्य का चरम लक्ष्य है। प्रकृति तथा पुरुष के पृथकत्व के ज्ञान को विवेकख्याति कहते हैं। 'योगसूत्र' के मतानुसार इसकी सात भूमियां हैं। पुरुष धीरे-धीरे इन भूमियों को पार करता हुआ सत्त्व से पृथक् होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। सत्त्व तो स्वयं अंधकारमय है। पुरुष का

प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण ही वह दिखाई पड़ता है। विवेकख्याति होने पर जब पुरुष का प्रतिबिम्ब हट जाता है तब सत्त्व, जड़ अंधकारमय हो जाता है। यही सांख्य की मुक्ति है, जिसमें पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति का सर्वथा विनाश हो जाता है। इस मुक्ति की कल्पना में प्रकृति अवश्य रहती है, परन्तु पुरुष से उसका किसी प्रकार से सम्बन्ध नहीं रहता।

वेदांत में मुक्ति की कल्पना इससे बढ़कर है। उसमें प्रकृति या माया का कोई भी स्थान नहीं है। माया बिल्कुल असत्य पदार्थ है। ब्रह्म ही एक मात्र परमार्थ है। जब इसका ज्ञान हो जाता है तब प्रकृति या माया की सत्ता कथमपि रहती ही नहीं। ब्रह्म की ही केवल सत्ता है। उस समय ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का भान होता है। वेदांत की मुक्ति आनन्दमयी है। वह नैयायिक तथा सांख्य मुक्ति के समान आनन्दविरहित नहीं है। इस प्रकार सांख्य मत में क्लेशावरण का ही क्षय होता है, परन्तु वेदांत में ज्ञेयावरण का भी लोप हो जाता है। अतः हीनयानी निर्वाण सांख्य की मुक्ति के समान है और महायानी निर्वाण वेदांत की मुक्ति का प्रतीक है।[1]

---

[1] बौद्ध निर्वाण के विस्तृत तथा प्रामाणिक प्रतिपादन के लिए देखिये—

(अ) डा० ओबरमिलरकृत 'निर्वान एकार्डिंग टु टिबेटन ट्रेडिशन', 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' पत्रिका, कलकत्ता, जिल्द १०, संख्या २, पृष्ठ २११-२५७

(आ) डा० दत्तकृत 'आस्पेक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म', पृष्ठ १२९–२०४

(इ) बलदेव उपाध्यायकृत 'भारतीय दर्शन', पृष्ठ २१७–२२७

(ई) डा० पुसेंकृत 'लेक्चर्स ऑन निर्वान'

(उ) डा० शेर्बात्स्कीकृत 'दि सेंट्रल कांसेप्शन् ऑव निर्वान'

खण्ड ३
आस्तिक दर्शन

१. न्याय
२. वैशेषिक
३. सांख्य
४. योग
५. मीमांसा
६. वेदान्त

: १ :

न्याय

नामकरण

न्याय-दर्शन का विषय है 'न्याय' का प्रतिपादन। न्याय का व्यापक अर्थ है—विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तुतत्त्व की परीक्षा। **प्रमाणैरर्थ-परीक्षणं न्यायः**—वात्स्यायन न्यायभाष्य १।१।१,। परार्थ अनुमान के पंचावयववाकयों के लिए भी 'न्याय' का प्रयोग किया जाता है। इसका दूसरा नाम 'आन्वीक्षिकी' है। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य प्रमाणों का ऐसा निरूपण करना है, जिसकी सहायता से वस्तु के स्वरूप का निर्णय किया जा सकता है।

इतिहास

न्याय-दर्शन की उत्पत्ति कब हुई? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना कठिन है। न्याय के मुख्यतः दो रूप हैं—प्राचीन 'न्याय' तथा 'नव्य-न्याय।' प्राचीन न्याय गौतम-रचित न्याय-सूत्रों पर आधारित है, जिसमें सोलह पदार्थों का विस्तृत निरूपण है। 'नव्य न्याय' का मिथिला के गंगेश उपाध्याय (१२ शती) ने अपने युगान्तरकारी ग्रन्थ 'तत्त्व चिन्तामणि' के द्वारा प्रवर्तित किया। पहली धारा में पदार्थों के निरूपण पर आग्रह है तो दूसरी में प्रमाणों के निरूपण पर। न्याय-दर्शन का इतिहास लगभग दो सहस्र वर्षों की उन्नति तथा चिन्ता का इतिहास है। गौतम ने न्याय सूत्रों की रचना विक्रम से पूर्व चतुर्थ शतक में की। वात्स्यायन (विक्रमी द्वितीय शती) ने सूत्रों पर 'न्याय भाष्य' लिखकर सूत्रों के दुरूह अर्थों को बोधगम्य बनाया। उद्योतकर (षष्ठ शती) ने न्याय-भाष्य पर 'न्यायवार्तिक' की रचना कर बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग के मतों का

प्रबल खण्डन किया तथा न्याय-मत को पुष्ट किया। वाचस्पति मिश्र (नवम शती) ने उद्योतकर के इस वार्तिक के गूढ़ तात्पर्य को समझाने के लिए 'न्यायवर्तिक तात्पर्य-टीका' का प्रणयन किया। इनसे पहले ही जयन्त भट्ट (अष्टम शती) ने 'न्यायमंजरी' की रचना कर न्याय के सिद्धान्तों का प्रौढ़ प्रतिपादन किया। उदयनाचार्य (दशम शती) ने वाचस्पति के ग्रन्थ का मर्म समझाने के लिए 'तात्पर्य परिशुद्धि' नामक प्रख्यात व्याख्या लिखी। कालान्तर में इस परिशुद्धि की अनेक टीकाएं और उपटीकाएं लिखी गईं। नव्य न्याय के जन्मदाता गंगेश उपाध्याय मिथिला के निवासी नितान्त प्रौढ़ नैयायिक थे। इनका 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक निबन्ध-ग्रन्थ न्याय-तत्त्वों के प्रकाश के लिए सचमुच चिन्तामणि है। इनके हाथों गौतम पदार्थशास्त्र अब प्रमाणशास्त्र के रूप में सर्वथा परिणत हो गया। नव्य याय का प्रधान गढ़ मिथिला तथा नवद्वीप (बंगाल) है, जिनके नैयायिकों ने इस शास्त्र की सर्वांगपूर्ण उन्नति की। रघुनाथ शिरोमणि ने चिन्तामणि पर दिधिति तथा मथुरानाथ तर्कवागीश ने 'रहस्य' नाम्नी टीका (माथुरी) लिखी। जगदीश भट्टाचार्य (१७ शती) ने दीधिति पर 'जगदीशी' और गदाधर भट्टाचार्य (१७ शती) ने बृहत्काय गादाधरी नामक नितान्त प्रौढ़ तथा प्रमेय-बहुल टीकाएं लिखी। ये ग्रन्थ नव्य न्याय के आधार-ग्रन्थ हैं, जिनका अध्ययन आज भी पाण्डित्य की कसौटी माना जाता है। इस प्रकार आज भी न्याय-पण्डितों के अध्ययन-अध्यापन का प्रधान विषय है, विशेषकर बंगाल में।

न्यायशास्त्र के षोडश पदार्थ

न्यायशास्त्र का मुख्य उद्देश्य निःश्रेयस-मुक्ति की प्राप्ति है और इसका मुख्य साधन तत्त्व-ज्ञान है। किन पदार्थों का तत्त्व-ज्ञान? इसके उत्तर में न्याय-दर्शन के प्रथम सूत्र में ही गौतम मुनि ने षोडश पदार्थों के नामों का उल्लेख किया है। गौतम-निर्दिष्ट षोडश पदार्थों का नाम तथा क्रम इस प्रकार है—

१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त ६. सिद्धान्त, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति, १६. निग्रहस्थान।

इन पदार्थों का संक्षिप्त परिचय क्रमशः उपस्थित किया जाता है—

१. प्रमाण—प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के असाधारण कारण को प्रमाण कहा जाता है। इसके द्वारा ही किसी वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान उत्पन्न होता है। न्याय में ये चार होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

२. प्रमेय—प्रमा के विषय को प्रमेय कहते हैं,जो संख्या में बारह हैं–आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग। इनका विस्तृत परिचय आगे दिया जायगा।

३. संशय—एक ही धर्मी में विरुद्ध अनेक धर्मों का परिज्ञान 'संशय' कहलाता है, स्थाणु (ठूंठ) अथवा पुरुष। एक ही पदार्थ में कुछ तो स्थाणु के धर्म और कुछ पुरुष के धर्म प्रतीत हो रहे हैं। अतः यह संशय उत्पन्न होता है कि यह वस्तु स्थाणु है अथवा पुरुष।

४. प्रयोजन—इससे प्रयुक्त होकर पुरुष किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। प्रयोजन मुख्यरूपेण सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश है, क्योंकि इन्हीं के लिए सबकी प्रवृत्ति होती है। किसी भी कार्य में प्राणी इसीलिए प्रवृत्त होता है कि उसके द्वारा उसे सुख की प्राप्ति होगी और दुःख का नाश होगा।

५. दृष्टान्त—जिसके विषय में वादी और प्रतिवादी में किसी प्रकार का मतभेद न हो, वह दृष्टान्त कहलाता है। साधारण लौकिक पुरुष और विशेषज्ञ परीक्षक उसे एक रूप से मानते हैं। यह दो प्रकार का होता है—साधर्म्य दृष्टान्त जैसे धूमवत्ता का दृष्टान्त महानस (रसोईघर) तथा वैधर्म्य दृष्टान्त जैसे धूमवत्ता का तालाब।

६. सिद्धान्त—प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया गया अर्थ 'सिद्धान्त' कहलाता है। यह चार प्रकार का होता है—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण तथा अभ्युपगम।

७. अवयव—अनुमान करते समय जिस वाक्य का प्रयोग किया जाता है, उसके अंगों को अवयव कहते हैं। ये संख्या में पांच होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन। इनकी व्याख्या अनुमान के प्रकरण में आगे की जायगी।

८. तर्क—यह प्रमाण नहीं है, किन्तु प्रमाणों का अनुग्राहक है। दो

व्याप्तियुक्त धर्मों में से व्याप्य के स्वीकार करने से अनिष्ट व्यापक की प्रसक्ति होना 'तर्क' कहलाता है। जैसे 'यदि यहां घट होता, तो वह भूतल के समान दिखाई पड़ता'।

६. **निर्णय**—निश्चयात्मक ज्ञान को 'निर्णय' कहते हैं। यह प्रमाणों का फल होता है।

१०. वाद—शास्त्रार्थ के समय किसी विवेचनीय विषय पर प्रश्न करनेवाले को 'वादी' और उसके उत्तर देनेवाले को 'प्रतिवादी' कहते हैं। ये दोनों जब तत्त्व के जानने के लिए शास्त्रार्थ (कथा), करते हैं तब इसे 'वाद' कहते हैं। इस कथा का उद्देश्य होता है तत्त्व का परिज्ञान, वस्तु के स्वरूप की अवगति।

११. जल्प—जब वादी-प्रतिवादी विजय की अभिलाषा से शास्त्रार्थ में जुटते हैं और अपने-अपने पक्ष के समर्थन में अर्थात् अपने ही पक्ष को सिद्ध करने के लिए कथा करते हैं, तो यह जल्प कहलाती है।

१२. **वितण्डा**—जब विजिगीषु का उद्देश्य परपक्ष में केवल दूषण देने का होता है और वह अपने किसी पक्ष की स्थापना नहीं करता, तब यह कथा 'वितण्डा' कहलाती है। 'कथा' का यहां अर्थ है किसी तत्त्व के निर्णय करने के लिए अनेक वक्ताओं के द्वारा पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के रूप में चर्चा या वार्तालाप। यदि यह तत्त्व-निर्णय के ही उद्देश्य से की जाती है, तब यह कथा होती है 'वाद'; परपक्ष का खण्डन कर स्वपक्ष की स्थापना होने पर यह होती है 'जल्प' और स्वपक्ष की स्थापना से विरहित होकर परपक्ष के खण्डन होने पर यही कहलाती है 'वितण्डा'। कथा के इस त्रिविध भेद का यही पारस्परिक अन्तर है।

१३. हेत्वाभास—अच्छे हेतु से ही अनुमान यथार्थतः हो सकता है। सत्-हेतु के पांच रूप हैं। सत्-हेतु के अभाव होने से जो अयथार्थ अनुमान होता है, उसे ही हेत्वाभास कहते हैं। विशेष विवरण आगे किया जायगा।

१४. छल—अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द की किसी दूसरे अर्थ में कल्पना कर दोष देना 'छल' कहलाता है। जैसे किसीने कहा—**नवकम्बलोऽयं देवदत्तः** (देवदत्त के पास नया कम्बल है)। यहां प्रतिवादी 'नवकम्बल'

का अर्थ नौ कम्बलोंवाला अर्थ कर दोष देता है कि इस दरिद्र देवदत्त के पास दो कम्बल भी नहीं हैं, नौ कम्बलों की तो बात ही अलग ठहरी। अतः यहां 'नवकम्बल' के विभिन्न अर्थ में कल्पना किये जाने से यह छल का उदाहरण हुआ।

१५. **जाति**—असद् उत्तर को जाति कहते हैं। इसके न्यायसूत्र में चौबीस प्रकार बतलाये गए हैं। 'उत्कर्ष समा' जाति का उदाहरण देखिये। वादी ने कहा, "शब्द अनित्य है, कृतक (उत्पाद्य) होने के कारण, घट के समान।" इसपर प्रतिवादी का कथन है, "यदि कृतकत्व हेतु शब्द घट के समान अनित्य है, तो इसी हेतु के कारण उसी घट के समान शब्द को सावयव भी होना चाहिए।" इस उदाहरण में शब्द में अविद्यमान सावयवत्व रूप एक नया धर्म बढ़ाया जा रहा है। अतः इस जाति का नाम है—उत्कर्ष समा।

१६. **निग्रह स्थान**—वह पदार्थ,जिसके द्वारा शत्रु को शास्त्रार्थ में पराजय सिद्ध होता है,निग्रह स्थान कहलाता है। 'निग्रह' का शाब्दिक अर्थ है पकड़ना, पराजय। अतः पराजय के हेतु को 'निग्रह स्थान' कहते हैं। न्यायसूत्र में बाईस निग्रह-स्थानों के नाम और लक्षण निर्दिष्ट हैं। एक-दो का निर्देश पर्याप्त होगा। सिद्धान्त से च्युत होना 'अपसिद्धान्त' विवक्षित से कुछ अधिक कहना 'अधिक', विवक्षित अर्थ से न्यून होने पर 'न्यून' प्रकृत विषय से असम्बद्ध अर्थ के कथन पर 'अर्थान्तर', प्रश्न का उत्तर न सूझ पड़ने पर 'अप्रतिमा' नामक निग्रह-स्थान होता है, जिनके द्वारा वादी पराजित किया जाता है।

न्याय की तत्त्वमीमांसा

न्याय-शास्त्र के द्वारा निर्मित तत्त्वमीमांसा का विषय 'प्रमेय' नामक पदार्थ के निरूपण के अवसर पर प्रतिपादित किया गया है। प्रमेयों की संख्या गौतम के अनुसार बारह है—१. आत्मा, २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. अर्थ, ५. बुद्धि, ६. मन, ७. प्रवृत्ति, ८. दोष, ९. प्रेत्यभाव, १०. फल, ११. दुःख; १२. अपवर्ग। इन प्रमेयों का वर्णन तत्त्वमीमांसा के तथा कर्तव्य-मीमांसा के प्रसंग में किया जायगा।

१. **आत्मा**—आत्मा देह, इंद्रिय तथा मन से भिन्न रहनेवाला एक पृथक

पदार्थ है, जिसका अस्तित्व प्रमाणों के द्वारा सिद्ध है। अपने आत्मा की सत्ता का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष के द्वारा होता है, परन्तु आत्मा के विषय में सन्देह उपस्थित होने पर हम उसका ज्ञान बुद्धि, सुख-दुःख,द्वेष प्रयत्नादि गुणों को हेतुभूत मानकर 'परिशेष अनुमान' के द्वारा करते हैं। बुद्धि आदि अनित्य होते हुए केवल एक इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होने से'गुण' हैं। गुण गुणी के आश्रित रहता है। इसलिए बुद्धि आदिक गुण जिस गुणी के आश्रित रहते हैं, वह 'आत्मा' सिद्ध होता है। आत्मा विभु है, अर्थात् परम महत् परिमाण से युक्त है। विभु होने के कारण वह आकाश के समान सत्य भी है। सुखादिकों की विचित्रता के कारण आत्मा प्रति-शरीर में भिन्न है। सुख-दुःख आदि की विचित्रता सर्वत्र लक्षित होती है। कोई सामान्यरूप से सुखी है, तो कोई सुख के अगाध भण्डार में अपना जीवन बिता रहा है। राग-द्वेष की भी ऐसी ही विचित्रता है। इसी विचित्रता के कारण बाध्य होकर हमें मानना पड़ता है कि आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न ही होता है।

२. **शरीर**—इस आत्मा के भोग का आयतन या आश्रय शरीर कहलाता है। भोग का अर्थ है सुख अथवा दुःख इन दोनों में से किसी एक का साक्षात्कार या अनुभव। आत्मा ही सुख तथा दुःख का अनुभव करता है, परन्तु किसी आश्रय के द्वारा ही इस कार्य की सिद्धि हो सकती है, अतः जिससे अवच्छिन्न अथवा सीमित होकर भोग आत्मा में रहता है, वही है भोगायतन और वही शरीर कहलाता है।

३. **इन्द्रिय**—शरीर से संयुक्त, अतीन्द्रिय (अर्थात इन्द्रियों से गृहीत न होनेवाला) ज्ञान का करण इन्द्रीय कहलाता है। इन्द्रियों के द्वारा ही हमें पदार्थों का ज्ञान होता है। अतएव इन्द्रियों को ज्ञान का करण माना गया है। साथ-ही-साथ वे 'अतीन्द्रिय' हैं, अर्थात् इन्द्रियों का ग्रहण हमें किसी इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता। वे शरीर से युक्त होते हैं। शरीर के संयोग के अभाव में इन्द्रियां अपना व्यापार नहीं कर सकतीं। इन्द्रियां संख्या में छः हैं—घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र (ये तो पांच बाहरी इन्द्रियां हैं) तथा मन (भीतरी इन्द्रिय, अन्तःकरण या अन्तरिन्द्रिय)

४. **अर्थ**—इस प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिकों द्वारा निर्दिष्ट द्रव्य, गुण, कर्म,सामान्य, विशेष तथा समवाय—इन छः पदार्थों का ग्रहण किया जाता

है। इनका विशेष विवरण वैशेषिक दर्शन के अवसर पर दिया जायगा।

५. **बुद्धि**—अर्थ के ज्ञान को 'बुद्धि' कहते हैं। उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय आदि शब्दों के द्वारा इसी बुद्धि का संकेत किया जाता है। यह बुद्धि दो प्रकार की होती है—अनुभव तथा स्मृति।

६. **मन**—यह भीतरी इन्द्रिय है, जो सुख-दुःख आदि आंतर वस्तुओं के ग्रहण का साधन है।

७. **प्रवृत्ति**—प्रवृत्ति का तात्पर्य है धर्माधर्ममयी यागादि क्रिया। यज्ञ करने से धर्म का उदय होता है और वेदों से निषिद्ध कर्मों के करने से अधर्म की उत्पत्ति होती है। संसार में व्यवहार के साधन होने से ये प्रवृत्ति के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

८. **दोष**—दोष तीन प्रकार के होते हैं—(१) राग=इच्छा, किसी काम में अभिलाषा; (२) द्वेष=क्रोध; (३) मोह, जिसका अर्थ है मिथ्या ज्ञान।

९. **प्रेत्यभाव**—प्रेत्यभाव (प्रेत्य=मरकर, भाव=पुनः उत्पन्न होना) का अर्थ है पुनर्जन्म। आत्मा नित्य माना गया है और इसलिए मरने के बाद उसके पुनर्जन्म की कल्पना असम्भव है। प्रेत्यभाव से यही तात्पर्य है कि वह पूर्व-देह को छोड़कर अपूर्व या नवीन देह का ग्रहण करता है।

१०. **फल**—इसका अर्थ है सुख और दुःख इन दोनों में से किसी एक का साक्षात्कार।

११. **दुःख**—दुःख का अर्थ पीड़ा, प्रतिकूल वेदनीय वस्तु।

१२. **अपवर्ग**—इसका अर्थ है मोक्ष। इसका विवरण आगे किया जायगा।

ईश्वर की सत्ता

न्याय ईश्वरवादी दर्शन है। इसमें ईश्वर की सत्ता प्रमाणों के द्वारा सिद्ध की जाती है। बौद्ध लोग निरीश्वरवादी थे। उन लोगों के ईश्वर-सिद्धि के विरुद्ध प्रमाणों तथा युक्तियों का खण्डन नैयायिकों ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया है। उदयनाचार्य (११ शती) ने 'न्यायकुसमांजलि' नामक नितान्त प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना कर प्रतिपक्षियों के तर्कों का खण्डन कर ईश्वर

की सिद्धि बड़े आग्रह के साथ की है। अपने इसी पाण्डित्य के बल पर, सुनते हैं, उन्होंने जगन्नाथजी को भी दर्शन देने के लिए बाध्य किया था। कहा जाता है कि उदयन पुरी की यात्रा के अवसर पर जगन्नाथजी के दर्शनों के लिए जब मन्दिर के सिंहद्वार पर पहुंचे, तब असमय होने के कारण मंदिर का पट बन्द था। उन्होंने ललकारकर कहा—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेसु मदधीना तव स्थितिः॥

—इस समय आप ऐश्वर्य के घमण्ड में इस उदयन की अवज्ञा कर रहे हैं; पर याद रखिये जब बौद्ध उपस्थित होकर ईश्वरवाद की धज्जियां उड़ाने लगेंगे, तब तुम्हारी स्थिति मेरे अधीन होगी। सचमुच उदयन ने इस प्रौढ़ ग्रन्थ में अपनी प्रतिभा के आलोक से ईश्वर की सत्ता को साभिमान सिद्ध किया है और निरीश्वरवादियों का मुख मुद्रण कर दिया है। इसीलिए पूर्वोक्त गर्वोक्ति में ऐतिहासिक सत्यता है। वह पाण्डित्य के अभिमान के द्वारा प्रेरित केवल सूखी उक्ति नहीं है। अब देखना है कि न्याय ईश्वर की सिद्धि किन प्रमाणों के आधार पर करता है।

ईश्वर रूप आदि गुणों से रहित होने के कारण अतीन्द्रिय माना जाता है और यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि अतीन्द्रिय वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिए ईश्वर की सत्ता प्रत्यक्ष के द्वारा न मानकर अनुमान के द्वारा सिद्ध की जाती है। लोक में कार्य को देखकर कर्ता का अनुमान करना स्वतः-सिद्ध है। घड़े को देखकर उसके बनानेवाले किसी व्यक्ति का अनुमान करना न्याय-संगत है। कर्त्ता के अभाव में कार्य क्योंकर उत्पन्न हो सकता है? इसी प्रकार यह संसार और इसमें रहनेवाले जन्तु, पशु, पक्षी, मनुष्य, वृक्ष, लता आदि समस्त वस्तुएं उत्पन्न होने से कार्य रूप हैं। अतएव इन कार्यों का उत्पादक, जगत् का सर्जन करनेवाला कोई न-कोई अवश्य होगा और वही ईश्वर है। इसपर प्रतिपक्षी का कथन है कि पृथ्वी, समुद्र आदि की उत्पत्ति किसीने तो कभी नहीं देखी है। फलतः उत्पन्न न होने से ये कार्य नहीं माने जा सकते। अतः ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। न्याय का उत्तर इसके समाधान में यह है कि सागर, पृथ्वी आदि की उत्पत्ति अवश्य किसीने नहीं देखी है, तथापि ये उत्पन्न और कार्य ही हैं सावयव होने से।

जगत् का यह व्यापक नियम है कि जो-जो वस्तु सावयव—अवयव से सम्पन्न होती है, वह अवश्यमेव कार्य होता है घट-पट के सामान। इस प्रकार सावयव होने से पृथ्वी-समुद्र आदि की उत्पत्ति नितान्त सिद्ध है और इनके उत्पादक और स्रष्टा होने से ईश्वर की भी सिद्धि नितान्त युक्ति-युक्त है।

अदृष्ट की कल्पना के द्वारा भी ईश्वर की सत्ता न्याय को मान्य है। जगत् के प्राणियों की वर्तमान दशा देखने पर इनमें कितना अन्तर दृष्टि-गोचर होता है। कोई तो राजसी ठाट-वाट से जीवन बिताता हुआ आनन्द सागर में गोता लगाता है तो दूसरा रोटी के लिए भी तरसता हुआ एक दरवाजे से दूसरे दरवाजे पर भीख मांगकर भी अपना पेट भरने में समर्थ नहीं होता। इस वैषम्य का कारण है जीवों का विचित्र कर्म। जीवों की वर्तमान दशा उनके प्राचीन कर्मों के फलरूप में ही उदित होती है। अच्छे कर्मों के फल अच्छे होते हैं और बुरे कर्मों के फल बुरे। आज किये गए कर्म का फल कालान्तर में उत्पन्न कैसे होता है? इसके उत्तर में न्याय का कहना है कि अदृष्ट के द्वारा। पुण्य तथा पाप के समुदाय को ही हम 'अदृष्ट' के नाम से पुकारते हैं। परन्तु अदृष्ट स्वयं जड़ ठहरा और इसीलिए उसमें फल देने की सामर्थ्य कहां? इसीलिए उसके प्रेरक की कल्पना न्यायदर्शन करता है और वह प्रेरक और कोई न होकर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही है।

श्रुति के कथनानुसार ईश्वर है और इसलिए ईश्वर की सत्ता सर्वथा मान्य है। श्वेताश्वतर उपनिषद् कहता है—एक देव सब प्राणियों में छिपा हुआ है। वह सर्वव्यापी और सबकी अन्तरात्मा है। वह कर्म का अध्यक्ष है, केवल है और निर्गुण है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा
साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च ॥

—श्वेताश्वतर ६।११

उपनिषदों का सार प्रस्तुत करनेवाली भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण के इसी प्रकार के वचन हैं—मैं ही विश्व की गति हूं, भर्ता, प्रभु (स्वामी), साक्षी (कार्याकार्य को देखनेवाला), निवास (आश्रय-स्थान), शरण

(रक्षक), सुहृत्, माता-पिता हूं—

> गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
> प्रभवः प्रलयः स्थानं निदानं बीजमव्ययम् ॥
>
> —गीता ९।१८

श्रुति के ऐसे स्पष्ट उल्लेखों से हमें बाध्य होकर मानना पड़ता है कि ईश्वर है और वह इस विश्व का स्रष्टा, रक्षक तथा प्रलय-काल में अपने में इसे आश्रय देनेवाला है। उदयनाचार्य ने और अधिक प्रमाणों का उपन्यास कर ईश्वर की सिद्धि स्वीकृत की है।[1]

यहां एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि जगत् की रचना करने में ईश्वर की जो प्रवृत्ति है, वह स्वार्थमूलक है अथवा परार्थमूलक? ईश्वर अपने किसी स्वार्थ की सिद्धि के लिए विश्व का निर्माण करता है अथवा किसी परोपकार के लिए? स्वार्थ मानने में दो विकल्प होते हैं—इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार। इष्ट-प्राप्ति के लिए ईश्वर विश्व की सृष्टि करता है, यह मानना ठीक नहीं; क्योंकि वह स्वयं पूर्णकाम ठहरा। उसकी कोई भी कामना नहीं है, जिसके लिए वह इस कार्य में प्रवृत्त हो। न उसे अनिष्ट-परिहार (न चाही गई वस्तु को छोड़ देना) करना है, क्योंकि सकल इष्ट कामनाओं के प्राप्त होने के हेतु उसके किसी अनिष्ट की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि परार्थ ईश्वर की प्रवृत्ति मानी जाय तो भी यह बात नहीं जंचती। करुणा से ही परार्थ प्रवृत्ति होती है। करुणा क्या है? अपने स्वार्थ की बिना अपेक्षा रखे दूसरों के दुःखों को नाश करने की इच्छा। यदि ऐसी बात होती तो जगत् में कोई भी दुःखी दृष्टिगोचर नहीं होता; सभी सुखी पाये जाते। परन्तु तथ्य इससे उलटा है। फलतः जगत् के निर्माण में ईश्वर की प्रवृत्ति ही नहीं होनी चाहिए। तब रचना हुई क्योंकर और कैसे?

इस शंका का समाधान न्याय इस प्रकार करता है—जगत् की रचना में करुणा को कारण मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं प्रतीत होती। तब जगत् में सब सुखी क्यों नहीं हैं? इसका कारण है प्राणियों का सुकृत

[1] देखिये बलदेव उपाध्याय-कृत 'भारतीय दर्शन' (पञ्चम संस्करण, काशी, १९५७) —पृष्ठ ६८८-६९०

(शोभन कार्य) तथा दुष्कृत (बुरे काम)। सुकृत करनेवाला प्राणी सुखी होता है और दुष्कृत करनेवाला प्राणी दुःखी होता है। इस कर्म-वैचित्र्य के कारण जीव की दशा में विचित्रता है, अर्थात् प्राणियों के कर्म की अपेक्षा रखता हुआ ईश्वर विश्व का निर्माण करता है। तब तो कर्म की अपेक्षा रखने से ईश्वर की स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी और वह परतन्त्र माना जायगा। परन्तु ऐसी कल्पना उचित नहीं है, क्योंकि कर्म भी जगत् के अन्तर्गत ईश्वर-कारित होने से ईश्वरांग ही है। फलतः अंग होने से कर्म ईश्वर का व्यवधायक नहीं है। अतः कर्मापेक्षी ईश्वर भी परतन्त्र न होकर स्वतन्त्र ही होता है। उसके स्वातन्त्र्य में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रहती।

न्याय के प्रमाण

न्यायदर्शन के अनुसार चार प्रमाण होते हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान और ४. शब्द। इन प्रमाणों की सहायता से जो यथार्थ ज्ञान (प्रमा) उत्पन्न होता है, उसके भी क्रमशः नाम हैं—१. प्रत्यक्ष प्रमा, २. अनुमिति, ३. उपमिति तथा ४. शाब्दी प्रमा।

'प्रमा' तथा 'प्रमाण' परस्पर सम्बद्ध शब्द हैं। प्रमा का अर्थ है यथार्थ-ज्ञान और इसके साधन को, अर्थात् इसके उत्पादन में कारण होनेवाले वस्तु को 'प्रमाण' कहते हैं। 'प्रमाण' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ भी यही है—**प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्**। प्रमा चार प्रकार की होती है और इसीसे उसके साधन रूप प्रमाण भी चार प्रकार के होते हैं। मेज पर रखी हुई पुस्तक को मैं अपनी आंखों से देख रहा हूं और तब मुझे पुस्तक के अस्तित्व का ज्ञान होता है। इसीका नाम है—'प्रत्यक्ष प्रमा'। पर्वत के ऊपर सन्तत निकलने-वाली धूम-रेखा को जब दर्शक देखता है, तब उसे यह ज्ञान होता है कि यह पर्वत वह्निमान है—इस पर्वत में अग्नि की सत्ता है। यह ज्ञान 'अनुमिति' कहलाता है और इसके साधनभूत प्रमाण को 'अनुमान' कहते हैं। 'गाय के समान 'गवय' (नील गाय) होता है' इस वचन को सुनकर कोई व्यक्ति जंगल में जाता है और वहां गलकम्बल से युक्त पशु को देखकर गाय के साथ उसकी शारीरिक समता अवलोकन कर वह पूर्ववाक्य का स्मरण कर 'यह पशु गवय है', यह ज्ञान प्राप्त करता है। इसी प्रमा का नाम 'उपमिति'

है और इसके साधनभूत प्रमाण को 'उपमान' कहते है। किसी आप्त या-विश्वसनीय पुरुष से कोई व्यक्ति सुनता है कि स्वर्ग नामक एक लोक है, जहां भूतल पर पुण्य कार्य करनेवाले लोग मरने के बाद जाते हैं। तब वह स्वर्ग की सत्ता का ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञान की संज्ञा है—'शाब्दी-प्रमा' और इसके प्रमाण को शब्द-प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार प्रमा (यथार्थ ज्ञान) चार प्रकार की होती है और उसके साधक प्रमाण भी चार प्रकार के होते हैं—

प्रत्यक्ष

'प्रत्यक्ष' का अर्थ है इन्द्रिय संयोग होने पर पदार्थ का ज्ञान। यह साक्षात् रूप से होता है। इसमें किसी ज्ञान का व्यवधान नहीं होता। भूतल पर रखे हुए घड़े का ज्ञान हमें अपनी चक्षु इन्द्रिय के द्वारा होता है। आत्मा में घट-ज्ञान होने के लिए तीन सम्बन्ध की आवश्यकता होती है। इस मानस-प्रक्रिया का विश्लेषण न्याय ने बड़ी सुन्दरता से किया है। 'द्रव्य-इन्द्रिय-संयोग'—सर्वप्रथम संयोग वस्तु के साथ इन्द्रिय का होता है। घट के प्रत्यक्ष के अवसर पर चक्षु इन्द्रिय का घट के साथ संयोग होता है; गन्ध के प्रत्यक्ष के समय पुष्प के साथ घ्राण, इन्द्रिय का संयोग होता है। यह पहली आवश्यकता है। 'इन्द्रिय-मनःसंयोग'—इन्द्रिय का मन के साथ संयोग होना दूसरी सीढ़ी है और तीसरी सीढ़ी है—'आत्म मनःसंयोग' अर्थात् आत्मा का मन के साथ संयोग। इन तीनों में से यदि कहीं भी त्रुटि रहती है तो वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। वस्तु, इन्द्रिय, मन, आत्मा इस लड़ी में कहीं भी टूट मिले तो समझ रखिये प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वाटिका में सुन्दर गुलाब को अपनी आंखों से देखता हुआ भी व्यक्ति कभी गुलाब के अस्तित्व से परिचित नहीं होता। क्या कारण? वह मन-ही-मन किसी दूसरी चीज को सोचा करता है। कक्षा में बैठा हुआ छात्र अपने कानों से अध्यापक के व्याख्यान को सुनता हुआ भी अनसुन कर देता है। क्यों? क्योंकि वह उस समय अपने किसी मित्र के पत्र के विषय में सोचता रहता है। इन दोनों दृष्टान्तों में प्रथम संयोग होने पर भी इन्द्रिय मन का संयोग सम्पन्न नहीं होता। इसीलिए हम ऐसे व्यक्ति को 'अन्यमनस्क' कहते

हैं। अर्थात् उसका मन उपस्थित वस्तु के साथ संयुक्त न होकर किसी दूसरे पदार्थ के साथ उस समय संयुक्त रहता है। इसीलिए न्यायशास्त्र का कहना है कि आत्ममनःसंयोग ज्ञानमात्र के लिए सर्वदा आवश्यक होता है।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है 'निर्विकल्पक' तथा 'सविकल्पक'। इन दोनों प्रकारों को समझने के लिए आप अपने को उस बालक की स्थिति में ले जाइये, जो एक स्थान से किसी दूरस्थ वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। वह उसे केवल देखता है, परन्तु वह बिल्कुल ही नहीं जानता कि वह वस्तु है क्या? उसका रूप कैसा है? वह कौन क्रिया कर रही है? उसका नाम क्या है आदि-आदि? वह उस समय न तो उसकी 'जाति' से परिचित होता है, न 'गुण' से, न 'क्रिया' से और न उसकी 'संज्ञा' से। उसका ज्ञान केवल इतना ही होता है कि वह कुछ है—'**किञ्चिद् इदम्**' बस इतना ही; इससे कुछ अधिक नहीं। इस प्रकार जाति,गुण, क्रिया तथा नाम की कल्पना से विहीन यह प्रत्यक्ष 'निर्विकल्पक' कहलाता है। इसके बाद वह वस्तु धीरे-धीरे उस बालक की ओर बढ़ती चली आती है तब वह बालक जान लेता है कि "श्यामा नामक यह काली गाय घास चर रही है।" इस प्रत्यक्ष ज्ञान में श्यामा नाम है, काली गुण है,चरती क्रिया है और गाय जाति का बोधक है। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष ज्ञान नाम जात्यादि योजना से विशिष्ट है और इसलिए इसका नाम 'सविकल्पक' है। नैयायिकों की यह व्याख्या आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के प्रत्यक्ष विश्लेषणसे साम्य रखती है, जिसमें पूर्वोक्त प्रथम ज्ञान का नाम है सेन्सेशन (इंद्रियज्ञान) तथा दूसरे का परसेप्शन (प्रत्यक्ष ज्ञान)।

अनुमान

'अनुमान' का शाब्दिक अर्थ है—अनु = पीछे; मान = प्रमाण अर्थात् पीछे होनेवाला प्रमाण। परन्तु किसके पीछे? प्रत्यक्ष के पीछे। अनुमान की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष के अनन्तर ही होती है। हम प्रतिदिन पाकशाला से आग जलाने पर धुआं उठते हुए देखते हैं। सुबह-शाम, गर्मी या बरसात, जब हम कभी रसोईघर की ओर भोजन पकाते समय दृष्टि डालते हैं, तब हम सर्वदा धुआं उठते हुए पाते हैं। धुएं को देखकर हम सहज में अनुमान लगा लेते हैं कि आग जलती होगी। धूम तथा अग्नि का सम्बन्ध सार्वभौम है। अपने प्रतिदिन के अनुभव से हम इसी परिणाम पर पहुंचते

है कि "जहां-जहां धुआं होगा, वहां-वहां अग्नि अवश्य होगी।" यह नियम सदा-सर्वथा सच्चा है। इस नियम को 'व्याप्ति' कहते हैं। इस व्याप्ति का दर्शन करनेवाला कोई भी व्यक्ति जब किसी पर्वत से धुएं की रेखा को निकलते हुए देखता है, तब वह अनुमान सहज में लगा लेता है कि यह पर्वत वह्नि से अवश्यमेव है। यही ज्ञान अनुमिति कहलाता है और इसका करण 'अनुमान' कहलाता है। इस अनुमान में धूम की सत्ता से अग्नि की सत्ता का अनुमान लगाया जाता है। इस अनुमान-वाक्य का रूप होगा—

पर्वतोऽयं (यह पर्वत) =पक्ष
वह्निमान् (वह्नि से युक्त है) =साध्य
धूमात् (धूम के कारण से) =हेतु; लिंग

यहां पर्वत के ऊपर हम किसी विशिष्ट हेतु के द्वारा वह्नि-सम्पन्न होने की घटना का अनुमान लगाते हैं। यहां तीन शब्द हैं और इनकी विभिन्न संज्ञाएं है। जिस वस्तु में किसी वस्तु की सत्ता हमें सिद्ध करना अभीष्ट हो, उसे 'पक्ष' कहते हैं। यहां 'पर्वत' पर वह्निमत्ता सिद्ध करनी है, तो 'पर्वत' पक्ष कहलायेगा। जिस वस्तु को सिद्ध करना है, उसे 'साध्य' कहते हैं, जैसे वह्निमान (क्योंकि पर्वत के ऊपर इसे ही सिद्ध करना है)। जिसके द्वारा साध्य सिद्ध किया जाता है, उसे 'हेतु' कहते हैं जैसे धूम। हेतु की ही दूसरी संज्ञाएं हैं—साधन, लिंग तथा व्याप्य। साध्य की इतर संज्ञाएं हैं—लिंगी तथा व्यापक।

हेतु को व्याप्य भी कहते हैं तथा साध्य को व्यापक। इसके उदाहरण पर दृष्टिपात करें। जहां गीली लकड़ी जलाई जाने पर आग उत्पन्न होती है, और धुआं भी दिखलाई पड़ता है, परन्तु ईंधन के गीला न होने पर धुआं नहीं दिखलाई पड़ता जैसे दहकते हुए अंगारे या जलते हुए लोहे के गोले में आग के रहने पर भी धुआं नहीं होता। इस प्रकार धूम के रहने का स्थान कम है और अग्नि का उससे कहीं अधिक। इसीलिए धूम है 'व्याप्य' और अग्नि है व्यापक।

इस प्रकार अनुमान का यह लक्षण निकाला जा सकता है—

लिङ्गात् लिङ्गिनो ज्ञानम् अनुमानम् ॥

—लिंग से अर्थात् हेतु से लिंगी अर्थात् साध्य का ज्ञान 'अनुमान' कहलाता

है। व्याप्य (धूम) की सत्ता देखकर व्यापक (अग्नि) का ज्ञान अनुमान होगा, क्योंकि धूमवाले स्थानों में अग्नि की सत्ता अनिवार्य है। जहां-जहां धूम रहेगा, वहां-वहां अग्नि अवश्यमेव रहता है। यही व्याप्ति-ज्ञान अनुमान का प्रौढ़ आधार है, जिसके ऊपर अनुमान का किला खड़ा किया जाता है।

इसके विपरीत व्यापक (अग्नि) से व्याप्य (हेतु—धूम) का अनुमान लगाना कथमपि ठीक नहीं है। दहकते हुए अंगारे को देखिये। वहां आग तो है, परन्तु धुआं नहीं है। अतः निश्चित है कि अग्नि के द्वारा धूम का ज्ञान कहीं भी अनुमान से सिद्ध नहीं होता। धूम की सत्ता के सहारे ही अग्नि का ज्ञान ठीक है। और यही अनुमान का सिद्ध लक्षण है।

अनुमान मुख्यतया दो प्रकार का होता है—१. स्वार्थानुमान, २. परार्थानुमान। स्वार्थानुमान अपने लिए किया जाता है—अपने समझने के लिए। जैसे महानस (पाकशाला) में विशेष प्रत्यक्ष से कोई व्यक्ति धूम और अग्नि की व्याप्ति को प्रथमतः ग्रहण करता है। तदनन्तर वह पर्वत के समीप जाकर सन्देह करता है कि पर्वत में अग्नि है या नहीं ? उसी समय वह पर्वत से निरन्तर अविच्छिन्न मूल धूम-रेखा को देखता है और तब उसका पुराना संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है और 'जहां धूम है वहां अग्नि अवश्यमेव विद्यमान रहता है,' इस व्याप्ति का वह स्मरण करता है। फलतः वह जान लेता है कि इस पर्वत में वह्नि-व्याप्य धूम विद्यमान है। इसलिए इस पर्वत पर अग्नि भी है; इस प्रकार वह पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञान कर लेता है। यही स्वार्थ अनुमान है। यहां अनुमान की प्रक्रिया में मानस-क्रिया से ही कार्य सम्पन्न हुआ, वाक्य-प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं हुई। परन्तु यदि कोई मनुष्य पूर्वरीति से स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान कर दूसरों को बोध कराना चाहता है तो वह पांच वाक्यों का प्रयोग करता है, जिनकी सहायता से यह अनुमान की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इस परार्थानुमान के पांच अवयवों (पञ्चावयव वाक्य या 'न्याय') के नाम क्रमशः ये हैं—१. प्रतिज्ञा, २. हेतु, ३. उदाहरण, ४. उपनय तथा ५. निगमन।

इसके उदाहरण इस प्रकार प्रयुक्त होते हैं—

१. यह पर्वत अग्निमान् है (प्रतिज्ञा),

२. क्योंकि यहां धूम का सद्भाव है (हेतु),

३. जहां-जहां धूम रहता है, वहां-वहां अग्नि भी विद्यमान रहता है, जैसे पाकशाला (उदाहरण)

४. यह पर्वत भी ऐसा ही एक स्थान है (उपनय),

५. अतएव यह पर्वत अग्निमान है (निगमन)।

इनमें पहला वाक्य 'प्रतिज्ञा' कहलाता है, जो सिद्ध किये जानेवाली वस्तु का निर्देश करता है। जिस प्रकार रेखागणित के किसी भी प्रमेय में प्रथमतः प्रतिज्ञा (या मुख्य प्रतिज्ञा) का उल्लेख किया जाता है, उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। दूसरा 'हेतु वाक्य' है, क्योंकि यहां अनुमान को सिद्ध करनेवाले हेतु (धूम) का निर्देश है। तीसरा वाक्य 'उदाहरण' कहलाता है, क्योंकि यहां व्याप्ति के साथ-साथ उसके उदाहरण का भी उल्लेख है अर्थात् उन स्थलों का जहां व्याप्ति का दर्शन पहले किया गया है। पहले व्याप्ति का रूप दिया जाता है और उसके बाद उसका उदाहरण भी रखा जाता है। चौथा वाक्य 'उपनय' कहलाता है, जहां व्याप्ति-विशिष्ट पक्ष का बोध होता है। अनुमान की प्रक्रिया में इस 'उपनय वाक्य' का भी महत्व किसी अन्य वाक्य से न्यून नहीं है। द्वितीय तथा तृतीय वाक्यों का समावेश इस चतुर्थ वाक्य में दिया गया है। द्वितीय वाक्य में धूम की सत्ता का निर्देश है और तृतीय वाक्य में धूम-वह्नि के साहचर्य-नियम का उल्लेख है और इन दोनों का समन्वय कर दिया जाता है चतुर्थ वाक्य में। अर्थात् इस पर्वत पर वह धूम है, जो अग्नि के साथ व्याप्ति रखता है। इस प्रकार उपनय का रूप है—**वह्निव्याप्य धूमवान् अयं पर्वतः** (अर्थात् वह्नि से व्याप्य धूम से युक्त यह पर्वत है।) वह्नि से व्याप्य धूम-सम्पन्न होने पर तुरन्त इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यह पर्वत वह्निमान है और यही 'निमगमन-वाक्य' कहलाता है।

अनुमान का मुख्य आधार 'व्याप्ति' ही है। हेतु तथा साध्य के साहचर्य-नियम को व्याप्ति कहते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव में जब एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु की उपस्थिति सर्वदा तथा सर्वथा विद्यमान हो तब यह होती 'अन्वय-व्याप्ति' (भावात्मक सम्बन्ध के कारण)। जब एक वस्तु के अभाव के साथ अन्य वस्तु की अनुपस्थिति विद्यमान रहे, तब इसे 'व्यतिरेक व्याप्ति' कहते हैं (अभावात्मक सम्बन्ध के कारण)। धूम तथा अग्नि की व्याप्ति

दोनों प्रकार की है। जहां-जहां धूम है, वहां अग्नि भी विद्यमान है जैसे पाकशाला अन्वय-व्याप्ति। जहां अग्नि का अभाव है, वहां धूम का भी अभाव है जैसे तालाब---व्यतिरेक-व्याप्ति। इस व्याप्ति की द्विविधता के कारण अनुमान के तीन प्रकार होते हैं—

१. 'केवलान्वयी अनुमान' (केवल अन्वय-व्याप्ति के आधार पर)। यथा घर अभिधेय है, क्योंकि वह प्रमेय (प्रमा का विषय) है। यहां प्रमेयता के साथ अभिधेयता की केवल अन्वय-व्याप्ति ही सम्भव है।

२. 'केवल व्यतिरेकी अनुमान' (केवल व्यतिरेक-व्याप्ति के आधार पर)। यथा पृथ्वी (पक्ष) अन्य भूतों से भिन्न है (साध्य); क्योंकि वह गन्धवती है (हेतु)। यहां गन्धवत्ता की अन्य भूतों में केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही सम्भव है। अन्य समस्त भूतों में गन्ध का अभाव होने के कारण अन्वयी उदाहरण असम्भव है।

३. 'अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान' (अन्वय और व्यतिरेक उभय-विध व्याप्तियों के कारण)। जैसे पर्वत (पक्ष) वह्निमान् है (साध्य); धूम होने के कारण (हेतु)। यहां धूम तथा वह्नि की व्याप्ति दोनों प्रकार की है।

हेत्वाभास

अनुमान में हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि होती है। उप- युक्ततथा विशुद्ध हेतु के द्वारा ही अनुमान की सिद्धि होती है। परन्तु यदि हेतु में किसी प्रकार की त्रुटि होती है, तो वह हेतु सच्चा हेतु न होकर हेतु का केवल आभास प्रतीत होता है और ऐसी दशा में वह साध्य का साधक नहीं होता। यह दुष्ट हेतु 'हेत्वाभास' (हेतु+आभास) कहलाता है।

किसी भी हेतु को अनुमान का साधक तथा शोभन होने के लिए पांच गुणों से समन्वित होना नितान्त आवश्यक है :

(क) हेतु का पक्ष में रहना (पक्षे सत्ता)

(ख) सपक्ष में अर्थात् पक्ष के समान स्थलों में (जैसे महानस आदि) हेतु का रहना (सपक्षे सत्ता)

(ग) विपक्ष में अर्थात् पक्ष से विपरीत स्थलों में (जैसे वह्निमान पर्वत से विपरीत स्थान-कूप, जलाशय आदि—में हेतु का अभाव (विपक्षाप व्यावृत्ति:)

(घ) साध्य से विपरीत वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य हेतु का अभाव होना अत्यन्त आवश्यक होता है (असत् प्रतिपक्षत्वम्)

(ङ) प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा बाधित न होना चाहिए (अबाधित विषयत्वम्)

इन पांच गुणों की सत्ता होने पर हेतु सत्-हेतु माना जाता है और वह अनुमान का साधक होता है, परन्तु इनमें से किसी भी गुण का अभाव होने पर वह हेतु सच्चा हेतु न होकर हेतु का आभास ही होता है। देखने में ही हेतु जान पड़ता है, परन्तु वस्तुतः वह हेतु नहीं होता। इसीलिए इसे हेत्वाभास कहते हैं। हेत्वाभास पांच प्रकार का होता है: १. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. सत्प्रतिपक्ष, ४. असिद्ध तथा ५. बाधित। इनका लक्षण उदाहरण के साथ संक्षेप में यहां दिया जाता है। हेत्वाभास को अंग्रेजी में 'फैलेसी' कहते हैं। पश्चिमी तर्कशास्त्र में पक्ष के भी आभास होते हैं (इलिसिट माइनर) तथा साध्य के भी दोष होते हैं (इलिसिट मेजर= साध्याभास), परन्तु न्यायशास्त्र में अनुमान के समस्त दोष असद् हेतु के कारण माने जाते हैं।

१. सव्यभिचार—व्यभिचार का अर्थ है साध्य से भिन्न पदार्थों में भी हेतु का अस्तित्व। इसका दूसरा नाम 'अनेकान्तिक' है। इसके मुख्यतया दो भेद होते हैं—साधारण और असाधारण। साधारण अनेकान्तिक होता है, ऊपर के तीसरे नियम के उल्लंघन होने पर। अतः यहां हेतु विपक्ष से व्यावृत्त न होकर (जैसा होना उचित है) विपक्ष में भी रहता है। जैसे पर्वत (पक्ष) वह्निमान है, (साध्य) प्रमेय होने से (हेतु)। यहां हेतु विपक्ष दृष्टान्तों जैसे जलाशय, ह्रद, समुद्र आदि में रहता है। अतः ऊपर अनुमान की सिद्धि अशुद्ध है।

असाधारण अनेकान्तिक तब होता है जब हेतु केवल पक्ष में ही रहता है। दूसरे नियम के उल्लंघन होने पर यह हेत्वाभास होता है यथा शब्द (पक्ष) होता है नित्य (साध्य), शब्दत्व के कारण (हेतु)। यहां शब्दत्व हेतु केवल पक्ष (शब्द) में ही रहता है, सपक्ष में अर्थात् नित्य-पदार्थों में नहीं रहता। जहां उसका रहना नितान्त आवश्यक है (नियम

दूसरा)।

२. **विरुद्ध**—जहां हेतु साध्य के अभाववाले स्थानों पर व्याप्त रहता है, वहां 'विरुद्ध' होता है। अभिप्राय यह है कि हेतु साध्य को सिद्ध न कर ठीक उसके उलटी वस्तु को सिद्ध करता है। जैसा शब्द (पक्ष) है नित्य (साध्य) कृतक या कार्य होने से (हेतु)। यहां कार्य होने से शब्द को नित्य सिद्ध करने का प्रयास है, परन्तु कार्यता (हेतु) अनित्य में रहती है, नित्य में नहीं। फलतः यह हेतु ठीक उलटी बात को सिद्ध करने में साधन होने से विरुद्ध है।

३. **सत् प्रतिपक्ष**—जहां साध्य के अभाव को सिद्ध करनेवाला दूसरा हेतु विद्यमान रहता है, वह कहलाता है–सत् प्रतिपक्ष (सत् = विद्यमान; प्रतिपक्ष = प्रतिस्पर्धी हेतु)। इसमें चौथे नियम का उल्लंघन होता है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु सिद्ध करना हमें अभीष्ट है, उससे नितान्त भिन्न वस्तु को सिद्ध करनेवाला दूसरा प्रबल हेतु बैठा हुआ है, तब अभीष्ट तथ्य की सिद्धि कैसे हो सकती है। यथा—

१. शब्द (पक्ष) है नित्य (साध्य) श्रावण होने से (हेतु) शब्दत्व के समान (उदाहरण)

२. शब्द (पक्ष) है अनित्य (साध्याभाव) कार्य होने से (हेतु) घट के समान (उदाहरण)

यहां साध्य के अभाव (अनित्यत्व) को सिद्ध करनेवाला हेतु वर्तमान है। फलतः प्रथम अनुमान दूषित ठहरता है।

४. **असिद्ध**—हेतु के असिद्ध होने पर यह प्रकार होता है। हेतु की असिद्धता तीन प्रकार से उत्पन्न होती है—(क) आश्रय से, (ख) स्वरूप से तथा (ग) व्याप्यत्व से। इसीलिए असिद्ध के तीन भेद होते हैं। आश्रयासिद्धि का यह दृष्टान्त लीजिये—आकाश कमल (पक्ष) सुगन्धित होता है (साध्य), आकाश कमल होने से (हेतु), सरसिज कमल के समान (उदाहरण)। यह अनुमान प्रकार ठीक नहीं है, क्योंकि आकाश कमल का अस्तित्व ही नहीं होता। इसी प्रकार स्वरूपासिद्ध तथा व्याप्यत्वासिद्ध नामक अन्य प्रभेदों के भी उदाहरण देखे जा सकते हैं। यह प्रथम नियम के उल्लंघन का फल है।

५. **बाधित**—जहां साध्य का अभाव अन्य प्रमाण के द्वारा निश्चित

है, वहां यह हेत्वाभास होता है। जैसे किसीने अनुमान किया—अग्नि शीतल है (साध्य), द्रव्य होने के कारण (हेतु)। इसका ठीक उलटा प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध पहले से ही है कि अग्नि उष्ण है। फलतः प्रत्यक्ष के द्वारा यह अनुमानबाधित है। यहां पांचवें नियम का उल्लंघन है।

उपमान

नैयायिकों का यह तीसरा प्रमाण है। पहले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहां किसी नई वस्तु का ज्ञान होता है, उस 'उपमान' कहते हैं। नगर के रहनेवाले किसी व्यक्ति ने 'गवय' (अर्थात् नील गाय) को कभी नहीं देखा था। किसी आरण्यकपुरुष ने उसे बतलाया कि **यथा गौस्तथा गवयः** (गाय के समान गवय होता है)। इस वाक्य के सुनने के बाद वह जंगल में जाता है और गाय के समान ही एक पशु विशेष को देखता है। तब उसे 'अतिदेश' वाक्य का स्मरण हो आता है। इस प्रकार अतिदेश वाक्य के अर्थ की स्मृति के सहारे उसे गो सदृश पिण्ड का ज्ञान होता है। इसीका नाम है उपमान प्रमाण। इसका फल है उपमिति। अर्थात् संज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध की प्रतीति। अतिदेश वाक्य के अर्थ को स्मरण करने पर वह व्यक्ति जान लेता है कि इस गो सदृश पशु को ही 'गवय' कहते हैं। यहां गोसदृश पिण्ड संज्ञी है और 'गवय' संज्ञा है। इन दोनों के सम्बन्ध की प्रतीति ही उपमान प्रमाण का फल है।

शब्द

नैयायिकों का अन्तिम प्रमाण है—'शब्द'। इसका लक्षण है आप्तपुरुष का उपदेश—**आप्तोपदेशः शब्दः** (न्यायसूत्र १।१।६)। 'आप्तपुरुष' उसे कहते हैं, जो वस्तु के यथार्थ रूप को जानता है और हितकारक उपदेशों के देने के कारण जिसके वाक्य को हम प्रमाण मानते हैं। शब्द दो प्रकार का होता है—लौकिक तथा वैदिक। लौकिक शब्द लौकिक पुरुषों के वाक्य को कहते हैं। वैदिक शब्द का तात्पर्य है वेद अथवा श्रुति। वेद को हम लोग अतीन्द्रिय, इन्द्रिय के अगोचर, पदार्थों के ज्ञान के लिए प्रमाण मानते हैं। सायणाचार्य का यह प्रख्यात श्लोक वेद की प्रामाणिकता का वर्णन करता है—

प्रत्यक्षेणानुमानेन यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥

——जो उपाय न प्रत्यक्ष के द्वारा, और न अनुमान के द्वारा जाना जा सकता है, उसे वेद की सहायता से हम जानते हैं। यही वेद की वेदता या स्वरूप है। ईश्वर, ब्रह्म, मोक्ष, स्वर्ग आदि अतीन्द्रिय वस्तुओं को हम इसीलिए सत्य मानते हैं कि वेद इनका निरूपण करता है। न्याय की दृष्टि में वेद सर्वज्ञ ईश्वर की रचना है। इसीलिए वह 'पौरुषेय' माना जाता है। इस विषय में वेद को अपौरुषेय माननेवाले मीमांसकों से न्यायमत नितान्त भिन्न है। कार्य होने से वेद न्याय-दृष्टि से अनित्य है, परन्तु उसकी अनित्यता जगत् के पदार्थों की अनित्यता के समान नहीं है।

कार्य-कारण-सिद्धान्त

प्रमाण का लक्षण देते समय ऊपर 'करण' शब्द का प्रयोग किया गया है। असाधारण कारण को 'करण' कहते हैं। कारण क्या है ? कार्य के नियत पूर्ववर्ती द्रव्य को कारण कहते हैं। कारण के लिए यह जरूरी है कि वह कार्य से पहले विद्यमान (पूर्ववर्ती) हो ; परन्तु यह पूर्ववर्ती होना नियत चाहिए अर्थात् कार्य से पहले वह सर्वदा और सर्वथा वर्तमान होना चाहिए। कारण तीन प्रकार का होता है—समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण। जिस उपादान से कोई वस्तु तैयार होती है, वह 'समवायी कारण' कहलाता है, क्योंकि उसमें समवाय सम्बन्ध से रहकर कार्य उत्पन्न होता है। मिट्टी से घड़ा तैयार किया जाता है। इसलिए मिट्टी घड़े का समवायी कारण है। तन्तु (डोरों) से कपड़ा बनता है और इसलिए तन्तु पट का समवायी (या उपादान) कारण है। कार्य के साथ अथवा कारण के साथ एक वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहते हुए जो कारण होता है, वह असमवायी कहलाता है। तन्तुओं का संयोग पट का असमवायी कारण है। निमित्त कारण इन दोनों से भिन्न होता है, जैसे पट का निमित्त कारण है तन्तुवाय (जुलाहा) और उसके औजार। इन तीनों में से कार्य की उत्पत्ति के लिए जो असाधारण, विशिष्ट या नितान्त साधक होता है, वह 'करण' कहलाता है (**साधकतमं करणम्**)। न्याय की दृष्टि में कार्य की उत्पत्ति होती है अर्थात् उत्पन्न होनेवाला घड़ा एक नवीन वस्तु है, जो मिट्टी में प्रथमतः विद्यमान न था। कार्य-कारण-सम्बन्ध में न्याय का यह

विशिष्ट मत है।

न्याय की आचार-मीमांसा

मुख्यतः प्रमाणशास्त्र होने पर भी न्याय-दर्शन मानवों के लिए आचार की मीमांसा भी करता है। न्याय के अनुसार मानव-जीवन का वही लक्ष्य है, जो इतर दर्शनों में प्रतिपादित किया गया है। संसार में हम प्राणियों को दुःखों के गर्त में नाना प्रकार के क्लेशों को सहते हुए पाते हैं। इन दुःखों से आत्यन्तिक मुक्ति पाना ही न्याय का भी उद्देश्य है। गौतम के शब्दों में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग या मुक्ति कहते हैं—

तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः

—न्यायसूत्र १।१।२२

—अर्थात् दुःखों के अत्यन्त नाश या मुक्ति पाने को अपवर्ग कहते हैं और यही न्याय का लक्ष्य है। इस सूत्र में 'अत्यन्त' शब्द पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है, क्योंकि यह बड़े महत्व का है। 'अत्यन्त' का अर्थ है (अति+अन्त) एकदम अन्तिम, सदा-सर्वदा के लिए मोक्ष। जन्म ग्रहण करने से ही दुःख का उदय है। इसलिए जो जन्म इस समय ग्रहण किया गया है, उसका नाश होना तो आवश्यक है ही। साथ-ही-साथ आगे जन्म नहीं होना चाहिए। गृहीत जन्म का नाश तो होना ही चाहिए, परन्तु भविष्य जन्म का न होना भी उतना ही आवश्यक है। यह सिद्ध होने पर ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।

मोक्ष का उपाय तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान होने पर मिथ्या ज्ञान स्वतः निवृत्त हो जाता है, जैसे रज्जु में ज्ञान होने पर सर्प का मिथ्या ज्ञान स्वयं निवृत्त हो जाता है। मिथ्या ज्ञान के नष्ट हो जाने पर राग-द्वेष आदि रोग स्वयं निवृत्त हो जाते हैं। इन दोषों की निवृत्ति होने से इनके द्वारा जायमान 'प्रवृत्ति' का नाश हो जाता है। जब प्रवृत्ति का अभाव है, तब जन्म का भी अभाव हो जाता है, क्योंकि जन्म का कारण धर्माधर्मरूपी प्रवृत्ति ही है। जन्म के निवृत्त होते ही दुःख की निवृत्ति स्वयमेव सम्पन्न हो जाती है। इसी दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का नाम अपवर्ग या मोक्ष है। इस तथ्य का प्रतिपादन महर्षि गौतम ने इस सूत्र में किया है—

दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानाम्
उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।

—न्यायसूत्र १।१।२

--सूत्र का आशय है कि दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्या ज्ञान-- इनमें उत्तर-उत्तर के नाश होने से पूर्व-पूर्व का नाश होने पर अपवर्ग होता है। तत्त्वज्ञान के उदय होने से किस प्रकार दुःख के उत्पादक कारण का नाश क्रमशः सम्पन्न होता है। इसकी प्रक्रिया ऊपर बतला दी गई है।

मुक्ति में आनन्द का अभाव

विचारणीय प्रश्न है कि न्याय-दर्शन के अनुसार मुक्ति में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही केवल होती है अथवा उसमें आनन्द का भी उदय होता है। इस प्रश्न की मीमांसा न्याय-दर्शन में बड़े आग्रह से की गई है और अन्य दार्शनिकों के मुक्तिवाद का खण्डन करके यही निष्कर्ष निकाला गया है कि नैयायिक मुक्ति में दुःख का आत्यन्तिक नाश होता है, उसमें आनन्द का लेशमात्र भी उदय नहीं होता। इसका कारण क्या है? यह अनुभव की बात है कि सुख के साथ राग का सम्पर्क लगा ही रहा है। सुख होने पर सुख के साधनों से प्रेम करना स्वाभाविक होता है। सुख तथा राग के इस पारस्परिक सम्बन्ध के कारण जबतक सुख रहेगा, तबतक राग का भी अस्तित्व बना ही रहेगा। ऊपर दिखलाया गया है कि राग दोष रूप है, क्योंकि यह धर्माधर्ममयी प्रवृत्ति का कारण होता है। फलतः सुख मानने से रागजन्य प्रवृत्ति तथा उससे उत्पन्न जन्म तथा दुःख से कथमपि छुटकारा नहीं मिल सकता। ऐसी दशा में मुक्ति में सुख की कल्पना कथमपि युक्ति-सम्मत नहीं है। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। प्राणी निरतिशय (सबसे अधिक; जिससे बढ़कर कोई न हो) सुख की इच्छा करता है, परन्तु क्या ऐसे सुख की प्राप्ति कभी हो सकती है। इस संसार में जितने सुख पाये जाते हैं, वे सब सातिशय (स्वल्प) हैं, निरतिशय नहीं। फलतः निरतिशय सुख की प्राप्ति की कल्पना मृगतृष्णा के समान अलीक है। सच तो यह है कि संसार से सब सुख भी हेयरूप ही हैं (**'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'**--योगसूत्र) क्योंकि उनकी सामग्री जुटाने में हमें अधिक-से-अधिक क्लेश सहना पड़ता है। फलतः समग्र सुख ही दुःख से

आक्रान्त है। विष से मिश्रित मधु के समान दुःख से मिश्रित सुख भी सर्वथा त्याज्य है। इसलिए सुख की प्राप्ति के लिए मोक्ष में किसी भी प्राणी का प्रवृत्ति नहीं हो सकती और इसी कारण दुःख की निवृत्ति को मोक्ष मानना समुचित होगा, न्याय-दर्शन का यही परिनिष्ठित मत है।

मुक्त आत्मा का स्वरूप

मुक्त आत्मा का स्वरूप कैसा होता है? न्याय के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा के इन नौ विशेष गुणों का सर्वथा नाश हो जाता है—१. बुद्धि (=ज्ञान), २. सुख, ३. दुःख, ४. इच्छा, ५. द्वेष, ६. प्रयत्न, ७. धर्म, ८. अधर्म तथा ९. संस्कार। शरीर के भोगायतन होने के कारण जीव जबतक शरीर के साथ सम्बद्ध रहता है, तबतक उसे भोगों की प्राप्ति होती है। मुक्तावस्था में जीव विदेह स्थिति में पहुंच जाता है; उसका शरीर से सम्पर्क छूट जाता है। तब राग-द्वेष आदि गुणों के साथ उसका सम्बन्ध कथमपि नहीं रह सकता। उस समय न उसमें ज्ञान रहता है और न सुख-दुःखादि अन्य विशेष गुण। जयन्त भट्ट के अनुसार मुक्तात्मा छः ऊर्मियों से विमुक्त रहता है। ऊर्मि का अर्थ है क्लेश-विशेष। भूख-प्यास प्राण की ऊर्मि है; लोभ-मोह चित्त की तथा शीत-उष्ण (जाड़ा-गर्मी) क्लेशदायक होने से शरीर की ऊर्मि कहलाते हैं। जयन्त भट्ट के शब्दों में मुक्तजीव अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, समस्त गुणों से वह हीन होता है, छः ऊर्मियों से वह अतीत होता है तथा संसार के बन्धन के अधीन दुःख तथा क्लेशादि से वह अदूषित रहता है—

स्वरूपैक प्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः।
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः।
संसारबन्धनाधीन दुःखक्लेशाद्यदूषितम्॥

—न्यायमंजरी, काशी संस्करण, पृ० ७७

यह है आदर्श न्याय-दर्शन का—जीव को अपने विशुद्ध रूप में प्रतिष्ठित कराना।

मुक्ति के साधन

'**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**'—विना तत्त्वज्ञान के मुक्ति नहीं होती। यह उपनिषद् का सिद्धान्त-न्याय दर्शन को भी मान्य है। तत्त्व ज्ञान होने पर

मिथ्या ज्ञान की निवृत्त होने से दुःख का नाश कैसे सम्पन्न होता है ? इसका विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है। यह तत्त्वज्ञान होता कैसे है ? जब मन इन्द्रियों को विषयों से हटाकर––एकाग्र होकर आत्मा से संयुक्त होता है, तब इधर-उधर ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। फिर इधर-उधर की चीजों के लिए राग-द्वेष भी नहीं हो सकते। तब जाकर मोक्ष होता है। मन की एकाग्रता तथा तत्साधनों का जो वर्णन योगशास्त्र में दिया गया है, वह न्याय को भी सम्मत है। मन की एकाग्रता उत्पन्न करने के लिए तपस्या, प्राणायाम, यम-नियम, प्रत्याहार, धारणा-ध्यान आदि की नितान्त आवश्यकता होती है।[1] इतना ही नहीं, आत्मविद्या का स्वयं अभ्यास करना चाहिए और उस विद्या के जानकार लोगों के साथ आलाप, मनन तथा परामर्श भी नितान्त उपादेय साधन है।[2] इन साधनों से उत्पन्न होनेवाला तत्त्वज्ञान ही वस्तु तथा अवस्तु, आत्मा तथा अनात्मा के पृथक्करण में समर्थ होता है और तभी दुःखों से सदा-सर्वदा के लिए मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

[1] न्याय दर्शन ४।२।२६

[2] तत्वज्ञान के उपायों की जानकारी के लिए देखिये 'न्यायसूत्र' चतुर्थ अध्याय।

: २ :

वैशेषिक

इस दर्शन की विपुल उपयोगिता के विषय में विद्वानों में यह कथन प्रसिद्ध है—**काणादं पाणिनीयं च सर्व शास्त्रोपकारकम्** अर्थात् कणादं दर्शन (वैशेषिक दर्शन) और पाणिनीय व्याकरण सब शास्त्रों में उपकारक होते हैं। शब्द-साधुता (शब्द के यथार्थ-निर्णय) में जिस प्रकार पाणिनि का व्याकरण उपकारक होता है; उसी प्रकार वैशेषिक दर्शन पदार्थों के रूप तथा लक्षण के विषय में नितान्त उपादेय है। इस दर्शन के नामकरण का विशिष्ट कारण यह है कि इस दर्शन में 'विशेष' नामक एक पदार्थ कल्पित किया जाता है, जिसके कारण नित्य पदार्थ जैसे एक अणु दूसरे अणु से भिन्न माना जाता है।

इतिहास

इस दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद हैं। वैशेषिक दर्शन के मूलभूत सूत्रों की संख्या तीन सौ सत्तर है, जो दस अध्यायों में विभक्त हैं और प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक है। इसके ऊपर 'रावण भाष्य' का उल्लेख ही ग्रन्थों में मिलता है, परन्तु इस ग्रन्थ की प्राप्ति अभी तक नहीं हुई है। प्रशस्तपाद द्वारा रचित 'पदार्थधर्मसंग्रह' इस दर्शन का एक मूल्यवान् मौलिक ग्रन्थ है। भाष्य की शैली में निर्मित न होने पर भी यह वैशेषिक भाष्य के नाम से सर्वसाधारण में प्रसिद्ध है। इसके ऊपर अनेक प्रौढ़ टीकाएं कालान्तर में हुई, जिनमें प्रसिद्धि-प्राप्त ये हैं—१. व्योमशिवाचार्य की 'व्योमवती', २. उदयनाचार्य (११शती) की 'किरणावली', ३. श्रीधर की 'न्याय-कन्दली' (रचनाकाल ९१३ शक = ९९१ ई०), ४. श्रीवत्स की 'न्याय लीला-वती', ५. वल्लभाचार्य की 'न्याय लीलावती' (१२शती का अन्तिम भाग);

६. पद्मनाभ मिश्र का 'सेतु' (१६शती का उत्तरार्द्ध), ७. शंकर मिश्र का 'कणाद-रहस्य,' ८. जगदीश की 'सूक्ति' (१८ शती)।

प्रशस्तपाद एक प्राचीन ग्रन्थकार हैं। बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु ने इन के सिद्धान्तों का खण्डन किया है और वात्स्यायन ने न्याय-भाष्य में उनका उपयोग किया है। अतः इन दोनों ग्रन्थों से प्राचीनतर होने के कारण इसका समय द्वितीय शती विक्रमी मानना उचित है। प्रशस्तपाद-भाष्य के आधार पर लिखित 'दशपदार्थी शास्त्र' (चन्द्र द्वारा प्रणीत) की रचना पंचम शती में सम्भवतः की गई थी। इसकी प्रसिद्धि का पता ७०५ विक्रमी (=६०८ ईस्वी) में किये गए चीनी अनुवाद से चलता है। संस्कृत मूल के अभाव में यही अनुवाद चन्द्र के सिद्धान्त का प्रदर्शक है। बहुत दिनों तक न्याय तथा वैशेषिक पृथक् दर्शन-प्रणाली के रूप में वर्तमान थे, परन्तु सिद्धान्तों की विशेष समानता होने के कारण पिछले विद्वानों ने दोनों का एकीकरण सम्पन्न कर दिया। ऐसे विद्वानों में सर्वप्राचीन हैं—शिवादित्य मिश्र (१०वीं शती), जिनका 'सप्त पदार्थी' इस समन्वय-पद्धति का मान्य ग्रन्थ है। विश्वनाथ न्यायपंचानन (१७ शती) का 'भाषा परिच्छेद' तथा उसकी स्वोपज्ञ टीका 'मुक्तावली' नितान्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। अन्नंभट्ट (१७ शती का उत्तरार्द्ध) का सुप्रसिद्ध 'तर्कसंग्रह' लोकप्रियता में अद्वितीय है। ये आन्ध्रदेश में उत्पन्न तैलंग ब्राह्मण थे, जिनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई थी। ग्रन्थकार ने ही 'तर्कदीपिका' नामक व्याख्या लिखकर वैशेषिक तथ्यों का सरल विवरण प्रस्तुत किया है। अन्नंभट्ट से पूर्ववर्ती मैथिल विद्वान शंकर मिश्र (१५शती) ने वैशेषिक सूत्रों की व्याख्या अपने 'उपस्कार' में की है, जो कणाद के सिद्धान्तों को समझने के लिए नितान्त उपयोगी और उपादेय ग्रन्थ माना जाता है।

तत्व-मीमांसा

वैशेषिक लोग जगत् की वस्तुओं के लिए, जिन्हें हम जान सकते हैं और जिन्हें हम कोई नाम दे सकते हैं, 'पदार्थ' शब्द का व्यवहार करते हैं। 'पदार्थ' का तात्पर्य है—पद का अर्थ अर्थात् वह वस्तु, जिसे कोई पद प्रकट करता है। अतः ज्ञेयत्व (ज्ञान के विषय होने की योग्यता रखना) तथा

अभिधेयत्व (नाम की योग्यता रखना) पदार्थ का सामान्य लक्षण है। नैयायिकों के पूर्व-वर्णित पदार्थ से वैशेषिक निर्दिष्ट पदार्थ भिन्न है। न्याय मूलतः एक तर्कशास्त्र है, जिसमें किसी विषय के ऊपर प्रतिपक्षी के मन्तव्य का खण्डन कर अपने मत का स्थापन किया जाता है और इस शास्त्रार्थ के लिए उपयोगी वस्तुओं का नाम 'पदार्थ' रखा गया है। वैशेषिकों की दृष्टि में पदार्थ का अभिप्राय बिल्कुल भिन्न है। जगत् की समस्त वस्तुओं के लिए 'पदार्थ' शब्द का व्यवहार किया जाता है।

पदार्थ सात प्रकार के होते हैं, जिनमें प्रथम छः भाव पदार्थ हैं और अन्तिम अभाव पदार्थ। ये सात पदार्थ हैं— १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय, ७. अभाव। इन्हींके भीतर संसार की सब वस्तुएं आ जाती हैं, जो कोई नाम धारण करती हैं और जिनके विषय में हमारा ज्ञान हो सकता है।

द्रव्य-विचार

कार्य के समवायी कारण और गुण-क्रिया के आश्रय भूत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य ही किसी कार्य का उपादान कारण होता है अर्थात् उससे नई वस्तुएं बनाई और गढ़ी जाती हैं। घट का उपादान है मृत्तिका (मिट्टी) तथा पट का उपादान है तन्तु (डोरा)। अतः ये दोनों द्रव्य हैं। इनमें गुण और क्रिया भी रहती हैं। वैशेषिकों के अनुसार द्रव्य नौ प्रकार का होता है—

१. पृथ्वी, २. जल, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. काल ७. दिक्, ८. आत्मा और ९. मन। इनमें प्रथम पांच द्रव्यों को 'महाभूत' कहते हैं। इनमें अनेक गुणों की सत्ता सर्वदा विद्यमान रहती है। पृथ्वी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणों से युक्त द्रव्य है। गन्ध पृथ्वी का विशेष गुण है अर्थात् गन्ध केवल पृथ्वी में ही रहता है, विशेष रूप से जिसका ग्रहण हम अपनी घ्राण इन्द्रिय के द्वारा करते हैं। जल रूप, रस तथा स्पर्श गुणों से युक्त द्रव्य है। रस उसका विशेष गुण है। तेज रूप तथा स्पर्श गुणों से युक्त द्रव्य है। रूप उसका विशेष गुण है। वायु स्पर्शवान् द्रव्य है। स्पर्श उसका विशेष गुण है। पृथ्वी, जल तथा तेज का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। वायु का स्पर्श त्वक् इन्द्रिय

के द्वारा ग्रहण किया जाता है। वृक्ष-लता के पत्तों के हिलने-डुलने से वायु का अनुमान किया जाता है।

इन चारों द्रव्यों के दो प्रकार होते हैं—नित्य और अनित्य। ये चारों द्रव्य परमाणु-रूप में विद्यमान हैं, अर्थात् इनके परमाणु होते हैं और इस दशा में ये नित्य होते हैं। कार्य-रूप में ये अनित्य होते हैं। परमाणु का विभाग नहीं होता और इस प्रकार अविभाज्य होने से यह नित्य होता है। कार्य परमाणुओं के समूह से बनता है, जो कभी उत्पन्न होता है और कभी नाश को प्राप्त करता है और इसीलिए कार्य अनित्य होता है परमाणु के रूप में ये द्रव्य नित्य होते हैं और कार्य-रूप में अनित्य होते हैं। पुनः इनके तीन भेद होते हैं—शरीर, इन्द्रिय तथा विषय। इनको संक्षेप में समझने के लिए इस सारणी पर ध्यान दीजिये।

द्रव्य	शरीर	इन्द्रिय	विषय
पृथ्वी	मानव तथा पशु का शरीर।	पृथ्वी में विशेष गुण 'गन्ध' को ग्रहण करनेवाली घ्राण इन्द्रिय, जो नासिका के अग्र-भाग में रहती है।	मिट्टी, पत्थर आदि
जल	वरुण लोक में जलीय शरीर विद्यमान होता है	जल के विशेष गुण 'रस' की ग्राहक इन्द्रिय रसना, जो जीभ के अग्रभाग पर विद्यमान रहती है।	समुद्र तालाब, नदी, आदि
तेज	आदित्य लोक-सूर्य लोक में तैजस शरीर विद्यमान	तेज के विशेष गुण 'रूप' की ग्राहक इन्द्रिय है चक्षु, जो	१. भौम अर्थात् पृथ्वी पर विद्य-मान विषय है—

	होता है।	आंख की काली पुतली के अग्रभाग में रहती है।	अग्नि। २. दिव्य विषय (आकाश में रहनेवाला)—बिजली आदि, जिसके लिए जल ही ईंधन का काम करता है। ३. उदर में होनेवाला तेज, जिससे भोजन का पाचन होता है। (औदर्य) ४. सोना, चांदी धातुएं, जो खान से निकाली जाती हैं। (आकरज)
वायु	वायुलोक में	वायु के विशेष गुण 'स्पर्श' की ग्राहक इन्द्रिय है त्वक् (या चमड़ा) जो समग्र शरीर में व्याप्त रहता है।	१. वृक्ष, लता आदि के कम्पन का हेतुभूत जो वायु, वह विषय माना जाता है। २. प्राण।

प्राण—प्राण के विषय में दो मत दृष्टिगोचर होते हैं। प्रशस्तपाद ने प्राण को वायु का चतुर्थ प्रकार माना है, परन्तु न्याय वैशेषिक के अन्य ग्रन्थकार इसे वायु के विषय के भीतर ही मानते हैं। इसी बहुमत के आग्रह पर प्राण विषय के अन्तर्गत ऊपर दिखलाया गया है। प्राण है क्या ? शरीर के भीतर संचरण करनेवाला वायु ही प्राण कहलाता है। प्राण तो वस्तुतः एक ही है, परन्तु क्रिया तथा स्थान की भिन्नता के कारण वह पांच प्रकार

का माना जाता है। इस प्राचीन पद्य में इनका उल्लेख है—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥

'प्राण' की स्थिति है हृदय (छाती) में, 'अपान' की गुदा में, 'समान' की नाभि में, 'उदान' की कण्ठ देश में तथा 'व्यान' की सकल शरीर में। यह तो हुई स्थान की भिन्नता। क्रिया की भिन्नता भी इनमें रहती है। १. मुख और नासिका के बाहर जाने और भीतर प्रवेश करने के कारण 'प्राण' कहलाता है। २. मल आदि को नीचे ले जाने के कारण वही 'अपान' कहलाता है। ३. भोजन के पाचन के लिए पाचक अग्नि का ऊपर ले जाना जरूरी काम होता है और इसे करनेवाला प्राण समुन्नयन के कारण 'समान' कहलाता है। ४. उद्गार, डंकार आदि को ऊपर ले जाने के कारण प्राण 'उदान' कहलाता है (**ऊर्ध्व नयनात उदानः**)। ५. नाड़ियों के मुख में फैलने के कारण प्राण 'व्यान' कहलाता है (**नाडीमुखेषु विततनाद् व्यानः**)। पुराणों में इन प्राणों के नाम तथा क्रिया का उल्लेख भिन्न प्रकार से किया गया है—

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने मतः।
कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।
न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनंजयः॥

१. डंकारने में प्राण का नाम है—'नाग'।

२. नेत्रों के खोलने में प्राण का नाम है—'कूर्म'।

३. भूख उत्पन्न करनेवाला प्राण है—'कृकर'।

४. जंभाई लेने के समय प्राण का नाम है—'देवदत्त'।

५. सब शरीर में व्याप्त रहनेवाला वायु, जो मृतक व्यक्ति को नहीं छोड़ता, कहलाता है—'धनंजय'।

कुछ लोग पूर्व-निर्दिष्ट प्राणपंचक का यह पुराणनिर्दिष्ट अभिधान मानते हैं, परन्तु कतिपय आचार्य इन पांचों को पूर्व प्राणों से भिन्न मानकर प्राणों की संख्या दस मानते हैं।

आकाश—शब्द गुणवाले द्रव्य को 'आकाश' कहते हैं। आकाश में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग तथा शब्द—ये छः गुण रहते

हैं, परन्तु शब्द ही उसका विशेष गुण है। शब्द एक ही माना जाता है और उसके आकाश के चिह्न होने के कारण आकाश भी एक ही माना जाता है। इसका परिणाम 'परममहत्' (अर्थात् सबसे बड़ा) माना जाता है। फलतः परिमाण में आकाश से बढ़कर एक भी वस्तु नहीं है। वह उत्पत्ति तथा विनाश से रहित होने के कारण 'नित्य' है। आकाश विभु सर्वत्र व्याप्त है और इसीलिए किसी भी इन्द्रिय से इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। अनुमान से ही आकाश की सिद्धि होती है—कारण यह है कि शब्द-गुण का आधार द्रव्य कोई-न-कोई अवश्य होगा। पृथ्वी आदि ऐसे द्रव्य नहीं हो सकते। इसीलिए परिशेषात् आकाश द्रव्य की सिद्धि मानी जाती है। शब्द का ग्राहक इन्द्रिय श्रोत्र है, जो वस्तुतः कान के भीतर रहनेवाला आकाश ही है।

काल—काल छठा द्रव्य है। इसके मानने से लोक-व्यवहार के एक रूप को भली-भांति समझ सकते हैं और समझा सकते हैं। 'तुलसीदास कालिदास के बहुत पीछे हुए', 'भवभूति की अपेक्षा कालिदास पहले हुए', 'देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों एक साथ ही दीख पड़े', 'वह जल्दी आया और दूसरा बालक देर करके आया'—लोक में ऐसे ज्ञानों का जो असाधारण कारण है, उसीको वैशेषिक लोग 'काल' कहते हैं।[1] द्रव्यों की उत्पत्ति और नाश किसी-न-किसी काल में ही होता है और इसलिए इन उत्पत्ति विनाशों का भी कारण माना जाता है। काल वस्तुतः एक ही है, परन्तु उपाधि के भेद से वही क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, दिन, रात, मास, ऋतु, अयन आदि भेदों से नाना प्रकार का भी माना जाता है। आकाश की तरह काल भी विभु, महत् परिणाम से युक्त तथा अमूर्त माना जाता है और इसीलिए काल की सिद्धि प्रत्यक्ष के द्वारा न होकर अनुमान के द्वारा ही होती है। 'क्षण' काल की सबसे छोटी इकाई है। हम किसी बाग में टहल रहे हैं। टहलते हुए हम फूलों पर अपनी दृष्टि डालते हैं और तब हम फूलों को देखते हैं। यहां फूलों पर दृष्टि डालने तथा उनके देखे जाने के बीच जो सूक्ष्म काल हुआ, वही 'क्षण' कहलाता है। दो क्षणों के मिलने से एक 'लव' होता है और दो लव का एक निमेष (अर्थात् आंख के पलक

[1] **वैशेषिक सूत्र २।२।६**

गिरने में जितना समय लगता है) और इसी प्रकार काल के काष्ठा, कला, मुहूर्त, अहोरात्र आदि बड़े-बड़े खण्ड होते हैं।

दिक्—हम प्रतिदिन व्यवहार में कहते हैं कि 'काशी से पटना पूरब में है और प्रयाग पश्चिम में', 'बम्बई से मद्रास दक्षिण में है और दिल्ली उत्तर में'। इस ज्ञान के असाधारण कारण को 'दिक्' कहते हैं अर्थात् दिक् की कल्पना से ही पूर्वोक्त व्यवहार सिद्ध होता है। यदि यह कल्पना नहीं की जाती, तो पूरब-पश्चिम आदि का व्यवहार असम्भव होता। दिक् तथा काल में मुख्य भेद यह है कि कालिक सम्बन्ध एकसमान स्थिर रहता है, परन्तु दैशिक सम्बन्ध बदलता रहता है। ऊपर दिये गए उदाहरणों में कालिदास की तुलसीदास से पूर्ववर्तिता सदा ही स्थिर रहेगी, बदलेगी नहीं, परन्तु दैशिक सम्बन्ध में यह बात नहीं। जो पटना काशी से पूरब में है, वही कलकत्ता की अपेक्षा पश्चिम में है; फलतः यह दैशिक सम्बन्ध बदल गया। दिक् के भी गुण हैं—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग। यह भी विभु, नित्य तथा परम महान् है। यह एक ही होता है, परन्तु उपाधि के भेद से वह भिन्न होता है।

आत्मा—जिसमें ज्ञान उत्पन्न होता है, जो ज्ञान का समवायी-कारण है, वही 'आत्मा' है वैशेषिकों का आठवां द्रव्य। अमूर्त होने से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। यद्यपि कई नैयायिक इसका प्रत्यक्ष मानते हैं, परन्तु वैशेषिकों की दृष्टि में आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता; वह अनुमान का ही विषय है। किसी हथियार का व्यापार बिना किसी कर्ता के नहीं होता। कुल्हाड़ी को चलाने तथा उससे लकड़ी काटने के लिए किसी चेतन कर्ता की आवश्यकता सर्वदा होती है। इन्द्रियां भी एक प्रकार से हथियार हैं, जिनके द्वारा देखने सुनने आदि का व्यापार किया जाता है। इनका कर्ता कोई अवश्यमेव होना चाहिए और यही कर्ता आत्मा है। सुख-दुःख, श्वास-प्रश्वास, निमेष-उन्मेष आदि आत्मा के लिंग माने जाते हैं, क्योंकि इन्हें देखकर हम आत्मा के अस्तित्व को भली-भांति जान लेते हैं।[1] आत्मा के दो

[1] **सूत्र ३।२।४-विशेष जानकारी के लिए इस सूत्र का 'प्रशस्तपाद भाष्य' तथा बलदेव उपाध्याय-रचित 'भारतीय दर्शन' पृ० २७८-८१ देखिये**

प्रकार हैं—१. 'क्षेत्रज्ञ'—शरीरमात्र में उत्पन्न ज्ञान का जाननेवाला अर्थात् जीव, २. 'सर्वज्ञ'—जगत् के भीतर समस्त विषयों तथा पदार्थों का जाननेवाला अर्थात् ईश्वर। ईश्वर की सिद्धि आगम-वेद तथा अनुमान-प्रमाणों के द्वारा निष्पन्न होती है। श्रुति शतशः ईश्वर की सिद्धि का दृष्टान्त प्रस्तुत करती है। '**एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः**' आदि, आदि। 'न्यायकन्दली' में ईश्वर-सिद्धि इस प्रकार की गई है—जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, उसका ज्ञान किसी चेतन पुरुष को अवश्यमेव रहता है। घड़े का ज्ञान पहले ही कुम्हार को रहता है। तब उसकी उत्पत्ति होती है। पृथ्वी आदि चारों महाभूत कार्य हैं और इनकी उत्पत्ति होती है। परन्तु इनकी उत्पत्ति से पहले इनका ज्ञान किसी आत्मा को अवश्यमेव रहना चाहिए और जिस आत्मा में यह ज्ञान विद्यमान होगा, वही ईश्वर, परमात्मा है।

मन—सुख-दुःख आदि की उपलब्धि के साधन इन्द्रिय को 'मन' कहते हैं। यह बहुधा देखा जाता है कि बाहरी इन्द्रियों के व्यापार करने पर भी हमें वस्तु का ज्ञान नहीं होता। हमारे सामने मेज पर तुलसीदास का 'रामचरितमानस' अनेक जिल्दों में बंधा हुआ पड़ा है। हम अपनी आंखों उसे देखते हैं, परन्तु हमें उसका ज्ञान नहीं होता। क्यों? बात यह है कि हमारा मन उस समय चक्षु इन्द्रिय के साथ संयुक्त न होकर किसी दूसरी इन्द्रिय के सम्पर्क में है। पूर्वोक्त घटना सूचित करती है कि बाहरी इन्द्रियों को छोड़-कर कोई भीतरी इन्द्रिय भी है, जिसका सहयोग प्रत्यक्ष के लिए नितान्त आवश्यक है और यह भीतरी इन्द्रिय, अन्तरिन्द्रिय मन ही है। प्रति शरीर में एक-एक मन होता है—जितने शरीर, उतने मन। वैशेषिकों की दृष्टि में मन अत्यन्त सूक्ष्म (अणु) द्रव्य है। इसका एक कारण है। प्रत्येक ज्ञान में मन का संयोग आवश्यक होता है। यदि मन अणु न होकर विभु होता तो प्रतिक्षण में मनुष्य को अनेक ज्ञान होते; परन्तु ऐसा तो कभी होता नहीं। एक क्षण में एक ही ज्ञान होता है। इससे सिद्ध होता है कि मन अत्यन्त सूक्ष्म अणु है, जिससे वह एक क्षण में एक ही इंद्रिय के साथ सम्पर्क में आ सकता है। मन नित्य है। वह मूर्त है, क्योंकि बिना मूर्ति के क्रिया नहीं हो सकती। मन में क्रिया उत्पन्न होती है और इसीलिए उसे 'मूर्त' मानना पड़ता है।

गुण—लक्षण तथा प्रकार

वैशेषिकों के अनुसार दूसरा पदार्थ गुण है। गुण का लक्षण यह है कि वह द्रव्य में रहता है, उसका अपना कोई गुण नहीं होता और वह संयोग या विभाग का कारण नहीं हो सकता।[1] पूर्ववर्णित द्रव्य से गुण का अन्तर नितांत स्पष्ट है। द्रव्य स्वयं आश्रय हो सकता है अर्थात् वह अपनी स्थिति के लिए किसी आश्रय की अपेक्षा नहीं रखता, परन्तु गुणों में यह बात नहीं। गुण स्वयं आश्रय नहीं हो सकता और द्रव्य के आश्रय के बिना वह रह नहीं सकता। मेरे हाथ में एक काली लेखनी है। लेखनी स्वयं वर्तमान है, परन्तु उसकी कालिमा, काला रंग लेखनी को छोड़कर अलग स्वतन्त्र रूप से रह नहीं सकता। जब वह रहेगा तब किसी-न-किसी द्रव्य का आश्रय ही लेकर रहेगा। द्रव्य से गुण की यही भिन्नता है।

संख्या—वैशेषिक सूत्रों में गुणों की संख्या सत्रह मानी गई है–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श (पांच) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, (दस) परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, (पंद्रह) इच्छा द्वेष तथा प्रयत्न। प्रशस्तपाद में छः गुण और अधिक जोड़े गए हैं—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट और शब्द। इनमें अदृष्ट के दो रूप विवक्षित हैं—धर्म और अधर्म। इस प्रकार सब गुण मिलाकर संख्या में चौबीस हैं और समस्त गुणों का अन्त-र्भाव इन्हीं गुणों के भीतर किया जाता है।

१. रूप (रंग)—वह गुण जो केवल चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जा सके, रूप कहलाता है। रूप के प्रत्यक्ष होने में चार वस्तुओं की आवश्य-कता रहती है— (क) जिस वस्तु का वह रूप होता है, उसका परिमाण 'महत्' होना चाहिए। ऐसा न होने पर रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे सूक्ष्म परमाणु का। (ख) रूप व्यक्त होना चाहिए। अव्यक्त रूप का ग्रहण नहीं होता। (ग) रूप को किसी प्रबल गुणान्तर से अभिभूत (दबा हुआ) न होना चाहिए। यदि वह अभिभूत होगा तो प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। मामूली अग्नि का रंग श्वेत होता है, परन्तु पृथ्वी के अंशों के रूपान्तर से ऐसा दबा रहता है कि उसके उजले रंग का प्रत्यक्ष नहीं होता। (घ) उसमें रूपत्व

[1] **वैशेषिक सत्र १।१।१६**

जाति रहनी चाहिए।

रूप सात प्रकार का होता है— शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्र। प्राचीन ग्रन्थों में ये भेद नहीं दिये गए हैं। अन्नंभट्ट ने 'तर्क-संग्रह' में दिये हैं। 'चित्र' को कई आचार्य स्वतन्त्र रंग नहीं मानते। रूप पृथ्वी, जल और तेज में ही रहता है। पृथ्वी में ऊपर वर्णित सातों रूप पाये जाते हैं। जल में न चमकनेवाला (अभास्वर) श्वेत रूप रहता है और तेज में चमकनेवाला श्वेत रूप (भास्वर शुक्ल)।

२. **रस**--रसनेन्द्रिय से ग्राह्य गुण 'रस' कहलाता है। वह छः प्रकार का होता है—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय (कसैला) तथा तिक्त (तीता)। यह पृथ्वी और जल में रहता है। जल में केवल मधुर रस रहता है, परन्तु पृथ्यी में छहों रसों की स्थिति रहती है।

३. **गन्ध**—घ्राणेन्द्रिय के द्वारा जिस गुण का ग्रहण किया जाता है, वह गन्ध है। यह पृथिवी में ही केवल रहता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध भेद से यह दो प्रकार का होता है।

४. **स्पर्श**—केवल त्वग् इन्द्रिय से ग्राह्य गुण स्पर्श है। यह पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु में रहता है। यह तीन प्रकार का होता है—शीत (ठंडा), उष्ण (गरम), अनुष्णशीत (न ठंडा न गरम)। शीत स्पर्श जल में रहता है; उष्ण स्पर्श तेज में और पृथ्वी तथा वायु में तीसरे प्रकार का स्पर्श रहता है जो न शीत होता है और न गरम।

५. **संख्या**—एक, दो, तीन आदि व्यवहार जिस गुण के कारण होता है उसे 'संख्या' कहते हैं। यह नवों द्रव्यों में रहती है। संख्या 'सामान्य' गुणों में से एक है। इसका अर्थ यह है कि रूप, रस आदि एक द्रव्य में जिस प्रकार रहते हैं, उसी रूप में वे दूसरे द्रव्यों में नहीं पाये जाते, परन्तु 'संख्या' ऐसा गुण नहीं है,। यह एक से लेकर परार्द्ध तक रहता है।

६. **परिमाण**--माप (मान) के व्यवहार का कारण गुण 'परिमाण' है। यह नवों द्रव्यों में पाया जाता है। यह चार प्रकार का होता है--(क) अणु—अत्यन्त छोटा; (ख) महत्—बड़ा; (ग) दीर्घ—लम्बा; (घ) ह्रस्व—नाटा। अत्यन्त छोटा परिमाण अणु तथा मन में रहता है और नित्य है। यह 'पारिमाण्डल्य' भी कहा जाता है।

७. **पृथक्त्व**—इस वस्तु का स्वभाव दूसरी वस्तु के स्वभाव से भिन्न या अलग है; यह बुद्धि जिस गुण के द्वारा होती है, उसे 'पृथक्त्व' कहते हैं। यह सब द्रव्यों में रहता है। 'पृथक्त्व' तथा 'अन्योन्याभाव' का अन्तर स्पष्ट है। अन्योन्याभाव का दृष्टान्त है 'घट-पट नहीं है'। इससे केवल निषेध का बोध होता है कि घट क्या नहीं है, परन्तु 'पृथक्त्व' सत्तात्मक वस्तु का प्रतीक है। वह 'अ' से पृथक् 'ख' वस्तु के स्वभाव तथा लक्षण का भी कुछ ज्ञान कराता है। अन्योन्याभाव से केवल बुद्धिगत भेद भासित होता है, परन्तु पृथक्त्व से वास्तविभ बाहरी भिन्नता का ज्ञान होता है।

८. **संयोग**—अलग-अलग रहनेवाली वस्तुएं जब एक-दूसरे से मिल जाती हैं, तब इस मिलन को 'संयोग' कहते हैं। यह सब द्रव्यों में रहनेवाला गुण है। संयोग कभी भी नित्य नहीं हो सकता और इसलिए दो भिन्न नित्य पदार्थों का सम्बन्ध संयोग नहीं हो सकता।

९. **विभाग**—संयोग के नाशक गुण को 'विभाग' कहते हैं। केवल संयोग के अभाव को विभाग नहीं कहते, प्रत्युत दो मिली हुई वस्तुओं के अलग-अलग हो जाने को विभाग कहते हैं। यह भी नवों द्रव्यों में रहता है।

१०. **परत्व**, ११. **अपरत्व**—जिस गुण के द्वारा 'आगे' का ज्ञान होता है वह होता है—'परत्व' और जिस गुण के द्वारा 'पीछे' का ज्ञान होता है, वह है—अपरत्व। ये पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन में रहते हैं, क्योंकि ये परिमित देश में रहते हैं। नित्य विभु पदार्थों में ऐसी बात नहीं होती और उनमें परत्व तथा अपरत्व गण नहीं रहते। ये दो प्रकार के होते हैं—देशकृत तथा कालकृत। दूर पर स्थित वस्तु में दैशिक परत्व तथा समीप में स्थित वस्तु में दैशिक अपरत्व रहता है। इसी प्रकार जेठे व्यक्ति में कालकृत परत्व तथा कनिष्ठ व्यक्ति में कालिक अपरत्व रहता है।

१२. **बुद्धि**—बुद्धि का अर्थ है ज्ञान, जो सब व्यवहार का कारण होता है। स्मृति और अनुभव के भेद से यह दो प्रकार का होता है। संस्कारमात्र से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं तथा इससे भिन्न ज्ञान को 'अनुभव' कहते हैं। अपने बगीचे में खिले हुए गुलाब के फूल को मैं अपनी आंखों देख रहा हूं। यह कहलायेगा अनुभव। परन्तु दूसरे दिन पूजा के अवसर पर मैं उस गुलाब को, जिसे मैंने पहले दिन देखा था, याद करूंगा, तो यह होगी 'स्मृति'।

बुद्धि का विवेचन विशेष रूप से आगे किया जायगा।

१३. सुख—सब किसीके अनुकूल वेदनीय गुण को सुख कहते हैं अर्थात् जिसकी वेदना हर किसीके अनुकूल न हो। 'न्यायबोधिनी' की व्याख्या है—**इतरेच्छाऽनधीनेच्छ विषयत्वम्** अर्थात् जिसके पाने की इच्छा स्वतन्त्र उसीके लिए होती है, वही 'सुख' है। सुख की इच्छा केवल सुख के ही लिए होती है, अन्य वस्तुओं की इच्छा के समान वह पराधीन नहीं होती।

१४. दु:ख—जिसका ज्ञान हर किसीके प्रतिकूल होता है, वही 'दु:ख' होता है। जिसका द्वेष स्वतन्त्र रूप से उसीके द्वारा होता है, वही 'दु:ख' है।

१५. इच्छा—जो वस्तु अपने पास नहीं है, उससे मिलने की जो प्रार्थना अपने लिए या दूसरे के लिए उठती है, वह 'इच्छा' कहलाती है। काम, अभिलाषा, संकल्प आदि इसके अनेक भेद हैं।

१६. द्वेष—किसी वस्तु को देखकर या उसका स्मरण कर जो चित्त में क्रोध या जलन पैदा होती है, वह 'द्वेष' है।

१७. प्रयत्न—प्रयत्न का अर्थ है उत्साहित होकर किसी कार्य का आरम्भ करना।

१८. गुरुत्व—प्रथम पतन के असमवायी कारण को गुरुत्व कहते हैं, अर्थात् जिस गुण के द्वारा जलीय तथा पार्थिव पदार्थ ऊपर से नीचे गिरते हैं उसे 'गुरुत्व' कहा जाता। यह पृथ्वी तथा जल में रहता है।

१९. द्रवत्व—जिस गुण के द्वारा वस्तुओं का स्पन्दन अर्थात् बहना होता है, उसे 'द्रवत्व' कहते हैं। यह पृथ्वी, जल तथा तेज में रहता है। यह दो प्रकार का होता है—सांसिद्धिक (स्वाभाविक) तथा नैमित्तिक (कारण से उत्पन्न)। सांसिद्धिक द्रवत्व रहता है जल में। घृत पृथ्वी पदार्थ है तथा सुवर्ण-चांदी तैजस पदार्थ। इनको अग्नि के साथ संयोग करने पर ये पिघलते हैं। इसलिए द्रवत्व नैमित्तिक कहलाता है।

२०. स्नेह—चूर्ण होनेवाले द्रव्यों को एक पिंड के रूप में बना देनेवाला गुण 'स्नेह' है। यह जल का विशेष गुण है।

२१. संस्कार—यह तीन प्रकार का होता है—१. वेग, २. भावना

तथा ३. स्थिति-स्थापक। इनमें वेग पांचों मूर्त पदार्थों में (जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन में) निवास करता है। किसी वस्तु के अनुभव होने के बाद अनुभव का कुछ अंश चित्त में रह जाता है, जो उचित अवसर आने पर उस वस्तु का स्मरण कराता है उसे ही 'भावना' कहते हैं। 'वासना' शब्द से या केवल 'संस्कार' शब्द से भी इसीका द्योतन किया जाता है। स्थिति-स्थापक लचीलापन को कहते हैं, जिसके द्वारा मोड़ने पर भी कोई वस्तु फिर से अपने पूर्व-रूप में आ जाती है, जैसे रबड़ का गुण। रबड़ को मोड़कर छोड़ देने पर वह फिर अपने असली रूप को पा लेती है।

२२. धर्मः, २३. अधर्म—अच्छा काम करने से जो संस्कार उत्पन्न होता है वह 'धर्म' है और इसके विपरीत बुरे कर्मों से उत्पन्न संस्कार 'अधर्म' कहलाता है। धर्माधर्म का विचार श्रुति तथा स्मृति में किया गया है।

२४. शब्द—यह आकाश का गुण है। श्रोत्र इन्द्रिय से इसका प्रत्यक्ष होता है। यह एक क्षण के ही लिए अवस्थित रहता है और इसका नाश उसीसे उत्पन्न दूसरे शब्द से होता है। वर्ण तथा ध्वनि के भेद से यह दो प्रकार का होता है।

ऊपर कहा गया है कि गुणों का आधार द्रव्य होता है। गुण द्रव्यों में निवास करते हैं। एक-एक द्रव्य में अनेक गुणों की स्थिति रहती है। विश्वनाथ ने अपनी 'कारिकावली' में इसका बड़ा ही सुन्दर विवरण दिया है—

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।
स्पर्शादयोऽष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम्।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश।
बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा॥
धर्माधर्मौ गुणावेते आत्मनस्तु चतुर्दशः।
संख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे॥
संख्यादयःपञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे॥

द्रव्यों में गुण-बोधक चक्र

पृथ्वी	जल	तेज	वायु	आकाश	काल	दिक्	ईश्वर	जीवात्मा	मन
१. स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श	संख्या	संख्या	संख्या	संख्या	संख्या	संख्या
२. संख्या	संख्या	संख्या	संख्या	परिमाण	परिमाण	परिमाण	परिमाण	परिमाण	परिमाण
३. परिमाण	परिमाण	परिमाण	परिमाण	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व
४. पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	संयोग	संयोग	संयोग	संयोग	संयोग	संयोग
५. संयोग	संयोग	संयोग	संयोग	विभाग	विभाग	विभाग	विभाग	विभाग	विभाग
६. वियोग	वियोग	वियोग	वियोग	शब्द			बुद्धि	बुद्धि	परत्व
७. परत्व	परत्व	परत्व	परत्व				इच्छा	इच्छा	अपरत्व
८. अपरत्व	अपरत्व	अपरत्व	अपरत्व				यत्न	यत्न	वेग
९. वेग	वेग	वेग	वेग					सुख	
१०. गुरुत्व	गुरुत्व	द्रवत्व						दुःख	
११. द्रवत्व	द्रवत्व	रूप						द्वेष	
१२. रूप	रूप							भावना	
१३. रस	रस							धर्म	
१४. गंध	स्नेह							अधर्म	
१४ गुण	१४ गुण	११ गुण	९ गुण	६ गुण	५ गुण	५ गुण	८ गुण	१४ गुण	८ गुण

कर्म

कर्म गुण के समान ही द्रव्य में आश्रित रहता है। कर्म गुण से भिन्न है। गुण द्रव्य का सिद्ध धर्म है अर्थात् वह अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, परन्तु कर्म अभी साध्य अवस्था में है, जिसका अन्तिम रूप अभी निश्चित नहीं हुआ है।

कर्म के पांच भेद हैं—१. उत्क्षेपण—ऊपर फेंकना या ऊपर जाना, २. अवक्षेपण—नीचे जाना, ३. आकुंचन—सिकोड़ना; ४. प्रसारण—फैलाना; ५. गमन—चलना।

कर्म के ये कारण माने गए हैं—१. नोदन—ढकेलना जैसे पंक में पैर डालने से पंक हिलने लगता है। २. गुरुत्व—भारीपन जैसे घड़े के नीचे कोई आधार रखने से वह अपने स्थान पर टिका हुआ है। उस आधार को हटा दीजिये, तो देखियेगा कि वह घड़ा नीचे गिर जाता है। इसका कारण क्या है? घड़े का भारी होना। ३. वेग—धनुष से छूटा हुआ बाण दूर तक चला जाता है। ४. प्रयत्न—प्रयत्न करने पर मैंने अपना हाथ हिलाया-डुलाया या ऊपर उठाया या नीचे किया। श्वास-प्रश्वास में भी प्रयत्न के ही कारण वायु के बाहर जाने तथा भीतर आने की क्रिया होती है।

सामान्य

जिसके द्वारा अनेक वस्तुओं में एकत्व बना रहता है, वह सामान्य है। सौ मनुष्य व्यक्ति रूप से तो भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु उनमें एकत्व की भी भावना है, मनुष्य होने के नाते। यही 'मनुष्यत्व' सामान्य या जाति है। सामान्य नित्य, एक और अनेक में अनुगत। (समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध) रहता है। मनुष्य उत्पन्न हों या मर जायं, आवें या चले जायं, परन्तु मनुष्यत्व जाति सर्वदा रहती है। यही है जाति की नित्यता। जाति तीन प्रकार की होती है—

१. पर सामान्य—सबसे अधिक व्यक्तियों में रहनेवाली जाति जैसे 'सत्ता', जिससे बढ़कर और कोई जाति नहीं होती।

२. अपर सामान्य—सबसे कम व्यक्तियों में रहनेवाली जाति।

३. परापर सामान्य—जो पूर्व दोनों सामान्यों के बीच में रहनेवाला

होता है। जैसे 'मनुष्यत्व' जाति जो 'सत्ता' से कम होने से अपर है, परन्तु 'ब्राह्मणत्व' से अधिक होने से पर भी है।

जाति द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीन ही पदार्थ में होती है।

विशेष

विशेष की कल्पना सामान्य की कल्पना से ठीक विपरीत है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को एक मानने का कारण सामान्य होता है, तो एक श्रेणी के समान गुणवाले व्यक्तियों के पारस्परिक भेद को सिद्ध करनेवाला पदार्थ 'विशेष' है। एक ही समान रूप-रंग आकृतिवाले दो घड़े हमारे सामने पड़े हैं। ये दोनों भिन्न हैं, क्योंकि एक घड़े का आधा भाग दूसरे घड़े के आधे भाग से भिन्न है। इसी प्रकार इनके टुकड़े और इनके भी टुकड़े करते जाइये, जो भिन्न होते जायंगे। अन्ततः हम पहुंच जायंगे घड़ों के परमाणुओं पर। 'विशेष' की यहीं आवश्यकता है। दोनों घड़ों के परमाणुओं पर 'विशेष' पदार्थ रहता है और इसीके कारण एक घड़ा दूसरे घड़े से भिन्न है। इस प्रकार एक द्रव्य के परमाणु में और नित्य द्रव्यों में (जैसे आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा में) जो गुण हैं, वे 'विशेष' कहलाते हैं। कणाद सूत्र में विशेष का लक्षण नहीं पाया जाता। प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में इसका विशेष रूप खड़ा किया है।

समवाय

नित्य सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। जब दो वस्तुएं कभी एक-दूसरे से अलग नहीं पाई जाती, तब इन दोनों के सम्बन्ध को 'अयुतसिद्धि' या 'समवाय' कहते हैं। संयोगवाले पदार्थ कभी-कभी अलग-अलग भी पाये जाते हैं। मैं अपने हाथ में लेखनी लेकर लिख रहा हूं। यहां हाथ और लेखनी का संयोग-सम्बन्ध है। लेखनी हटा दीजिये तो संयोग टूट जाता है। परन्तु तन्तु और पट का सम्बन्ध ऐसा नहीं है। डोरों को हटा दीजिये तो पट ही गायब हो जायगा। कपड़ा तभी तक है जबतक उसके भीतर तन्तुओं का सम्बन्ध है और यही नित्य सम्बन्ध 'समवाय' है। यह सम्बन्ध रहता है—

१. अवयव-अवयवी में—जैसे वस्त्र और तन्तु का सम्बन्ध।

२. गुण-गुणी में—जैसे जल तथा शैत्य का सम्बन्ध।

३. क्रिया-क्रियावान् में—जैसे गति तथा वायु का सम्बन्ध।

४. जाति-व्यक्ति में—गोत्व तथा गोव्यक्ति का सम्बन्ध।

५. विशेष तथा नित्य द्रव्य में—परमाणु, आकाश आदि में विशेष रहता है इसी सम्बन्ध से।

समवाय की कल्पना न्याय-वैशेषिकों की एक नितान्त मौलिक और आधारभूत कल्पना है, जिसे मानना नितान्त आवश्यक है। अन्य दर्शनों ने इसका जोरदार खण्डन किया है।

अभाव

अबतक 'भाव' पदार्थों का विवरण ऊपर दिया गया है। भाव से ठीक विपरीत एक पदार्थ और भी है, जिसका सूत्रों में संकेतमात्र है, परन्तु परवर्ती आचार्यों ने उसका विशेष विवरण प्रस्तुत किया है। वह पदार्थ है—'अभाव।' यह प्रथमतः दो प्रकार का है—१. 'संसर्गाभाव' तथा २. 'अन्योन्याभाव'। इनमें से प्रथम दो वस्तुओं में होनेवाले संसर्ग या सम्बन्ध का निषेध प्रकट करता है। परन्तु 'अन्योन्याभाव' का अर्थ है, परस्पर अभाव अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु नहीं है जैसे 'घड़ा कपड़ा नहीं है', इसका तात्पर्य है कि दोनों में आपसी भेद है—'घड़ा न कपड़ा' है और 'न कपड़ा घड़ा है'।

संसर्गाभाव के तीन प्रकार होते हैं—

१. **'प्रागभाव'**—उत्पत्ति से पहले कारण (तन्तु) में कार्य (वस्त्र) का जो अभाव है, वही कहलाता है प्रागभाव (प्राग्=पहले, अभाव)। इसका आदि नहीं होता, परन्तु कार्य के उत्पन्न होने से नष्ट हो जाने के कारण यह सान्त (अन्त के साथ) होता है।

२. **प्रध्वंसाभाव**—'प्रध्वंस' का अर्थ है विनाश। अतः घट के विनाश होने पर 'प्रध्वंसाभाव' होगा। यह आदि सहित होकर भी अनन्त है।

३. **अत्यन्ताभाव**—जब दो वस्तुओं का संसर्ग भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों में विद्यमान नहीं रहता, तब यह होता है अत्यन्ताभाव। अभाव में सम्बन्ध का विचार किया जाता है। सुगन्धित कमल में गन्ध समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है, संयोग से नहीं। अतः यदि हम कहें कि कमल में गन्ध का संयोग सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव है तो यह कथन

बिल्कुल ठीक होगा। वैशेषिकों की दृष्टि में अभाव परम पुरुषार्थ रूप है, क्योंकि इनके मत में दुःखों का अत्यन्ताभाव ही तो मोक्ष है।

ज्ञानमीमांसा

अबतक हमने महत्त्व की दृष्टि से उपादेय होने के कारण वैशेषिकों की 'तत्त्वमीमांसा' का ऊपर विशेष विवरण प्रस्तुत किया। इनकी ज्ञान-मीमांसा नैयायिकों की तद्विषयक मीमांसा के ही अनुरूप है। अन्तर इतना है कि न्याय के चार प्रमाणों के स्थान पर वैशेषिक केवल प्रत्यक्ष और अनु-मान ये दो ही प्रमाण मनाते हैं। ये शब्द को अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं तथा उपमान को शब्द के अन्तर्गत। इस प्रकार अनुमान के भीतर उपमान तथा शब्द प्रमाणों का अन्तर्भाव मानकर ये लोग दो ही प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक लोग 'परमाणुवाद' के समर्थक हैं अर्थात् उनकी दृष्टि में परमा-णुओं से पदार्थों की सृष्टि होती है। एक-एक परमाणु के मिलने से 'द्वयणुक' की उत्पत्ति होती है और तीन द्वयणुकों के योग से **त्र्यणुक** (त्रसरेणु या त्रुटि) की उत्पत्ति होती है और इसी प्रकार सूक्ष्म से स्थूल पदार्थों का सर्जन होता है। ये लोग शब्द को अनित्य मानते हैं। ये दोनों सिद्धान्त—परमाणुवाद तथा शब्दनित्यत्ववाद—मीमांसकों और वेदान्तियों की दृष्टि में वेद-विरुद्ध होने से नास्तिकवाद के द्योतक हैं। इसीलिए कुमारिल भट्ट इन्हें बौद्धों के समान नास्तिक (वेद-निन्दक) तथा शंकराचार्य 'ऊर्ध्व वैनाशिक' (आधा-बौद्ध) कहते हैं। परन्तु प्रशस्तपाद ने महेश्वर को अपने ग्रन्थारम्भ में नमस्कार ही नहीं किया है, प्रत्युत उनकी इच्छा से सृष्टि होने के सिद्धान्त को भी माना है। फलतः ये नैयायिकों के समान ही आस्तिक प्रतीत होते हैं। नास्तिक कहना उचित नहीं प्रतीत होता।

आचार-मीमांसा

कणाद के मतानुसार वैशेषिक दर्शन का अपना एक आचारशास्त्र भी है। अपने सूत्रों के आरम्भ में ही उन्होंने धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है। धर्म का विचार इसलिए आवश्यक है कि बिना धर्म-विचार के किये तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता। धर्म का लक्षण यही है—**यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः सधर्मः**, जिससे अभ्युदय तथा मोक्ष की सिद्धि हो, वही धर्म

उदयनाचार्य की व्याख्या के अनुसार 'अभ्युदय' का अर्थ है तत्त्वज्ञान तथा निःश्रेयस है मोक्ष।

इस प्रकार धर्म वही है, जिसके द्वारा तत्त्व-ज्ञान और मोक्ष की उपलब्धि हो अथवा तत्त्व ज्ञानपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो। इस प्रकार धर्म से उत्पन्न होता है तत्त्व-ज्ञान और उस तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष का उदय होता है। काम्य कर्मों से निवृत्ति और नित्य कर्मों का अनुष्ठान आदि वेदविहित अनुष्ठान धर्म के अन्तर्गत आते हैं। और तत्त्व ज्ञान क्या है? पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य के ज्ञान से तत्व-ज्ञान की उत्पत्ति होती है। पदार्थों में (जिनका वर्णन ऊपर किया गया है) कुछ धर्म ऐसे हैं जो अनेक में समान रूप से पाये जाते हैं (साधर्म्य) और कुछ ऐसे हैं जो उनमें बिल्कुल नहीं रहते (वैधर्म्य)। इन्हीं की जानकारी से तत्त्वज्ञान का उदय होता है और यह तत्व-ज्ञान उत्पन्न करता है मोक्ष को। वैशेषिकों की मुक्ति नैयायिकों की मुक्ति के समान ही है—दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति। मुक्त दशा में समस्त दुःखों का सदा के लिए अन्त हो जाता है। वे फिर से उदय नहीं लेते। ये लोग भी उस काल में सुख या आनन्द की सत्ता नहीं मानते। इन्हीं साम्यों के कारण वैशेषिक न्याय-दर्शन का 'समानतन्त्र' माना जाता है।

समीक्षण

न्यायवैशेषिक के सिद्धान्तों का अन्य दर्शनों ने अपने दृष्टिकोण से बहुशः समीक्षण किया है। न्याय की प्रमाण-मीमांसा—प्रमाणों का विश्लेषण, विशेषतः अनुमान का निरूपण—अन्य दार्शनिकों की प्रशंसा का विषय है, परन्तु उसके कई सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं। असमवायी-कारण की कल्पना ऐसा ही एक विवादास्पद विषय है। वैशेषिकों के अनेक सिद्धान्त इसी प्रकार विवाद तथा संघर्ष के भाजन हैं, जैसे 'सामान्य' या 'जाति' की कल्पना, 'विशेष' नामक नवीन पदार्थ का मान्यता, परमाणुओं से जगत् की सृष्टि आदि-आदि। परन्तु इन दोनों दर्शनों का 'मुक्तिवाद' तो वेदान्तियों तथा वैष्णवों की तीव्र आलोचना तथा उपहास का विषय है। अद्वैत वेदान्त और वैष्णव दर्शन की दृष्टि में मुक्तावस्था में चरम आनन्द की सत्ता विद्य-मान रहती है। इसलिए वे लोग निषेधात्मक मुक्ति की कल्पना मात्र से,

जिसमें आनन्द का सर्वथा अभाव रहता है, एकदम घबड़ा उठते हैं। अद्वैती श्रीहर्ष की यह हास्यमयी सूक्ति दर्शन जगत् में नितान्त प्रख्यात है। उनका कथन है कि जिस सूत्रकार ने सचेता पुरुषों के लिए ज्ञान, सुख आदि से रहित होकर पत्थर के समान स्थिति को जीवन का चरम लक्ष्य बताया है उसका 'गोतम' नाम शब्दतः ही यथार्थ नहीं है, अपितु अर्थतः भी है। वह साधारण गौ (बैल) न होकर पक्का बैल (गोतम--'अतिशयेन गौः' इति गोतमः) है और ऐसे व्यक्ति से आशा ही क्या की जा सकती है--

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः ।

—नैषधचरित, १७ सर्ग

मुक्तावस्था में नित्य वृन्दावन में सरस विहार करने की व्यवस्था बतलानेवाले वैष्णव आचार्य इस नीरस मुक्ति की कल्पना से घबड़ा उठते हैं और उनका भावुक हृदय पुकार उठता है कि वृन्दावन के जंगलों में शृगाल बनकर जीवन बिताना हमें मंजूर है, परन्तु हमें वैशेषिकों की मुक्ति पाने की कथमपि इच्छा नहीं है--

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम् ।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात् ॥[1]

[1] सर्व-सिद्धान्त-संग्रह, पृ. २८; मद्रास संस्करण

: ३ :

सांख्य

सांख्य दर्शन भारतीय दर्शन की परम्परा में अत्यन्त प्राचीन और प्रभावशाली माना जाता है। इसके प्रवर्तक 'कपिल' माने जाते हैं, जो अपने पाण्डित्य के कारण 'आदि विद्वान्' की महनीय पदवी से विभूषित किये जाते हैं। 'सांख्य' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'संख्या' से सम्बन्ध रखनेवाला दर्शन। परन्तु 'संख्या' का क्या अर्थ? इस प्रश्न के उत्तर में मतभेद है। 'संख्या' का लोक-प्रसिद्ध अर्थ है—गणना, गिनती। इस दर्शन में तत्त्वों की गणना सबसे पहले की गई कि तत्त्व केवल पच्चीस या छब्बीस हैं, इससे अधिक नहीं। इसीसे इसका नाम 'सांख्य' पड़ा, ऐसी कुछ लोगों का मान्यता है; परन्तु यहां 'संख्या' से तात्पर्य विवेक-ज्ञान से है, जो इस शब्द का प्राचीन आध्यात्मिक अर्थ है। इस दर्शन के अनुसार प्रकृति (भूत) तथा पुरुष (जीव) भिन्न तथा स्वतन्त्र हैं, परन्तु इस संसार में इनका अविवेक या अज्ञान सर्वदा बना रहता है। प्रकृति तथा पुरुष ऐसे घुले-मिले रहते हैं कि हम दोनों को पृथक् नहीं कर सकते। यह है संसार-दशा। पार्थक्य होने पर ही मोक्षदशा का उदय होता है। जब प्रकृति और पुरुष का अलग-अलग ज्ञान हमें प्राप्त हो जाता है तब जीव को संसार के क्लेशों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार इस दर्शन में 'संख्या' की, विवेक-ज्ञान की, बड़ी ही महिमा तथा महत्त्व है। फलतः 'संख्या' को प्रधानता देने के कारण यह दर्शन 'सांख्य' कहलाता है। यही इसका विशिष्ट अर्थ है। सामान्य रूप से यह 'ज्ञान' या आध्यात्मिक ज्ञान के लिए भी प्रयुक्त होता है और भगवद्गीता में (**सांख्ययोगौ पृथग् बालः प्रवदन्ति न पण्डिताः**) अनेक स्थलों पर इसका यही व्यापक अर्थ अभीष्ट है। गीता में सांख्य शब्द से सांख्य दर्शन का अर्थ लगाना कथमपि उचित नहीं है।

सांख्य के आचार्य

सांख्य दर्शन भारतीय दर्शन की एक गौरव पूर्ण और प्राचीन विचार-धारा को प्रकट करता है। इस दर्शन के बीज अनेक उपनिषदों में—जैसे कठ, मैत्री आदि में—बहुशः उपलब्ध होते हैं। प्राचीन सांख्य वेदान्त के समकक्ष ही था, क्योंकि उसमें ईश्वर के लिए स्थान था। परन्तु आगे चलकर विक्रम की आरम्भिक शताब्दियों में यह निरीश्वरवादी बन गया और इस रूप का वर्णन ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' में पूर्णतया उपलब्ध है। इस दर्शन का संक्षिप्त इतिहास नीचे दिया जाता है।

कपिल—कपिल इस दर्शन के आद्य आचार्य तथा प्रवर्तक हैं। अपनी विद्वत्ता और तत्त्ववेदिता के कारण वे 'आदि विद्वान्' की पदवी से मण्डित किये जाते हैं। इनकी दो रचनाओं का पता चलता है—(क) 'तत्त्वसमास', जिसमें केवल बाईस छोटे-छोटे सूत्र हैं; तथा (ख) 'सांख्य-सूत्र', जिसमें छः अध्याय और पांच सौ सैंतीस सूत्र हैं। 'सांख्य-सूत्रों' के ऊपर अनुरुद्ध की 'वृत्ति प्रामाणिक और लोकप्रिय मानी जाती है। सांख्य-सूत्र को अर्वाचीन मानना उचित नहीं, क्योंकि माधवमन्त्री ने 'सूतसंहिता' की टीका में एक सूत्र इस ग्रन्थ से उद्धृत किया है, जिससे इसका समय चौदह शतक से प्राचीन मानना ही उचित है।

आसुरि—कपिल के साक्षात् शिष्य आसुरि थे, ऐसा पुराणों में और सांख्य सम्प्रदाय में वर्णित है। आसुरि के द्वारा रचित किसी ग्रन्थ का पता नहीं चलता, सिद्धान्तों का उल्लेख यत्र-तत्र अवश्य मिलता है।

पंचशिख—आसुरि के प्रधान शिष्य थे पंचशिख, जिन्होंने 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ का निर्माण कर सांख्य-शास्त्र को सुप्रतिष्ठित तथा व्यवस्थित बनाया। 'षष्टितन्त्र' अनुपलब्ध ग्रन्थ हैं, परन्तु उस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों का उल्लेख 'अहिर्बुध्न्य संहिता' (१२।१८-३०) तथा 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' में किया गया मिलता है। पंचशिखाचार्य के कतिपय सूत्र भी योगभाष्य तथा भामती में निर्दिष्ट किये गए हैं। फलतः पंचशिख एक प्रभावशाली सांख्याचार्य थे, यह हम निःसन्देह कह सकते हैं।

ईश्वरकृष्ण—पंचशिख के अनन्तर ईश्वरकृष्ण सांख्य दर्शन के अत्यन्त लोकप्रिय आचार्य हुए, जिनका ग्रन्थ 'सांख्यकारिका' सांख्य के तत्त्वों का

वर्णन करनेवाला एक गौरवशाली ग्रन्थ है। इन दोनों ग्राचार्यों के बीच की क्रमबद्ध शृंखला का पता नहीं चलता। इन कतिपय ग्राचार्यों के नाम ग्रवश्य पुराणों ग्रौर सांख्य-ग्रन्थों में दिये गए हैं—भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवलवार्षगण्य ग्रादि। 'सांख्यकारिका' का एक प्राचीन नाम 'कनक सत्तरी' भी था ग्रौर इसी नाम से यह जैनग्रन्थ 'ग्रनुयोग द्वार सूत्र' (प्रथम शती) में उल्लिखित किया गया है, सांख्य ग्रन्थों की सूची में। ५४६ ईस्वी में बौद्ध विद्वान् परमार्थ ने 'सांख्यकारिका' का ग्रनुवाद चीनी भाषा में किया, जो ग्राज भी उपलब्ध है। वहां इसका नाम 'सुवर्णसप्तति' है। इस ग्रन्थ में साठ ही कारिकाएं सिद्धान्त प्रतिपादन करनेवाली थीं ग्रौर इसीलिए ग्रन्थ के नाम में भी 'सप्तति' पद का निर्देश मिलता है। यह बहुत ही लोकप्रिय ग्रन्थ है, जिसके ग्राधार पर सांख्यमत का परिचय सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।

सांख्यकारिका की टीकाएं

इसके ऊपर ग्रनेक टीकाएं मिलती हैं, जिनमें मुख्य ये हैं—१. 'माठर वृत्ति' जो सबसे प्राचीन व्याख्या मानी जाती है। 'ग्रनुयोगद्वार सूत्र' में 'माठर' के नाम का सांख्यग्रन्थों में उल्लेख है तथा माठर प्रसिद्ध कनिष्क (प्रथम शती) के समसामयिक माने जाते हैं। फलतः यह टीका प्रथम या द्वितीय शती विक्रम की रचना मानी जाती है। २. 'गौडपाद-भाष्य'—गौडपाद के द्वारा रचित यह भाष्य भी प्रामाणिक ग्रौर प्राचीन है। ग्राचार्य शंकर के दादा गुरु गौडपाद थे, परन्तु वह ही इस भाष्य के प्रणेता हैं या नहीं, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता ? ३. 'युक्तिदीपिका' किसी ग्रज्ञातनामा ग्राचार्यकी रचना है।४. वाचस्पति मिश्र (नवम शती) की 'तत्त्वकौमुदी'सांख्यसिद्धान्त के प्रतिपादन में तथा प्रकाशन में वस्तुतः कौमुदी के समान उपादेय तथा रोचक है। ५. जयमंगला—शंकराचार्य या शंकरार्य की यह व्याख्या १४ शती का ग्रन्थ है। ६. चन्द्रिका—नारायणतीर्थ की यह रचना लघुकाय होने पर भी गंभीर ग्रर्थ की प्रतिपादिका है (१७वींशती) ७. सांख्यतरु वसन्त—नरसिंह स्वामी की रचना है, जो ग्रभी तक प्रकाशित नहीं है। यह व्याख्या सांख्य ग्रौर वेदान्त मेंमूलतः भेद नहीं ग्रंगीकार करती।

विन्ध्यवासी—प्राचीन सांख्याचार्यों में विन्ध्यवासी का नाम विशेष

महत्त्वपूर्ण है। इनका व्यक्तिगत नाम 'रुद्रिल' था, जिनके मत का उल्लेख अनेक दर्शन ग्रन्थों में मिलता है। इनके गुरु का नाम 'वार्षगण्य' बतलाया जाता है।

विज्ञान भिक्षु—पिछले युग के आचार्यों में विज्ञानभिक्षु अत्यन्त लोकप्रिय माने जाते हैं। ये काशीवासी संन्यासी थे और पन्द्रहवीं शती के प्रथमार्द्ध में विद्यमान थे। इन्होंने तीन दार्शनिक सम्प्रदायों पर भाष्य ग्रन्थ लिखे हैं—१. 'सांख्यप्रवचन-भाष्य'—'सांख्य-सूत्र' का भाष्य, २. 'योगवार्तिक'—योग-सूत्रों के व्यासभाष्य पर लिखी टीका, ३. 'विज्ञानामृत भाष्य'—ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य। विज्ञानभिक्षु ने इन ग्रन्थों में दिखलाया है कि सांख्य वेदान्त से बहुशः भिन्न सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत वेदान्त और सांख्य में वस्तुतः सामंजस्य है।

भावागणेश—विज्ञानभिक्षु के प्रधान शिष्य भावागणेश थे। इन्होंने 'तत्त्व-संग्रह' के ऊपर व्याख्या ग्रन्थ लिखा है। सांख्य का पठन-पाठन बहुत दिनों से दुर्बल पड़ता जाता था और इसीलिए श्रीमद्भागवत में यह 'कालार्कभक्षित' कहा गया है। विज्ञानभिक्षु को हम यह गौरव अवश्य प्रदान करेंगे कि उन्होंने सांख्य तथा योग के सिद्धान्तों का व्यवस्थित प्रतिपादन कर इन्हें पुनरुज्जीवित किया।

सांख्य-दर्शन के विकास की यही एक संक्षिप्त रूपरेखा है।

सांख्य की दृष्टि

सांख्य-दर्शन के दृष्टिकोण को सबसे पहले समझ लेना उपयोगी होगा। सांख्य द्वैतवादी दर्शन है,क्योंकि वह दो ही तत्त्वों को मौलिक या मूलभूत मानता है—एक तो है पुरुष और दूसरा है प्रकृति। जिसे हम संसार के नाम से पुकारते हैं वह है ही क्या ? वह इसी प्रकृति-पुरुष के द्वन्द्व के संयोग से आविर्भूत हुआ है। ये दोनों स्वतन्त्र तथा मौलिक तत्त्व हैं। दोनों नित्य हैं—एक दूसरे पर अनाश्रित हैं। एक बात ध्यान देने की है। सांख्य की दृष्टि न्याय-वैशेषिक की दृष्टि की अपेक्षा सूक्ष्म तथा अन्तर्वर्तिनी मानी जायगी। न्याय-वैशेषिक के अनुसार इस संसार में अनेक मौलिक तत्त्व हैं। परमाणु, आत्मा, मन, काल, दिक् आदि अनेक मौलिक तत्त्वों का अस्तित्व मानने के कारण न्याय-वैशेषिक बहुत्ववादी दर्शन हैं। एक बात और भी,

इनकी अपेक्षा सांख्य की दृष्टि कुछ भीतर प्रवेश करनेवाली है। इसीलिए तो उसने बहुत्व का अन्तर्भाव द्वित्व के भीतर कर दिया है अथवा हम कह सकते हैं कि सांख्य ने बहुतत्त्वों का विश्लेषण तथा अन्तःपरीक्षण कर उन दो को ही मौलिक मान लिया है और अन्यों का इन्हींके भीतर अन्तर्भाव उसे अभीष्ट है। कार्यकारण के विषय में भी सांख्य की अपनी दृष्टि है—अपना एक विशिष्ट विचार है। न्याय मानता है कि चाक, डोरी, आदि की सहायता से कुम्भकार मिट्टी के भीतर से 'घड़ा' नामक एक अपूर्व द्रव्य को पैदा करता है। न्याय-मत में इसलिए घट की 'उत्पत्ति' होती है। विपरीत इसके सांख्यमत में मिट्टी में पूर्व-स्थित घड़े की अभिव्यक्ति या प्रदुर्भाव कुम्भकार के व्यापार से होता है। व्यापार से पहले भी घड़ा उस मिट्टी के लोंदे में मौजूद था; व्यापार ने केवल उसे प्रकट कर दिया। इसीका नाम है—सत्क्रियावाद।

सत्कार्यवाद

कार्यकारण के विषय में सांख्यों का एक विशिष्ट मत है जो सत्यकार्यवाद के नाम से विख्यात है। मार्मिक प्रश्न यह है, कि नाना प्रकार की सामग्री तथा प्रयत्न होने से पहले कार्य कारण में विद्यमान रहता है या नहीं अर्थात् कुम्भकार दण्ड की सहायता से मिट्टी में घड़ा बनाता है। तब क्या उत्पन्न होने से पहले घड़ा मिट्टी विद्यमान था या नहीं? न्याय में वैशेषिक का उत्तर है—नहीं। घड़ा मिट्टी में विद्यमान नहीं था (असत्-कार्य), बल्कि सामग्री की सहायता से घड़े की उत्पत्ति होती है अथवा घड़ा एकदम नवीन वस्तु होता है। यदि वह पूर्व से ही विद्यमान होता, तो घड़ा की उत्पत्ति का क्या अर्थ होता? घड़े को बनाने के लिए कुम्हार की मेहनत तथा चाक घुमाने की क्या जरूरत? यदि कार्य कारण में पूर्व से वर्तमान है, तो कार्य तथा कारण में भेद भी क्यों कर किया जा सकता है? मिट्टी तथा घड़ा दोनों के लिए एक ही नाम प्रयोग क्यों नहीं किया जाता? मिट्टी का लोंदा घड़े का काम क्यों नहीं करता? घड़े में तो हम जल रख सकते हैं, तो क्या यही कार्य हम मिट्टी के लोंदे से भी कर सकते हैं? नहीं कभी नहीं। इस प्रकार कार्य तथा कारण के स्वरूप तथा सम्बन्ध पर विचार करने पर यही तथ्य आलोचकों के सामने आता है कि मिट्टी से घड़ा भिन्न है—

आकार से भी तथा तात्पर्य से भी। घड़ा एक नई चीज है, नूतन द्रव्य है, जो मिट्टी में कदापि विद्यमान नहीं था, प्रत्युत दण्ड, चक्र आदि कारण-सामग्री की सहायता से वह उत्पन्न किया गया है और एक नई वस्तु है। इस प्रकार घट मिट्टी में कथमपि कारण व्यापार से पूर्व से विद्यमान नहीं है। नैयायिकों का यह मत 'असत् कार्यवाद' के नाम से प्रख्यात है। इस शब्द का अर्थ है—अ=नहीं, सत्=विद्यमान, कार्य का सिद्धान्त अर्थात् वह सिद्धान्त कि कारण में कार्य (कारण व्यापार से पूर्व) कथमपि विद्यमान नहीं रहता। इससे घड़ा नाम की एक नवीन वस्तु की उत्पत्ति होती है, कुम्भकार के व्यापार के द्वारा। यह द्रव्य पहले विद्यमान नहीं था, केवल कुम्भकार के उद्योग तथा प्रयत्न से नाना कारण-सामग्री की सहायता से घट नवीन पैदा होता है। यह है न्याय का सम्मत सिद्धान्त। परन्तु सांख्य का इस विषय का विवेचन भिन्न, अन्तरंग और वैज्ञानिक है।

अपने मत को सिद्ध करने के लिए सांख्यकारिका में अनेक युक्तियां दी गई हैं। उन्हींका यहां संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है—

१. **असद्करणात्**—असद् द्रव्य का करण नहीं किया जाता। शशशृंग—खरहे की सींग—लोक में कहीं भी विद्यमान नहीं होता। यह असत् पदार्थ है और इसीसे यह कथमपि उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इस तर्क का तात्पर्य यह है कि मृत्तिका से घड़े की उत्पत्ति जो दीख पड़ती है, वह इस बात का प्रमाण है कि घट मृत्तिका में सत् है, विद्यमान है। यदि वह विद्यमान नहीं रहता तो कथमपि, लाख प्रयत्न करने पर भी, उत्पन्न नहीं किया जा सकता। परन्तु वह उत्पन्न होता है, फलतः वह मृत्तिका में अवश्यमेव वर्तमान है। सत्कार्यवाद की यह पहली युक्ति है।

२. **उपादान ग्रहणात्**—'उपादान' का अर्थ है द्रव्य की निष्पादक वस्तु; जैसे घड़े के लिए मिट्टी तथा वस्त्र के लिए तन्तु (सूत या डोरा) उपादान है। घड़े बनाते समय कुम्भकार मिट्टी का ही ग्रहण करता है। क्या कारण है कि तेली तेल के वास्ते सरसों या तिलों को ही कोल्हू में डालकर पेरता है, जुलाहा कपड़ा बनाने के लिए तन्तुओं या डोरों का ही लेकर बुनता है। किसी कार्य के वास्ते किसी विशेष उपादान या सामग्री को ग्रहण करना पड़ता है।

३. **सर्वसम्भवाभावात्**—सब चीजों से द्रव्यों की उत्पत्ति (सम्भव) नितांत असंभव है। अगर हम मिट्टी में घड़े की अथवा तन्तु में वस्त्र की पूर्व-स्थिति नहीं मानते, तो सबसे सब चीजें पैदा होने लगेंगी। मिट्टी से कपड़ा भी और कम्बल भी तैयार होने लगेगा, परन्तु ऐसा तो संसार में कभी होता नहीं। सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति दिखलाई नहीं पड़ती। फलतः मानना पड़ता है कि कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है।

४. **शक्तस्य शक्य करणात्**—पदार्थ में किसी खास चीज के पैदा करने की शक्ति रहती है और वह उसी चीज को पैदा करता है, किसी दूसरी चीज को नहीं। तिलों को पेरने से तेल ही पैदा होता है, घी नहीं। सो क्यों? इसका कारण क्या है? इसका अर्थ यह है कि कार्य तथा कारण के बीच एक प्रकार की शक्ति का निवास है। कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान होता है और यही कारण है कि शक्त पदार्थ (अर्थात् शक्ति से युक्त द्रव्य) शक्य (शक्ति से उत्पाद्य) वस्तु को ही उत्पन्न करता है। जुलाहा कपड़ा तैयार करने के लिए तन्तुओं को ही लेता है। ऐसा वह क्यों करता है? क्योंकि वह जानता है कि कारण में किसी विशेष कार्य को ही पैदा करने की शक्ति होती है, दूसरे को नहीं। इसलिए तिलहन से तेल ही निकलता है। लाख कोशिश करने पर भी उससे घी नहीं निकल सकता। मिट्टी से घड़ा ही बनता है, लोहे का पात्र नहीं। शक्ति की सत्ता इस तथ्य का सच्चा प्रमाण है कि कार्य तथा कारण परस्पर सम्बद्ध पदार्थ हैं तथा उत्पन्न होने से पूर्व भी कार्य (घट) कारण (मिट्टी) में अवश्यमेव विद्यमान रहता है।

५. **कारण भावात्**—यहां 'भाव' का अर्थ है—स्वभाव। लोक का नियम हैं कि जिस स्वभाववाला कारण होता है, कार्य भी उसी स्वभाववाला होता है। स्निग्ध स्वभाववाले तिलों से स्निग्ध तेल उत्पन्न होता है। मिट्टी से उत्पन्न घट मिट्टी के स्वभाववाला होता है। इस प्रकार कार्य और कारण में स्वभाव की एकता बनी रहती है, यही सार्वत्रिक नियम है। यदि असत् स्वभाववाला कार्य होता तो वह असत् स्वभाववाले कारण से उत्पन्न होता। परन्तु कार्य तो सत् स्वभाववाला होता है, क्योंकि वह तो विद्यमान ही है। फलतः वह सत् स्वाभाववाले कारण से उत्पन्न होता है। इस प्रकार सत-कार्य वाद ही युक्तियुक्त सिद्धान्त है!

इन पांचों युक्तियों का एकत्र निर्देश इस सुन्दर कारिका में किया गया है—

असद्करणाद् उपादान ग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारण भावच्च सत् कार्यम् ॥

—सांख्यकारिका, ८

सत्कार्यवाद के दो रूप होते हैं—१. 'परिणामवाद' और २. 'विवर्तवाद' परिणाम वहां होता है, जहां कारण से उत्पन्न कार्य वास्तव होता है। जैसे दूध से दही की उत्पत्ति। यहां दही वस्तुतः सच्ची चीज है। वह आकार में, रूप में तथा फल में भिन्न होता है। दही जमा हुआ होता है तथा स्वाद में मीठापन लिये होता है, जो दूध के मिठास से भिन्न होता है। अतः कार्यों के वास्तव, सच्चे रूप को बतलानेवाला सिद्धान्त 'परिणाम' कहलाता है और सांख्यों का यही मत है। विवर्तवाद अद्वैत वेदान्त का मत है। उसका कहना है कि जो कार्य दिखलाई पड़ता है, वह वास्तव न होकर केवल आभास मात्र है; कार्य की केवल प्रतीति होती है, उसकी वस्तु-स्थिति नहीं रहती। अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी को देखकर हम डरकर भागते हैं कि यह सांप है। यहां रज्जु में सर्प उत्पन्न होता है, परन्तु यह कल्पना मात्र है, सच्ची घटना नहीं, क्योंकि दीपक लाने पर रज्जु के रूप को ही हम देखते हैं, सांप को नहीं। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म से ही यह नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न होता है, परन्तु जगत् असत्य है, कोरी कल्पना है, स्वप्न के समान अलीक है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। जगत् की केवल प्रतीति होती है; वह सच्चा नहीं होता। इस सिद्धान्त का नाम है—'विवर्तवाद' (अर्थात् कारण से कार्य का असत्य रूपान्तर)।

गुण

सांख्य के अनुसार दो ही प्रधान तत्त्व हैं—पुरुष और प्रकृति। 'प्रकृति' के रूप को निष्पन्न करनेवाले पदार्थ गुण ही होते हैं। ये संख्या में तीन हैं—१. सत्त्व, २. रजस्, ३. तमस्। इन तीनों का सामान्य नाम है—गुण। सांख्य-दर्शन में 'गुण' की कल्पना तथा मान्यता वैशेषिकों के गुण से सर्वथा भिन्न है। वैशेषिक के अनुसार द्रव्य में रहनेवाले धर्म जैसे रूप, रस, गन्ध, शब्द आदि को हम 'गुण' के नाम से पुकारते हैं। ये द्रव्य में ही रहते

है। इनकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती, परन्तु सांख्य का 'गुण' वस्तुतः द्रव्य रूप है। इस प्रकार अभिधान एक होने पर भी उसकी कल्पना में पर्याप्त भिन्नता है। इन्हें 'गुण' क्यों कहते हैं? विज्ञानभिक्षु के मत में 'गुण' पुरुष को बांधनेवाले होते हैं। इनकी क्रिया रस्सी या डोरी के समान किसी वस्तु को बांधने की होती है। 'गुण' का एक अर्थ है डोरा या रस्सी। इसी क्रिया-साम्य को लक्षित कर गुण शब्द का व्यवहार सांख्य-दर्शन में किया जाता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार इस नामकरण का कारण कुछ दूसरा ही है। 'गुण' का एक अर्थ होता है—अंग और सहायक (जैसे गौण पदार्थ जो मुख्य पदार्थ से भिन्न होता है)। ये प्रकृति के स्वरूप को निष्पन्न करनेवाले अंग हैं और पुरुष को उसके स्वार्थ की सिद्धि में सहायक हैं। फलतः सत्त्वादिकों को गुण शब्द के द्वारा व्यवहृत करना सर्वथा न्याय्य है। इनमें संयोग-वियोग आदि क्रिया रहती है तथा गुरुत्व, लघुत्व आदि धर्मों का भी निवास है। इसलिए ये वस्तुतः 'द्रव्य' ही हैं; यह तथ्य विस्मरण करने योग्य नहीं है।

गुणों की सिद्धि

पूर्वोक्त गुणों को मानने में यथेष्ट प्रमाण भी विद्यमान है। संसार के पदार्थों पर एक क्षण के लिए दृष्टि तो डालिये। पेड़ से एक मीठा फल जमीन पर गिरता है। उसे पाने के लिए दो लड़के दौड़ पड़ते हैं। फल पानेवाला तो आनन्दित होता है, फल न पानेवाला दुःखी तथा उसी ओर से जानेवाले एक राही को होता है न आनन्द न दुःख; बल्कि वह उदासीन रहता है। यहां एक ही वस्तु (फल) ने तीन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में तीन प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न की—आनन्द की, दुःख की और उदासीनता की। एक दूसरा उदाहरण लीजिये। किसी कमरे में वाद्य-यन्त्रों का जमघट जुटा है, जहां से संगीत की तान सुनाई पड़ती है। इस संगीत के सुनने का भी प्रतिफल एक समान न होकर त्रिविध होता है। रसिक व्यक्ति को संगीत की लहरी आनन्द में विभोर बना डालती है। रोगी को उसे सुनकर दुःख तथा कष्ट ही होता है। अरसिक को न तो आनन्द आता है, न दुःख ही, प्रत्युत वह तो उदासीन रहता है। उस संगीत के प्रति जो रसिकों के आनन्द का कारण होती है। यहां भी एक ही वस्तु संगीत ने तीन व्यक्तियों में तीन प्रकार के प्रभाव की अभिव्यक्ति की। जगत् के किसी पदार्थ को ध्यान से

देखिये, वह तीन और केवल तीन ही प्रकार की क्रिया उत्पन्न करता दीख पड़ता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जगत् के प्रत्येक पदार्थ में तीन और केवल तीन गुणों की सत्ता वर्तमान रहती है।

प्रकृति में तीन गुण

सांख्य का मूल सिद्धान्त है कि जो धर्म कार्य में वर्तमान होते हैं, वे कारण में भी विद्यमान रहते हैं, क्योंकि इस दर्शन में कार्य तथा कारण में मौलिक अन्तर नहीं है। व्यक्त दशा में जिसे कार्य कहते हैं, अव्यक्त दशा में वही कारण है। जगत् की मूल अथवा अन्तिम कारण है प्रकृति। अतएव सिद्धान्ततः प्रकृति में भी तीनों गुणों की सत्ता अनिवार्य है। गुणों की सत्ता मानने का यही कारण है। सत्त्व, रज तथा तम—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति में ये तीनों गुण मूलतः विद्यमान रहते हैं और इसीलिए प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक पदार्थ में इनकी सत्ता न्यायसंगत है। 'साम्यावस्था' का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना चाहिए। सृष्टि की दशा में जब वस्तुओं में गुण विद्यमान होते हैं, तब उनका परस्पर अनुपात समान नहीं होता। वैषम्य ही तो जगत् है। फलतः जगत् के पदार्थों में ये तीनों गुण विषम रूप से स्थिर रहते हैं। किसी पदार्थ में सत्त्व आधे से अधिक है तो तम और रज अवशिष्ट भाग को पूरा करते हैं। अन्य पदार्थ में स्थिति भिन्न होती है। सात्त्विक द्रव्य में सत्त्व का प्राधान्य है तो राजसिक में रजस् का और तामसिक में तमस् का। इन तीनों गुणों के परस्पर मिश्रण का अनुपात सर्वदा विषम ही होता है। सृष्टि का यही नियम है। परन्तु जब इन गुणों की अवस्था सम होती है अर्थात् इनका विषय मिश्रण न होकर सम मिश्रण रहता है, तब सृष्टि नहीं होती। उस समय एकमात्र प्रकृति का ही साम्राज्य रहता है, विकृति का नहीं। इसीलिए प्रकृति को सांख्यवादी तीनों गुणों की साम्यावस्था मानता है।

सत्त्वगुण—सत्त्वगुण लघु (हल्का), प्रकाशक और इष्ट (आनन्ददायक) होता है। हल्की चीज ऊपर को उठती है जैसे अग्नि की ज्वाला और भाप की गति ऊपर की ओर होती है। यह सत्त्वगुण रहने के कारण है। उपासना करने के बाद साधक का चित्त बड़ा ही हल्का होता है; यह सत्त्वगुण के उद्रेक के कारण ही होता है। भिन्न-भिन्न इन्द्रियां अपने विषयों

को प्रकाशित करती है सत्त्वगुण के ही कारण। आनन्द देना भी सत्त्व के ही कारण होता है। मन में हर्ष, सन्तोष, सुख आदि मधुर भावों की अभिव्यक्ति इसीलिए होती है कि उसमें सत्त्व का निवास रहता है।

रजोगुण—रजोगुण स्वयं चंचल होता है और दूसरों को भी चंचल बनाता है। वह क्रिया का प्रवर्तक होता है। पवन की चंचलता और गतिमत्ता रज के ही कारण होती है। रज से सम्बद्ध होने से ही इन्द्रियां अपने विषय की ओर दौड़ती हैं और मन में चंचलता का उदय होता है **'चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्'** गीता का यह विवेचन रजोगुण की व्याख्या है। रज में होती है क्रिया और इसीसे यह निष्क्रिय सत्त्व तथा तम में क्रिया का संचार करता है। यह दुःखात्मक है। फलतः रजःप्रधान वस्तुओं से दुःख की सन्तत उत्पत्ति होती है।

तमोगुण—तमोगुण गुरु=भारी तथा उपष्टम्भक अर्थात् रोकनेवाला होता है। रजोगुण में क्रिया की प्रधानता है और उसे ही रोकने का काम तमोगुण करता है। यदि यह न हो, तो रजोगुण सदा चलता जायगा और आगे बढ़ता जायगा। इस प्रकार तमोगुण निष्क्रियता और जड़ता का प्रतीक है। यह मोह या अज्ञान पैदा करता है। गति को रोकर यह आलस्य, निद्रा तथा तन्द्रा को उत्पन्न करता है। इनके स्वरूप की भिन्नता के समान इनके प्रतिनिधि रंग में भी अन्तर माना जाता है। सत्त्व है उज्ज्वल, रज है रक्तवर्ण और तम होता है कृष्णवर्ण।

गुणों का सम्बन्ध—इन तीनों गुणों का परस्पर सम्बन्ध भी विचारणीय है। हैं तो ये तीनों आपस में विरोधी (जैसा ऊपर हमने वर्णन किया है), परन्तु मिलकर एक ही फल का सम्पादन करते हैं। दृष्टान्त से इसे समझिये। दीपक के अंग-प्रत्यंग परस्पर विरुद्ध होते हैं। तेल और बत्ती आग के विरोधी अवश्यमेव होते हैं, परन्तु दीपक का प्रकाश इन तीनों के सहयोग से ही उत्पन्न होता है। एक के भी अभाव में दीपक अपना कार्य कथमपि सिद्ध नहीं कर सकता। तेल भी है और बत्ती भी है, परन्तु उसमें अग्नि का संयोग नहीं किया गया है तो क्या कभी दीपक उजाला करेगा? नहीं, कभी नहीं। दीपक का आलोक तो इन तीनों विरोधी तत्त्वों के सम्मिलन का परिणत फल है। गुणों की भी यही दशा है। ये तीनों गुण, परस्पर

विरोधी होते हुए भी, आपस में मिलकर पुरुष के अर्थ की सिद्धि करते हैं। इसके अतिरिक्त ये तीनों मिलकर एक साथ रहते हैं और किसी दशा में ये वियुक्त नहीं होते। एक की अधिकता होने पर भी अन्य गुणों का अभाव नहीं हो जाता। परन्तु ये तीनों एक-दूसरे का अभिभव (दबाना) किया करते हैं, सात्त्विक पदार्थों में सत्त्व गुण रज तथा तम को दबाकर अपनी सत्ता रखता है; राजस पदार्थों में सत्त्व और तम को दबाकर रज की स्थिति होती है तथा तामसिक द्रव्यों में तमोगुण सत्त्व तथा रजस् को दबाकर अपना प्रभुत्व जमाये रहता है। इस व्यापार का नाम है—'अभिभववृत्ति'। इतना ही नहीं, ये आश्रयवृत्ति भी होते हैं अर्थात् एक गुण अन्य दोनों गुणों के धर्मों का आश्रय लेकर ही अपने कार्य में प्रवृत्त होता है। उदाहरण के लिए रजोगुण के ऊपर दृष्टिपात कीजिये। वह स्वतः अपने-आप ही अपनी विशिष्ट क्रिया-प्रवृत्ति से लाभ नहीं पहुंचाता, बल्कि प्रकाश (सत्त्व का कार्य) तथा नियमन (तम का कार्य) का आश्रय करके ऐसा कार्य करता है। इसीलिए गुण 'आश्रयवृत्ति' भी होते हैं।

एक अन्य वैशिष्ट्य पर ध्यान दीजिये। यह है परिवर्तन, परिणाम या विकार की विशिष्टता। ये तीनों सन्तत परिणामी होते हैं—इनमें प्रत्येक क्षण में विकार या परिवर्तन उत्पन्न होता ही रहता है। ऐसा कोई क्षण नहीं, जिसमें परिवर्तन उत्पन्न न हो। चाहे वह क्षण सृष्टि का हो या प्रलय का हो। अन्तर एक बात में अवश्य होता है। प्रलय-काल में सत्त्व सत्त्व में परिणत होता है, रज रज में तथा तम तम में। तात्पर्य यह है कि जैसा गुण होता है, वैसा ही वह परिणाम भी उत्पन्न करता है। इसीकी दार्शनिक संज्ञा—'स्वरूप परिणाम' (=समानरूप से परिणत होना)। सृष्टि का गुण-परिणाम इससे भिन्न होता है, सृष्टि में वैषम्य का प्राबल्य होता है। फलतः सृष्टि की दशा में एक गुण दूसरे गुणों को अपने वश में करके प्रधानता धारण करता है। इसीका नाम है—'विरूप परिणाम'। परन्तु गुणों का गुणान्तर होता है अवश्य। वह रुक नहीं सकता। इस प्रकार सांख्य-दर्शन में 'गुण' का सिद्धान्त बड़ा ही मौलिक और महत्त्वपूर्ण है।

प्रकृति की सिद्धि

सांख्य मत में पुरुष के साथ-ही-साथ 'प्रकृति' भी एक मौलिक तत्त्व

मानी जाती है। परन्तु प्रश्न है कि हम प्रकृति को माने ही क्यों? किन युक्तियों के द्वारा सांख्य प्रकृति की सिद्धि मानता है? कौन तर्क उपस्थित किये जाते हैं? इन प्रश्नों का संक्षेप में वर्णन नीचे किया जाता है।

१. यह संसार का नियम है कि कार्य में जो गुण वर्तमान रहते हैं, वे कारण में भी विद्यमान होते हैं। जैसे घट के गुण मृत्तिका में भी हैं। सफेद डोरों से बनाया गया कपड़ा सफेद होता है और काले डोरों से बनाया गया कपड़ा काला होता है। अन्तर इतना ही है कि कार्य होता है व्यक्त और कारण होता है अव्यक्त। संसार के पदार्थों में तीन गुण—सत्त्व, रज तथा तम—विद्यमान रहते हैं; यह तो अनुभूत सत्य है। फलतः इन पदार्थों की उत्पादक कोई-न-कोई त्रिगुणात्मक वस्तु अव्यक्त रूप से वर्तमान अवश्य होगी। इस प्रकार अव्यक्त या प्रकृति की सिद्धि मान्य है।

२. संसार के विभिन्न कार्य परिमित होते हैं। इसका तात्पर्य है कि उनमें विद्यमान रहनेवाला एक संसर्गी पदार्थ अवश्य दृष्ट होता है। जैसे मूल (जड़),अंकुर, पत्ता, फूल, तुष, तण्डुलकण आदि परिमित कार्य पदार्थों में व्रीहि (धान) एक संसर्गी पदार्थ है। उसी प्रकार ब्रह्म से लेकर स्तंब-पर्यन्त चौदह परिमित बाह्य पदार्थ हैं और महत्तत्त्व से लेकर भूतों तक तेईस आन्तर (आध्यात्मिक) पदार्थ हैं। इनमें एक संसर्गी अवश्य होना चाहिए और इनका संसर्ग जहां रहता है, वही अव्यक्त कारण है। (**भेदानां परिमाणात्**)।

३. संसार के कार्यों में एक जाति अनुस्यूत रहती है। एक जाति से अनुस्यूत भिन्न पदार्थों का एक ही उसी प्रकार का कारण दीख पड़ता है। उदाहरण लीजिये, कटक, केयूर, अंगूठी आदि कार्यों में सुवर्ण अनुस्यूत रहता है, क्योंकि ये सब सोने के ही बनाये गए भूषण हैं। इसी प्रकार बाह्य तथा आध्यात्मिक पदार्थ सुख, दुःख और मोह से अनुगत होते हैं। फलतः उनका कारण भी उन धर्मों से अनुस्यूत होना चाहिए और वही है अव्यक्त या प्रकृति। (**समन्वयात्**)।

४. संसार का नियम है कि प्रवृत्ति शक्तिपूर्वक होती है। जैसे कुम्भकार तभी घड़े की रचना में प्रवृत्त होता है जब उसमें उसके बनाने की शक्ति

वर्तमान होती है। बाह्य तथा आध्यात्मिक पदार्थों में प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। फलतः उस प्रवृत्ति से पूर्व ही उत्पन्न होनेवाली शक्ति अवश्यमेव वर्तमान होगी। जो यह शक्ति है, वही अव्यक्त है, वही प्रकृति है (**शक्तितः प्रवृत्तेः**)।

५. कारण तथा कार्य का विभाग दिखलाई पड़ता है। घड़ा है कार्य और मिट्टी है कारण। इनमें भिन्न अर्थक्रियाकारिता के कारण विभाग स्पष्टतः वर्तमान होता है। घड़े से हम जल लाते हैं, यह क्रिया मृत्तिका से कभी सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार मृत्पिण्ड की क्रिया घट के द्वारा सम्पन्न नहीं की जा सकती। संसार में महत्तत्त्व आदि में भी अर्थ क्रिया के कारण विभाग है। इनका कारण इनसे पृथक् या भिन्न अवश्य होगा और वही प्रकृति है (**कारण कार्य विभागात्**)।

६. प्रलयकाल में यह विश्वरूप नाना रूपवाला संसारी पदार्थ, जिसमें लीन हो जाते हैं, वही प्रकृति है। तात्पर्य यह है कि प्रलय-दशा में कार्य-द्रव्य कारण में लीन हो जाता है, जैसे घट लीन हो जाता है मृत्तिका में। इस प्रकार पीछे जाते हुए संसार के पदार्थ लीन हो जाते हैं महत्तत्त्व में और यह महत्तत्व भी, जिसमें लीन हो जाय, वही, अन्तिम पदार्थ प्रकृति है।

इन युक्तियों को सांख्य-कारिका में ईश्वरकृष्ण ने बड़े ही संक्षेप में एक ही कारिका में निबद्ध किया—

> **भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च कारण-कार्य-विभागात् अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य कारणमस्त्यव्यक्तम्।**
>
> —कारिका १५

प्रकृति को ही हम 'मूल प्रकृति' के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि यह सब पदार्थों का मूल कारण होती है। इसे 'प्रधान' भी कहते हैं। कारण होने से वह 'अव्यक्त' भी कही जाती है। इससे जो कुछ भी उत्पन्न या विकसित होता है, वह 'व्यक्त' (व्यक्ति पानेवाला) कहा जाता है। कई बातों में प्रधान व्यक्त के समान ही होता है—व्यक्त के समान ही प्रकृति होती है त्रिगुणात्मिका, विवेकहीन (अचेतन होने के कारण), विषय (भोग-विषय), सामान्य, अचेतन (सुख, दुःख तथा मोह को न जाननेवाली) तथा प्रसवधर्मी

(उत्पादन धर्मवाली)। व्यक्त से कई बातों में वह एकदम विपरीत भी होती है। प्रकृति होती है अहेतुमती, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिंग, निरवयव तथा स्वतन्त्र—कारिका १०

पुरुष

ऊपर बतलाया गया है द्वैतवादी सांख्यदर्शन में प्रकृति के अनन्तर पुरुष ही मौलिक तत्त्व है। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है। उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह तो स्वयंसिद्ध है। 'मैं लिखता हूं', 'मैं पढ़ता हूं', 'मैं खाता हूं,' 'मैं जाता हूं'—ये हमारे दैनन्दिन जीवन के अनुभव हैं। इसी प्रकार 'यह मेरी पोथी है', 'यह मेरा लड़का है', 'ये मेरे छात्र हैं'—यह भी नित्य की हमारी अनुभूति है। इन अनुभूतियों में 'मैं' और 'मेरा' पुरुष को ही तो संकेत करते हैं। भला, कोई भी व्यक्ति अपने-आपके अस्तित्व का अपलाप कर सकता है ? यदि वह कहता है—'मैं नहीं हूं', तो यहां भी वह 'मैं' को तो स्वीकार कर ही लेता है। फलतः 'मैं' एक स्वयं-सिद्ध सत्य है। वह स्वयं प्रकाश्य है, अर्थात् वह ज्ञान-रूप होने के कारण अपने-आपको प्रकाशित करता है। उसे प्रकाशित करने या बतलाने के लिए किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं होती।

सांख्य का 'पुरुष' वेदान्त के 'आत्मा' से भिन्न है। दोनों के स्वरूप में अन्तर है। वेदान्त आत्मा को सच्चिदानन्द मानता है, अर्थात् वह सत् और चित् (चैतन्य) होने के अतिरिक्त आनन्दमय भी है, परन्तु यह सांख्य को सम्मत नहीं। सांख्य पुरुष को चैतन्यमय ही मानकर ठहर जाता है। वह उसे आनन्दमय नहीं मानता। इसका एक विशिष्ट हेतु है। हमने ऊपर दिखलाया है कि प्रकृति ही त्रिगुणात्मिका होती है; पुरुष तो निर्गुण ही होता है, अर्थात् आनन्द या सुख सत्त्वमय होने से प्रकृति से सम्बद्ध है, पुरुष से तो उसका सम्बन्ध कथमपि नहीं होता। पुरुष तो प्रकृति की परिधि से बाहर ही रहता है; फलतः आनन्द की सत्ता रखने में वह प्रकृति से भिन्न है। आशय है कि वेदान्त आत्मा को आनन्दमय मानता है, परन्तु सांख्य उसे आनन्दमय नहीं मानता, केवल शुद्ध चैतन्य मानता है। पुरुष का एक दूसरा स्वभाव है उदासीनता का अर्थात् वह सुख से या दुःख से कथमपि स्पृष्ट

नहीं होता, क्योंकि वह निष्क्रिय रहता है। उसमें किसी प्रकार की क्रिया उत्पन्न नहीं होती। क्रिया का उदय तो प्रकृति में होता है। जगत् को उत्पन्न करने का व्यापार तो वही प्रकृति करती है, पुरुष तो उसकी लीला देखता रहता है और इस प्रकार वह साक्षी है। पुरुष में किसी प्रकार का कभी भी परिणाम या परिवर्तन उत्पन्न नहीं होता। परिणाम तो प्रकृति का धर्म है, पुरुष का नहीं। इसीलिए आचार्यों का कथन है—**सर्वे हि परिणामिनो भावाः ऋते चितिशक्तेः** अर्थात् चितिशक्ति—चैतन्यमय पुरुष को छोड़कर जगत् के सब भाव या सत्ताएं परिणामी होती हैं। जगत् का प्रत्येक कण परिणाम के चक्कर में पड़ा हुआ प्रतिक्षण बदलता रहता है, परन्तु पुरुष ही ऐसी सत्ता है, जो इस चक्कर के बाहर रहता है। इसीलिए पुरुष कूटस्थ अर्थात् अविकारी कहलाता है। सांख्य के अनुसार पुरुष का मान्य रूप तथा स्वभाव संक्षेप में ऊपर प्रदर्शित किया गया है। ईश्वरकृष्ण ने अपनी 'सांख्यकारिका' में इसका संक्षिप्त प्रतिपादन १७-२० कारिकाओं में किया है।

पुरुष की सिद्धि

मूल प्रश्न है—पुरुष की सत्ता के विषय में। पुरुष माना ही क्यों जाय? पुरुष न मानने से क्या हानि है? पुरुष की सिद्धि के विषय में महत्त्वपूर्ण तर्क नीचे दिये जाते हैं।

१. संसार के संघातमय पदार्थ दूसरों के लिए ही होते हैं। वह घर, जिसमें हम रहते हैं और बैठकर यह लिख रहे हैं, नाना द्रव्यों का समूह है। वह ईट, पत्थर, चूना, लकड़ी आदि अनेक वस्तुओं के संयोग से बनाया गया है। और यह कपड़ा, जिसे हम पहने हैं आखिर क्या है? यह भी अनेक तन्तुओं या डोरों का एक समुदाय-मात्र है। संघात अपने लिए नहीं होता, बल्कि दूसरों के लिए होता है। घर होता है रहनेवालों के लिए और कपड़ा होता है पहननेवालों के वास्ते। इसी प्रकार त्रिगुणात्मिक प्रकृति भी परार्थ है और यह पर है कौन? उससे भिन्न 'पुरुष' (**संघात परार्थत्वात्**)।

२. जगत् के पदार्थ तो त्रिगुण, अविवेकी आदि होते हैं। इन पदार्थों से भिन्न पुरुष ही है, जो त्रिगुणादि का विपर्यय धारण करता है। फलतः महत् आदि प्राकृतिक द्रव्य जिस 'पर' के लिए वर्तमान रहते हैं, वह उनसे सर्वथा

भिन्न होता है और वही 'पुरुष' है (त्रिगुणादिविपर्ययात्)।

३. बिना चेतन के द्वारा अधिष्ठित हुए जड़ पदार्थ अपने कार्यों में कथमपि प्रवृत्त नहीं होते। रथ स्वयं एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता, जबतक वह सारथि के द्वारा संचालित नहीं किया जाय। प्रकृति स्वयं अचेतन है। फलतः उसे कार्य में संचारित करनेवाला चेतन पदार्थ कोई-न-कोई अवश्य है और वही पुरुष है (अधिष्ठानात्)।

४. संसार में भोग्य को देखकर उसके भोक्ता का अनुमान किया जाता है। सामने कागज़, क़लम और स्याही पड़ी हुई है। ये सब भोग्य पदार्थ हैं। इनका उपभोग करनेवाला व्यक्ति होता ही है। इसी प्रकार महत्तत्त्व-पर्यन्त सब पदार्थ भोग्य हैं। इनका भोक्ता अवश्य होगा। जो इनका भोक्ता है, वही पुरुष है (**भोक्तृभावात्**)।

५. इस जगत् में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो दुःखों से सन्तप्त होकर उनसे छुटकारा पाने के लिए हमेशा उद्योग करते हैं। भौतिक जगत् के किसी भी पदार्थ के लिए यह उद्योग चरितार्थ नहीं होता, क्योंकि वह तो स्वयं दुःखात्मक है और इसलिए वह दुःखों से निवृत्ति नहीं पा सकता। मुक्ति के लिए उद्योग करना इस बात की गवाही है कि कोई पदार्थ ऐसा अवश्य है, जो क्लेशों से निवृत्ति पा सकता है। ऐसा तत्त्व पुरुष ही है, जो त्रिगुणों के सम्पर्क से हीन होने के कारण दुःखरहित है। फलतः 'पुरुष' की सत्ता सिद्ध है (**कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च**)।

ये ही पुरुष की सिद्धि-विषयक युक्तियां हैं, जिनका एकत्र निरूपण इस कारिका में सुन्दर ढंग से किया गया है—

संघात परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययात् अधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥

—कारिका १७

पुरुष की अनेकता

पुरुष एक है या अनेक? इस प्रश्न का उत्तर सांख्याचार्यों ने बड़े आग्रह के साथ युक्तियों के सहारे दिया है कि पुरुष अनेक है और इस विषय में आत्मा की एकता माननेवाले वेदान्तियों से उनका मत नितान्त भिन्न है।

उनकी प्रधान युक्तियों पर ध्यान दीजिये।

१. जन्म, मरण, तथा इन्द्रियों में विशेष नियम देखा जाता है। एक व्यक्ति जनमता है, उसी क्षण में दूसरा मरता है। यदि एक ही पुरुष होता तो एक के जन्म लेते ही सब पुरुषों का जन्म हो जाता। ठीक उल्टा इसके, एक के मरते ही सब पुरुष मर जाते। परन्तु व्यवहार में स्थिति ऐसी नहीं है। इसी प्रकार एक में इन्द्रिय की विकलता होने पर दूसरों में वह विकलता नहीं दीख पड़ती। एक के अन्धा होने पर जगत् के समस्त प्राणी अन्धे नहीं हो जाते हैं और एक के बहिरा होने पर क्या संसार के सब पुरुष बहिरे बन बैठते हैं? फलतः पुरुष को बहु या अनेक मानने पर ही इस व्यवहार को हम समझ सकते हैं और समझा सकते हैं।

२. प्रवृत्ति का युगपत् न होना। 'युगपत्' का अर्थ है एक साथ, एक समय में। प्रवृत्ति पुरुषों में एक साथ नहीं दिखलाई पड़ती। विद्यालय के सन्ध्याकालीन प्रांगण में कोई छात्र गेंद खेलने के लिए उतरता है, तो कोई अपने कमरे में खर्राटे लेता हुआ सुख की नींद सोता है। ऐसा पुरुष की अनेकता के कारण होता ही है। पुरुष अनेक है, जो अपनी इच्छा के अनुसार भिन्न-भिन्न क्रियाएं करता रहता है। पुरुष की किसी भी कार्य में एक साथ प्रवृत्ति नहीं दिखलाई देती।

३. त्रिगुण के विपर्यय होने के कारण भी यह अनेकता सिद्ध होती है। इसे उदाहरण की सहायता से समझिये। पुरुष में स्वभाव की भिन्नता कितनी आश्चर्यकारिणी है। एक छात्र को हम मननशील पाते हैं, वह अपने ग्रंथों के अध्ययन में ही दत्तचित्त रहता है। दूसरे को दौड़-धूप का काम ही प्रिय लगता है, तो तीसरे को हम आलस्य के वशीभूत होकर निद्रादेवी की गोद में ही पड़ा पाते हैं। यह भिन्नता सिद्ध करती है कि पुरुष एक न होकर अनेक ही है। इन तीनों युक्तियों को सांख्यकारिका में इस प्रकार संक्षेप से निबद्ध किया गया है—

जन्म मरण करणानां प्रति नियमात् अयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुष बहुत्वं सिद्धम् त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥

—कारिका १८

यहां ध्यान देने की बात है कि सांख्य में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग देहधारी

जीव के लिए किया गया है। देहधारी जीव में ही कारिका में वर्णित विशिष्टताएं पाई जाती हैं। जिस पदार्थ को सूचित करने के लिए वेदान्त 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करता है, उसका संकेत 'पुरुष' शब्द के द्वारा नहीं किया जाता। यह भेद जान लेने पर सांख्य के द्वारा प्रतिपादित मन्तव्य की सत्यता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

पुरुष का स्वरूप

सांख्य के अनुसार तीन मुख्य पदार्थ हैं—व्यक्त—प्रकट होनेवाला जगत्, अव्यक्त—प्रकृति; ज्ञ—ज्ञाता पुरुष। इन्हीं तीनों के यथार्थ रूप को जानने से पुरुष को दुःखों से छुटकारा मिलता है—**व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।** 'ज्ञ' अर्थात् पुरुष किन्हीं बातों में 'व्यक्त' के साथ विभिन्नता रखता है और किन्हीं बातों में वह 'अव्यक्त' की विषमता रखता है। इस वैषम्य के द्वारा पुरुष का यथार्थ रूप समझ में आ सकता है।

व्यक्त और अव्यक्त में अनेक गुणों में विभिन्नता वर्तमान रहती है—

१. व्यक्त पदार्थ हेतुमान् होता है अर्थात् अपने कारण से उत्पन्न होता है, जैसे प्रधान से महान् तथा महान् से अहंकार आदि। अव्यक्त अहेतुक होता है, क्योंकि वह कहीं से भी उत्पन्न नहीं होता। कारण यह है कि मूल प्रकृति सबका कारण होती है। वह स्वयं कहीं से उत्पन्न नहीं होती। पुरुष भी अहेतुमान् है, क्योंकि वह कहीं से उत्पन्न नहीं होता।

२. व्यक्त अनित्य होता है, कारणों से उत्पन्न होने के हेतु। अव्यक्त इससे विपरीत होता है, अर्थात् कहीं से उत्पन्न न होने के कारण वह नित्य होता है। पुरुष भी नित्य होता है।

३. व्यक्त किसी प्रदेश में ही रहने के हेतु अव्यापक होता है, परन्तु अव्यक्त सर्वगत होने के कारण व्यापक होता है। पुरुष दोनों रूप में होता है। प्रकृति से मुक्त होने पर वह व्यापक होता है (अव्यक्त के समान) और प्रकृति से युक्त होने पर वह अव्यापक होता है (व्यक्त के समान)।

४. व्यक्त में क्रिया अर्थात् संसरण विद्यमान रहता है, परन्तु अव्यक्त में संसरणात्मक क्रिया नहीं होती; क्योंकि वह तीनों लोकों में स्थित होने के कारण संसरण नहीं करता। पुरुष भी निष्क्रिय होता है, क्योंकि उसमें

कर्तृत्व का अभाव होता है।

५. व्यक्त अनेक होता है, क्योंकि महत्तत्व से आरम्भ कर भूत-पर्यन्त वह तेईस प्रकार का होता है। अव्यक्त एक ही होता है, क्योंकि तीनों लोकों का कारण वह एक रूप में ही होता है। पुरुष भी व्यक्त के समान ही अनेक होता है।

६. व्यक्त आश्रित होता है। जो जहां से उत्पन्न होता है, वह उसपर आश्रित होकर रहता है। अव्यक्त कारणरहित होने के कारण अनाश्रित रहता है। पुरुष भी कारणहीन होने से अनाश्रित होता है।

७. व्यक्त लिंग होता है। 'लिंग' का अर्थ है लय जानेवाला पदार्थ (**लयं गच्छतीति लिंगम्—जयमंगला**)। प्रलय दशा में कार्य-पदार्थ अपने कारण-पदार्थ में लय प्राप्त कर लेता है और इसीलिए वह 'लिंग' शब्द के द्वारा व्यवहृत होता है। अव्यक्त तथा पुरुष दोनों ही कहीं से उत्पन्न न होने के कारण 'अलिंग' हैं।

८. व्यक्त 'सावयव' होता है। 'अवयव' से तात्पर्य है शब्दादिकों से। आध्यात्मिक तथा बाह्य दोनों व्यक्त शब्दादिकों से युक्त होने के कारण सावयव कहलाते हैं। अव्यक्त तथा पुरुष दोनों निरवयव हैं।

९. व्यक्त 'परतन्त्र' होता है। जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, उसके अनुरोध से ही वह अपना कार्य सम्पादन करती है, उसे छोड़कर नहीं। ऐसी दशा में व्यक्त स्वतन्त्र नहीं है। इससे विपरीत अव्यक्त तथा पुरुष दोनों ही स्वतन्त्र होते हैं; कहीं से वे उत्पन्न तो नहीं होते, जिसके अनुरोध से वे अपने कार्य में प्रवृत्त हों। यही उनका स्वातन्त्र्य है।

अबतक व्यक्त और अव्यक्त की भिन्नता तथा पुरुष के स्वरूप का वर्णन किया गया है। कतिपय गुणों में व्यक्त और अव्यक्त की समानता होती है और किन्हीं बातों में पुरुष उनसे विपरीत होता है। व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही होते हैं—१. सत्त्वादिक गुणों से युक्त (त्रिगुण), २. विवेक-हीन, चेतनरहित होने के कारण (अविवेकी), ३. विषय, ४. सामान्य, सब पुरुषों के द्वारा उपभोग्य होने के कारण, ५. अचेतन अर्थात् सुख, दुःख तथा मोह को नहीं जानते, ६. प्रसवधर्मी अर्थात् अपने कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। पुरुष का स्वभाव इनके विपरीत होता है। इस-

लिए पुरुष निर्गुण, विवेक्ता, विषयी (भोक्ता होने के कारण), असामान्य (विषय न होने से), चेतन (सुख, दुःख और मोह का ज्ञाता) और अप्रसव-धर्मी (अकर्ता होने से) होता है। इस साम्य-वैषम्य की सूचक तालिका नीचे दे रहे हैं।

संख्या	व्यक्त	अव्यक्त	पुरुष	वैशिष्ट्य
१.	हेतुमान	अहेतुमान	अहेतुमान	
२.	अनित्य	नित्य	नित्य	
३.	अव्यापी	व्यापी	(i) अव्यापी	(i) प्रकृति से युक्त होने पर
			(ii) व्यापी	(ii) प्रकृति से मुक्त होने पर
४.	सक्रिय	निष्क्रिय	निष्क्रिय	
५.	अनेक	एक	अनेक	व्यक्त के समान है और अव्यक्त से भिन्न है
६.	आश्रित	अनाश्रित	अनाश्रित	
७.	लिंग	अलिंग	अलिंग	
८.	सावयव	निरवयव	निरवयव	
९.	परतंत्र	स्वतंत्र	स्वतंत्र	
१०.	त्रिगुण	अविवेकी	निर्गुण	
११.		विषय	विवेकी	इन पांच विषयों
१२.		सामान्य	निर्विषय	में पुरुष व्यक्त
१३.		अचेतन	असामान्य	और अव्यक्त
१४.		प्रसवधर्मी	चेतन	दोनों से विपरीत
१५.			अप्रसवधर्मी	होता है

सांख्य की तत्त्व-मीमांसा

सांख्य के अनुसार तत्त्व पच्चीस होते हैं, जिनका विभाजन चार प्रकार से किया जाता है। संसार का एक पदार्थ ऐसा है कि १. वह सबका कारण

तो बन जाता है, परन्तु वह किसीसे भी स्वयं उत्पन्न नहीं होता अर्थात् वह किसीका कार्य नहीं होता, २. कुछ पदार्थ कारण तो होते हैं और साथ-ही-साथ कार्य भी होते हैं, अर्थात् वे स्वयं उत्पन्न तथा उत्पादक दोनों एक साथ होते हैं, ३. कुछ पदार्थ केवल कार्य होते हैं, क्योंकि उनमें किसी पदार्थ के उत्पादन की क्षमता नहीं होती, ४. एक ऐसा भी पदार्थ है, जो न कार्य है, न कारण है; न उत्पन्न है और न उत्पादक; न किसीसे पैदा हुआ और न किसी को पैदा करता है। क्रमशः इनके पारिभाषिक नाम नीचे दिये जाते हैं।

स्वरूप	संज्ञा	संख्या
१. कारण ही केवल, कार्य नहीं	प्रकृति	एक
२. कार्य-कारण दोनों समान रूप से	प्रकृति-विकृति	सात
३. केवल कार्य ही	विकृति	सोलह
४. न कार्य, न कारण	न प्रकृति, न विकृति —पुरुष	एक

पच्चीस तत्त्व

(क) **मूल प्रकृति**—प्रकृति एक ही है। वह किसीसे उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत सब द्रव्यों की उत्पादिका है। इसीलिए इसका नाम है—'मूल-प्रकृति'।

(ख) **प्रकृति-विकृति**—इसके अन्तर्गत सात पदार्थ माने जाते हैं—महतत्त्व, अहंकार, तन्मात्र (शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र तथा स्पर्श तन्मात्र।)

(ग) **विकृति**—केवल कार्य ही होती है, वह स्वयं किसी पदार्थ को पैदा करने की योग्यता नहीं रखती—

पंचभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश।

पंचज्ञानेन्द्रिय—चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् तथा श्रोत्र।

पंचकर्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ,

मन

(घ) **पुरुष**—वह पदार्थ जो किसीसे उत्पन्न नहीं होता और न किसीका उत्पादक होता है। न स्वयं उत्पन्न है और न किसीका उत्पादक है। इसका कारण स्पष्ट है। पुरुष नित्य तत्त्व है। वह सदा विद्यमान रहता

है और इसीलिए वह प्रकृति के क्षेत्र से बाहर ही विद्यमान रहता है। ऊपर के तीनों प्रकार तो प्रकृति और उससे उत्पन्न तत्त्वों को समाविष्ट करते हैं, परन्तु पुरुष ही अकेला ऐसा है, जो प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत है। इस प्रकार ऊपर का तत्त्व-विभाजन संक्षेप में प्रकृति तथा पुरुष---इस द्विविध तत्त्व का ही बाहरी विकास है। इसे निम्नांकित रेखा-चित्र से ठीक-ठीक समझा जा सकता है।

तत्त्व-विभाजन

प्रकृति		पुरुष
१. मूल प्रकृति	(एक)	
२. प्रकृति-विकृति	(सात)	
३. विकृति	(सोलह)	—(एक)
	(चौबीस) +	(एक)
	=पच्चीस	

इसका तात्पर्य यह है कि सांख्यदर्शन में मूलतः दो ही तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति के विकास के तीन स्तर या श्रेणियां हैं। एक तो है स्वयं मूल प्रकृति। दूसरा है उससे उत्पन्न तत्त्व, जो उत्पन्न और उत्पादक दोनों हैं। तीसरी श्रेणी है उन तत्त्वों की जो विकृति ही होते हैं, (कार्यरूप ही धारण करते हैं) प्रकृति कभी नहीं बनते। तीन स्तरों में विभक्त ये चौबीस तत्त्व प्रकृतिजन्य होने से प्राकृतिक कहे जायंगे। इस क्षेत्र से बाहरी तत्त्व है पुरुष, जो कार्य न होने से विकृति नहीं है, न कारण होने से प्रकृति। यही पच्चीस तत्त्वों का विश्लेषण सांख्य की विशिष्टता है।

सांख्यीय सृष्टि-क्रम

सांख्य के अनुसार सृष्टि किस प्रकार होती है? इस प्रश्न का उत्तर यहां अब संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है। एक बात ध्यान देने की है कि सांख्य के अनुसार वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत परिणाम होता है। इसे समझने के लिए सांख्य-मत में कार्य-कारण की महनीय कल्पना को

ध्यान में रखना होगा। ऊपर हमने सांख्य-सिद्धान्त में अभीष्ट सत्कार्यवाद की चर्चा की है। सांख्य-मत में कारण में कार्य सर्वदा ही, अव्यक्त रूप से ही सही, विद्यमान रहता है। मृत्तिका में घट की स्थिति सदा से है। कुम्भकार अपने साधनों के द्वारा मिट्टी से घड़े को जब उत्पन्न करता है, तब किसी नई वस्तु का प्राकट्य नहीं होता, प्रत्युत मृत्तिका में अव्यक्त रूप से विद्यमान होनेवाले घट का व्यक्त रूप में केवल आविर्भाव होता है। सृष्टि के लिए भी यह सिद्धान्त जागरूक है।

सृष्टि का विकासक्रम

- पुरुष + प्रकृति
  - महत्तत्त्व
    - अहंकार
      - सात्त्विक
        - मन (एक)
        - ज्ञानेन्द्रिय (पांच)
        - कर्मेन्द्रिय (पांच)
      - राजस
      - तामस
        - तन्मात्र (पांच)
          - महाभूत (पांच) (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश)

सृष्टि का उदय प्रकृति और पुरुष दोनों के संयोग का फल है। न प्रकृति अकेले विश्व की सृष्टि कर सकती है और न पुरुष ही अकेले इस महनीय कार्य को कर सकता है। प्रकृति क्रियाशील होने पर भी जड़ है और पुरुष चेतन होने पर भी निष्क्रिय है। फलतः इस जड़-चेतन के समन्वित संयोग से ही विश्व का आविर्भाव होता है। इस प्रसंग में सांख्य ग्रन्थों में अन्धे और लंगड़े की प्रसिद्ध कहानी का उपयोग दृष्टान्त रूप में बहुशः

किया गया है। अन्धे में चलने की शक्ति है, परन्तु वह मार्ग-दर्शन नहीं करा सकता। लंगड़ा राह दिखला सकता है, परन्तु वह चल नहीं सकता। दोनों के संयोग से ही कार्य की सिद्धि देखी जाती है, इस कहानी में। इसी प्रकार चेतन पुरुष सक्रिय प्रकृति के साथ मिलकर विश्व की सृष्टि में समर्थ और सफल होता है।

महत्—सांख्यमत के अनुसार सृष्टि के विकास का यही क्रम है। पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से आविर्भाव पानेवाला पहला पदार्थ है—महत् या महत्तत्त्व। इसे ही 'बुद्धि' कहते हैं। यह जगत् की उत्पत्ति का बीजरूप होने से बड़ा ही महत्त्व रखता है और इसीलिए यह 'महत्' कहलाता है। बुद्धि का विशेष कार्य है निश्चय (अथवा अध्यवसाय)। प्रकृति का कार्य होने से बुद्धि जड़ है, परन्तु पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब उसके ऊपर पड़ता है और इससे वह चेतन के समान प्रतीत होती है। संसार में हम नित्य प्रति देखते हैं कि प्रत्येक पुरुष अपने अधिकार का विचार कर कहता है—'यह मेरा कर्तव्य है', 'यह मुझे करना है'। यही निश्चय का रूप है और यह बुद्धि के द्वारा सम्पन्न होता है।

अहंकार—महत् के बाद दूसरा परिणाम है—'अहंकार'। 'मैं हूं', 'यह मेरा घर है'—इस प्रकार मैं और मेरा ऐसा अभिमान करना ही अहंकार का रूप है। इस अहंकार के कारण पुरुष नाना प्रकार के भ्रमों में पड़ा रहता है और समझने लगता है कि 'मैं ही कर्ता हूं'; 'मैं ही भोक्ता हूं', 'मैं ही स्वामी हूं', आदि। गुणों की विभिन्नता के कारण यह अहंकार तीन प्रकार का होता है—

(क) **सात्त्विक**—जिसमें सत्त्व की प्रधानता होती है। इसीका पारिभाषिक नाम है—'वैकृत'।

(ख) **राजस**—जिसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। इसका पारिभाषिक नाम है—'तैजस'।

(ग) **तामस**—जिसमें तमोगुण की प्रधानता होती है। इसकी पारिभाषिकी संज्ञा है—'भूतादि'।

इन्द्रियां—अब इनके विकास पर ध्यान दीजिये। ईश्वरकृष्ण और वाचस्पति मिश्र के अनुसार राजस अहंकार से सृष्टि नहीं होती, प्रत्युत वह

अन्य दोनों प्रकार के अहंकार से परिणाम उत्पन्न होने में सहायक ही होता है। राजस होने से वह क्रियाशील जो ठहरा। सात्त्विक अहंकार के परिणाम हैं—मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय अर्थात् ग्यारह इन्द्रियां। ज्ञान की साधक इन्द्रियां पांच हैं—नेत्र, श्रवण, घ्राण, रसना (जीभ) तथा त्वक् (चमड़ा)। कर्मेन्द्रियां भी पांच होती हैं, जो मुख, हाथ, पैर, मलद्वार तथा जननेन्द्रिय में निवास करती हैं।

मन—मन भी इन्द्रिय है, परन्तु उसका इन्द्रियत्व दोनों प्रकार का है। यह कर्मेन्द्रिय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी है। मन का अपना रूप है—'संकल्पात्मक'। 'संकल्प' का अर्थ है—सम्, सम्यक् (ठीक-ठीक) कल्प—कल्पना करना। इन्द्रियां अपने विशिष्ट विषयों को ग्रहणकर मन के सामने लाकर प्रस्तुत करती हैं। मन उस ज्ञान को संकल्पात्मक बनाता है, अर्थात् वह बतलाता है कि कोई सामान्य वस्तु सामान्य न होकर विशिष्ट होती है। मन ही बतलाता है कि सामने हिलने-डुलनेवाली, चलने-फिरनेवाली, सास्नावाली उजली चीज घोड़ा न होकर गाय है। मन उस वस्तु को जब प्रस्तुत करता है, तब अहंकार उसके ऊपर अपना व्यापार करता है 'यह गाय मेरी है'। इसके बाद बुद्धि का निश्चय रूप व्यापार होता है और तब पुरुष को निश्चित ज्ञान होता है कि यह अमुक वस्तु है। मन, अहंकार और बुद्धि—इन तीनों का नाम है—'अन्तःकरण' (ज्ञान के भीतरी साधन)। दसों इन्द्रियां हैं ज्ञान के बाहरी साधन। इस प्रकार ये हैं 'बाह्यकरण'। दोनों को मिलाकर 'करण' तेरह प्रकार के होते हैं। यह तो हुई इन्द्रियों की सृष्टि, जो सात्त्विक अहंकार से प्रवृत्त होती है।

तन्मात्र तथा महाभूत—तामस अहंकार का परिणाम है—'तन्मात्र'। तन्मात्र का अर्थ है सूक्ष्म तत्त्व। तन्मात्र बहुत ही सूक्ष्म होते हैं। योगी लोगों को ही उनका प्रत्यक्ष होता है, साधारण जनों को नहीं। ये पांच प्रकार के होते हैं—शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र तथा गन्ध तन्मात्र। इन्हीं तन्मात्रों का अधिक विकास होने पर भूत या महाभूत का उदय होता है—

१. शब्द तन्मात्र से आकाश का उदय।

२. शब्द तन्मात्र + स्पर्श तन्मात्र = वायु (शब्द तथा स्पर्श गुणों से

युक्त)

३. शब्द तन्मात्र + स्पर्श तन्मात्र + रूप तन्मात्र = तेज (शब्द, स्पर्श तथा रूप से युक्त),

४. शब्द तन्मात्र + स्पर्श तन्मात्र + रूप तन्मात्र + रस तन्मात्र = जल (शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस से युक्त)

५. शब्द तन्मात्र + स्पर्श तन्मात्र + रूप तन्मात्र + रस तन्मात्र + गन्ध तन्मात्र = पृथ्वी (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से विशिष्ट)।

इन पंच महाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—ये पांच विषय क्रमशः होते हैं, पर साथ-ही-साथ पूर्व भूतों के गुण भी इनमें समाविष्ट होते हैं।

साधन-मार्ग

सांख्यदर्शन में विवेक-ज्ञान की दुःख की ग्रात्यन्तिक निवृत्ति के लिए बड़ी उपादेयता है। 'विवेक' का ग्रर्थ है दो वस्तुग्रों में ग्रलग-ग्रलग होने का ज्ञान। ये दो वस्तुएं कौन-सी हैं, जिनके विवेक-ज्ञान की साधक को बड़ी ग्रावश्यकता बनी रहती है। इनमें से एक है प्रकृति ग्रौर दूसरा है पुरुष। ये दोनों वास्तव में भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु संसार-दशा में दोनों घुले-मिले से हैं। पुरुष शुद्ध चैतन्य रूप, निर्गुण तथा निष्क्रिय, साक्षी ग्रौर ग्रसंग है, परन्तु संसार-दशा में वह ग्रपनेको प्रकृति से तथा उससे उत्पन्न द्रव्यों से एकाकार स्थापित कर व्यवहार करता है। 'मैं सुखी हूं', 'मैं दुःखी हूं', 'मैं मोटा हूं', 'मैं दुबला हूं'—यहां सुखी या दुःखी होना, मोटा या दुबला होना पुरुष के साथ सम्बद्ध न होकर प्राकृतिक धर्म है। मोटा ग्रौर दुबला होना देह का धर्म है, देही का नहीं। सुख तथा दुःख मन की ग्रनुभूति है, पुरुष की नहीं। परन्तु व्यवहार में यह उलटी ग्रनुभूति हुग्रा करती है। क्यों? इसका कारण क्या है कि पुरुष ग्रपनेको दुःखी या सुखी समझता है ग्रौर ग्रपने-ग्रापको मोटा या दुबला मानता है। यह सब ग्रज्ञान का विजृम्भण नहीं है, तो क्या है? ग्रज्ञान के ही कारण पुरुष ग्रपनेको बुद्धि या मन से ग्रलग नहीं समझता ग्रौर वह इनके समग्र धर्मों को ग्रपने ऊपर ग्रारोपित करता रहता है। इस प्रकार सब दुःखों का मूल कारण है यही 'ग्रविवेक'—पुरुष का प्रकृति से ग्रपार्थक्य (ग्रलग न होने

का भाव) ।

सच पूछिये तो बुद्धि ही सुख-दुःख को भोगती है, परन्तु पुरुष उसकी सन्निधि में रहने पर अपने को सुखों का तथा दुःखों का भोक्ता मानता है। पुरुष समझता है कि मैं ही दुःखों को भोग रहा हूं अथवा सुखों को भोग रहा हूं। यह आरोपित अनुभूति है। दूसरे की अनुभूति पुरुष अपने ऊपर ले लेता है और दुःख का यही वास्तव कारण है। लौकिक दृष्टान्त से पुरुष की यह स्थिति समझ में आ सकती है। किसी सेठजी का कोई नौकर था। वह था बड़ा चंचल और धूर्त। किसी मेले पर वह सेठजी के साथ तमाशा देखने के लिए गया। किसी तमाशबीन से वह उलझ पड़ा और पुलिस ने उसे पकड़कर हिरासत में डाल दिया। फलतः नौकर का ही यह अपमान था, परन्तु सेठजी ने इसे अपना ही अपमान समझा और पुलिस के इस दुर्व्यवहार पर वह क्रुद्ध होकर अधिकारियों के पास शिकायत करने गये। यह तो हुआ अपमान का दृष्टान्त सत्कार का भी उदाहरण दिया जा सकता है। देवदत्त का पुत्र परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम पास होता है और वह सुवर्ण पदक पाता है। पुत्र की प्रसन्नता का कारण समझ में आता है, परन्तु पुत्र के इस सत्कार से पिता देवदत्त अपनेको सत्कृत मानता है और वह आनन्द से विभोर हो जाता है। ठीक यही दशा है प्रकृति-पुरुष के परस्पर-सम्बन्ध की। प्रकृति के सुख से पुरुष अपनेको सुखी मानता है। प्रकृति के दुःख से यह अपनेको दुःखी मानता है। यही है संसार का प्रपंच। यही है दुःख का कारण। इसी आरोप से पुरुष अपनेको दुःखी मानता है। इस आरोप का जब अन्त हो जाता है तभी दुःखों का अन्त हो जाता है। इसीका शास्त्रीय नाम है—'विवेक-ख्याति' (विवेक ज्ञान-प्रकृति से पुरुष को अलग समझना) सांख्य-दर्शन के अनुसार 'बन्ध' तथा 'मोक्ष' की यह संक्षिप्त विचारणा है।

मोक्ष क्या है ?—अब इस विषय को विस्तार से समझाया जाता है। प्रश्न यह है कि मनुष्य कृतकृत्य कब होता है ? अर्थात् मोक्ष कब होता है ? उत्तर है, सूत्रकार कपिल के शब्दों में—**अत्यन्त दुःखनिवृत्या कृतकृत्यता** (सांख्य सूत्र ६।५), अर्थात् दुःखों के अत्यन्त निवृत्त हो जाने पर ही मोक्ष होता है। इस सूत्र में 'अत्यन्त' शब्द बड़े महत्त्व का है। 'अत्यन्त' का अर्थ

है (अति + अन्त) बिल्कुल अन्त हो जाना या दूर हो जाना। दुःख एक बार निवृत्त होकर फिर लौट भी आ सकता है। परन्तु दुःखों का हमेशा के लिए दूर हट जाना ही मनुष्य को कृतकृत्य बनाता है।

प्रश्न उठता है कि मनुष्य दुःखों की ही निवृत्ति क्यों चाहता है ? वह सुख की अभिलाषा क्यों नहीं रखता ? कारण यह है कि दुःखों से जितना क्लेश मनुष्य को होता है, उतनी सुख से अभिलाषा की प्राप्ति नहीं होती। संसार का सुख क्या सच्चा, अमिश्रित, विशुद्ध सुख माना जा सकता है ? नहीं, कदापि नहीं। इसलिए तो संसार में कोई भी सुखी नहीं होता। यही कारण है कि सुखों की चाह मनुष्यों में उतनी नहीं होती, जितनी होती है दुःखों की निवृत्ति की इच्छा। इसीलिए सांख्य का मन्तव्य है कि दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही मोक्ष है। हां, कहीं-कहीं सुख अवश्य दीख पड़ता है, परन्तु वह भी दुःखों से अमिश्रित नहीं रहता। इसलिए विवेचक उस सुख को दुःख की कोटि में ही गिनते हैं और उसे छोड़ने का ही उपदेश देते हैं—

न कुत्रापि कोऽपि सुखी। तदपि दुःख शबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः —सांख्य-सूत्र ६।७, ८

विवेक-ज्ञान—इस मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य साधन है—विवेक-ज्ञान अर्थात् पुरुष तथा प्रकृति के पृथक् होने का ज्ञान। इस विषय में कपिल ने अपने सांख्यदर्शन में एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है—**पितापुत्रवद् उभयोर्दृष्टत्वात्** (४।४)। विवेक के द्वारा प्रकृति और पुरुष दोनों ही दीखते हैं, पिता पुत्र के समान। कोई मनुष्य अपनी गर्भिणी स्त्री को छोड़कर परदेश गया था। जब वह लौटकर आया तो देखता क्या है कि पुत्र उत्पन्न होकर पूरा जवान हो गया है। परन्तु न तो पिता पुत्र को जानता है और न पुत्र ही पिता को जानता है कि यह मेरा पिता है। तब उस स्त्री ने दोनों को प्रबोध कराया कि यह तुम्हारा पिता है और तुम इसके पुत्र हो। इसी प्रकार विवेक भी प्रकृति और पुरुष दोनों को जाननेवाला होता है।

इसके लिए तत्त्वों का उपदेश आवश्यक है। तत्त्व कितने हैं और इनमें परस्पर सम्बन्ध, साम्य तथा वैषम्य क्या है ? तत्त्वों के उपदेश से विवेक-ज्ञान का उदय होता है, जिस प्रकार शबरों के द्वारा पाला गया राजकुमार किसी आप्तव्यक्ति के उपदेश से समझ लेता है कि वह शबर नहीं

है, प्रत्युत राजकुमार ही है। इसी प्रकार गुरु के द्वारा उपदेश दिये जाने पर मनुष्य को विवेक-ज्ञान होता है, जिससे आगे चलकर दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है, अर्थात् उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जीवन्मुक्ति—यही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। इस दशा में आत्म-ज्ञान की प्राप्ति साधक को हो जाती है। आत्मज्ञान से कैवल्य-प्राप्ति तो हो जाती है, परन्तु शरीर निवृत्त नहीं होता। कैसे? कुम्भकार के चक्के के समान। कुम्भकार घड़ा बनाने के लिए चक्के पर मिट्टी का लौंदा रखता है। कुम्भकार का व्यापार समाप्त होने पर भी चक्का पूर्व वेग के कारण चलता ही जाता है, रुक नहीं जाता। यही दशा होती है जीवन्मुक्त आत्म-ज्ञानी की भी। वह जन्मान्तर के संस्कारों के कारण शरीर धारण करता ही है, परन्तु उसके धर्म और ज्ञान अग्नि से भूंजे गए बीज के समान शक्तिहीन होते हैं। अग्निदग्ध बीज कभी जमता नहीं। उसी प्रकार जीवन्मुक्त के धर्म और ज्ञानादिकों की अवस्था होती है—शक्तिहीन, निर्वीर्य तथा क्षमतारहित। ईश्वरकृष्ण ने जीवन्मुक्त की दशा का यह सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है—

सम्यग् ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारण प्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः॥

—सांख्यकारिका, कारिका ६७

विदेहमुक्ति—शरीर-भेद प्राप्त होने पर अर्थात् विदेह-दशा में प्रकृति चरितार्थ होकर सर्वथा निवृत्त हो जाती है। तब पुरुष ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक उभय कैवल्य को प्राप्त करता है। यहां कैवल्य के लिए दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है। आत्म-ज्ञान होने पर कैवल्य अवश्यं-भावी होता है। इसलिए वह 'ऐकान्तिक' है। प्रकृति पुरुष के पुनः संयोग होने पर भी प्रयोजन न रहने के कारण सर्ग उत्पन्न नहीं होता। ऐसी दशा में कैवल्य 'आत्यन्तिक' कहा गया है। विदेहमुक्ति का यही सुन्दर रूप है—आत्यन्तिक और ऐकान्तिक कैवल्य की उपलब्धि। इस प्रकार सांख्य-दर्शन दोनों प्रकार की मुक्ति स्वीकार करता है—जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति।

: ४ :

योग

योग हिन्दू-जाति की सबसे श्रेष्ठ आध्यात्मिक निधि है। सब दर्शनों का यह अभिमत मन्तव्य है कि योग की प्रक्रिया मोक्ष का मुख्य साधन है। इसलिए इसके विषय में वाद-विवाद के लिए स्थान नहीं है। हमारे ऋषि-मुनियों के प्रातिभ ज्ञान के उदय में योग ही सर्वाधिक उपयोगी हेतु माना जाता है। इसीलिए धर्म-प्रचारकों ने तथा दार्शनिकों ने इसके महत्त्व को शतशः स्वीकृत किया है। हिन्दूधर्म से भिन्न मतों के उन्नायकों को भी योग का ज्ञान था, तथा उन्हें योगजन्य कई सिद्धियां प्राप्त थीं; परन्तु भारतवर्ष में योग का सिद्धान्त और व्यवहार की उभय दृष्टियों के द्वारा जो वैज्ञानिक अध्ययन किया गया, वह अन्यत्र नितान्त दुर्लभ है। योग एक विज्ञान है और विज्ञान के समान ही इसके तथ्यों की प्रयोग के द्वारा सत्यता निर्धारित की गई है। योग के भी अनेक भेद हैं। हठयोग का वर्णन तान्त्रिक ग्रन्थों में विशेष किया गया है। योग को दर्शन का रूप देनेवाले महर्षि पतञ्जलि का योगमार्ग 'राजयोग' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी योग के मुख्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जाता है।

साहित्य

योग का वर्णन तो वैदिक संहिताओं में ही सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। उपनिषदों में भी योग की प्रक्रिया का वर्णन यत्र-तत्र मिलता है, परन्तु कुछ उपनिषदों में तो योग का लक्षण, उसके अंग-प्रत्यंग तथा उसकी प्रक्रिया का विवरण समग्ररूप से उपलब्ध होता है। इनके नाम ये हैं—अद्वय तारक, अमृतनाद, अमृत बिन्दु, नाद बिन्दु आदि। इस प्रकार के योग प्रतिपादक उपनिषदों की संख्या इक्कीस है, जिनके अध्ययन से योग के समस्त अंग,

आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि का पूर्ण विवरण ही नहीं मिलता, प्रत्युत पिछले युग में योग के विकास का भी पूरा संकेत मिल जाता है। योग का विषय है प्राण-विद्या का विवरण और इस विद्या की महनीयता का प्रतिपादन आरण्यक तथा उपनिषद् में ही नहीं, प्रत्युत संहिता के मन्त्रों में भी यह सूक्ष्मरूप से तथा अंतरंग दृष्टि से पाया जाता है, परन्तु यह विवरण दर्शन नहीं कहा जा सकता।

तथ्य यह है कि वर्तमान समय में 'योग दर्शन' का आरम्भ महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्रों से होता है। ये ही पातञ्जल महाभाष्य के भी रचयिता माने जाते हैं। इनका समय है विक्रमपूर्व द्वितीय शती। योगसूत्र में चार पाद हैं—समाधि पाद, साधन पाद, विभूति पाद तथा कैवल्य पाद। पतञ्जलि अपने ग्रन्थ को 'योगानुशासन' के नाम से अभिहित करते हैं। इस 'अनुशासन' से क्या तात्पर्य है? याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार हिरण्यगर्भ योग के वक्ता हैं; पतञ्जलि ने तो प्राचीनकाल में प्रतिपादित शास्त्र का उपदेशमात्र किया। योगसूत्र के समाधि पाद में योग का लक्षण; चित्त की वृत्तियां, समाधि का भेद आदि विषयों का वर्णन है। साधन पाद में क्रिया-योग, क्लेश तथा उसके भेद, क्लेशों को दूर करने के साधन, योग के यम, नियम आदि आठ अंगों का विशद विवरण किया गया है। विभूति पाद में समाधि तथा योग के अनुष्ठान से उत्पन्न होनेवाली सिद्धियों का प्रतिपादन है। अन्तिम कैवल्य-पाद में निर्माण चित्त का वर्णन, विज्ञानवाद का निराकरण तथा कैवल्य का निर्णय किया गया है। इस प्रकार एकसौ पिच्चानवें सूत्रों के स्वल्प परिमाण के भीतर योगशास्त्र के सिद्धान्त तथा व्यवहार का संक्षिप्त, परन्तु प्रामाणिक विवरण पतञ्जलि ने दिया है। योगसूत्रों के ऊपर 'व्यास-भाष्य' अत्यन्त प्रामाणिक भाष्य है, जिसके गूढ़ अर्थ को सरल रीति से समझाने के लिए वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्व वैशारदी' तथा विज्ञानभिक्षु ने 'योग वार्तिक' की रचना की। योग-दर्शन के मर्म समझने के लिए ये तीनों ग्रन्थ नितान्त उपयोगी और उपादेय हैं। कालान्तर में योग-सूत्रों के ऊपर छोटी-मोटी अनेक व्याख्याएं निर्मित हुई, जिनमें भोज (११शती) रचित 'भोजवृत्ति' (वास्तव नाम 'राज मार्तण्ड') अपने सुबोध व्याख्यान के कारण बहुत ही लोकप्रिय बनी हुई है। इसके अतिरिक्त भावागणेश (१७ शत

की वृत्ति, रामानन्द यति की 'मणिप्रभा', अनन्त पण्डित की 'योगचन्द्रिका', सदाशिवेन्द्र सरस्वती का 'योग-रत्नाकर' तथा नागेश भट्ट (१८ शती) की दो वृत्तियां (लघ्वी और बृहती) भी प्रकाशित हैं, परन्तु पठन-पाठन में भोजवृत्ति के समान प्रचलित नहीं हैं।

योग का लक्षण

योग का लक्षण पतञ्जलि ने अपने एक प्रख्यात सूत्र में इस प्रकार दिया है—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**, चित्त की वृत्तियों के निरोध (रोकने) को 'योग' कहते हैं। चित्त में वृत्तियों का उदय सर्वदा होता रहता है, जिसके कारण वह चंचल बना रहता है और किसी विषय पर वह जमकर नहीं टिकता। इन वृत्तियों को जब रोक दिया जाता है, योग के द्वारा निर्दिष्ट उपायों के द्वारा, तब यह 'योग' कहलाता है। वृत्तियों के लिए सूत्रकार ने किसी संख्या का निर्देश नहीं किया है कि एक वृत्ति का या सब वृत्तियों का निरोध अभीप्सित है। इसके उत्तर में योग के आचार्यों का कथन है कि क्लेश, कर्म तथा वासना का समूलनाशक जो वृत्ति-निरोध है, उसे ही योग कहते हैं। अविद्या आदि क्लेश, पुण्य और पाप-रूपी कर्म तथा शुभ-अशुभ-वासना—ये ही पुरुषों के लिए बन्धन करनेवाली हैं। इन्हींके नाश के लिए पुरुष योग में प्रवृत्त होता है। इन सबका नाश दोनों प्रकार के योगों—संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात—से होता है। इसलिए इन दोनों ही दशा में योगपद वाच्य हैं।

इतने से ही योग का स्वरूप निष्पन्न नहीं होता। सुषुप्ति की दशा पर विचार कीजिये। इसमें भी तो वृत्तियों का निरोध होता है, परन्तु सुषुप्ति को योग कोई भी नहीं कहता। इसका क्या कारण है? पतञ्जलि ने अगले सूत्र में इसका कारण प्रकट किया है—**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**, अर्थात् उस समय द्रष्टा—पुरुष—अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। द्रष्टा का अपना स्वरूप है, निर्लेप और असंग तथा चैतन्य। जिस वृत्ति-निरोध के द्वारा यह स्थिति उत्पन्न होगी, वही योगपद वाच्य माना जायगा। वृत्तियों का निरोध आत्यन्तिक होना चाहिए, अर्थात् निरोध के बाद फिर वृत्तियों का उदय नहीं होना चाहिए। परन्तु सुषुप्ति में क्या ऐसा होता है?

बिल्कुल नहीं। सुषुप्ति से उठने पर सब वृत्तियां पहले के समान जागरित हो जाती हैं। सुषुप्ति में वृत्तियों का निरोध कुछ काल के ही लिए होता है, सर्वदा के लिए नहीं। इसीलिए सुषुप्ति को योग नहीं कहा जाता। एक बात और ध्यान देने की है कि वृत्ति-निरोध प्रज्ञा या ज्ञानमूलक होना चाहिए (उपाय प्रत्यय)। प्रज्ञा के उदय होने पर ही जो वृत्ति-निरोध होता है, वही वस्तुतः योग है। सुषुप्ति में यह निरोध ज्ञान के द्वारा नहीं होता। यदि ऐसा होता तो पुनः जागरण में वृत्तियों का उदय नहीं होता। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। इसलिए पतञ्जलि के मत में योग का परिनिष्ठित लक्षण 'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः' के साथ-साथ **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** को जोड़ देने पर ही निष्पन्न होता है।

चित्त और उसकी भूमियां

चित्त से अभिप्राय अन्तःकरण—भीतरी इन्द्रिय—से है अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार इन तीनों को 'चित्त' नाम से पुकारा जाता है। चित्त में नाना वृत्तियां उत्पन्न हुआ करती हैं। चित्त कभी वृत्तियों से रहित नहीं होता। भगवद्गीता के पढ़ते समय हमारे चित्त में ज्ञान और भक्ति की बातें आती हैं। किसी उपन्यास को पढ़ने पर चित्त में अनेक वासनाएं, कामजनित इच्छाएं उत्पन्न होती हैं। किसी दुष्ट के चरित्र पर विचार करने पर चित्त में अनेक दुर्भावनाएं उत्पन्न होती हैं। ये अनेक प्रकार की वस्तुओं का उदय चित्त की वृत्तियां कहलाती हैं। यह चित्त प्रकृति का सत्त्व-प्रधान परिणाम है अर्थात् प्रकृति के परिणामों में सबसे अधिक सत्त्व का उदय चित्त में होता है, तथापि त्रिगुणात्मक होने के कारण चित्त में सत्त्व, रज तथा तम की अधिकता और न्यूनता समय-समय पर बनी रहती है। इस कारण चित्त तीन प्रकार का होता है—१. प्रख्याशील, २. प्रवृत्ति-शील, ३. स्थितिशील।

१. प्रख्याशील—प्रख्या का अर्थ है ज्ञान। जब चित्त सात्त्विक होता है, तब उसमें तत्त्वज्ञान, प्रसन्नता, अभिरुचि, उत्साह, दया, क्षमा धैर्य आदि सात्त्विक गुणों का उदय होता है।

२. प्रवृत्तिशील—रजोगुण की प्रबलता होने पर चित्त में कर्मों के करने

में उद्योगशीलता दीख पड़ती है। वह परिताप, शोक, लाभ, ईर्ष्या आदि गुणों (राजस) से युक्त होता है। तब वह 'प्रवृत्तिशील' कहा जाता है।

३. **स्थितिशील**—यह तामस चित्त की दशा है। जब वह स्थिति (अर्थात् प्रवृत्ति का विरोधी स्तब्धी भाव), विह्वलता, आवरण, गारव (भारीपन), आलस्य, दैन्य, निद्रा आदि तामस धर्मों को ग्रहण करता है।

सत्त्व, रज तथा तम के न्यूनाधिक भाव से रहने पर चित्त की पांच भूमियां होती हैं। इनके नाम हैं—१. क्षिप्त, २. मूढ़, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र, ५. निरुद्ध।

१. **क्षिप्त**—'क्षिप्त' का अर्थ फेंका गया, अर्थात् विषयों में फेंका गया चित्त। चित्त में जब सत्त्व गुण की कमी होती है और रजोगुण तथा तमोगुण समान रूप से विद्यमान रहते हैं तब चित्त रूप, रस, गन्ध आदि विषयों में लगता है और अणिमा, लघिमा आदि ऐश्वर्यों को प्रिय मानकर उन्हींमें आसक्त होता है। यही है चित्त की क्षिप्त भूमि।

२. **मूढ़**—जब सत्त्व तथा रजोगुणों को दबाकर तमोगुण की प्रबलता होती है, तब चित्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य (सर्वत्र इच्छा का प्रतिघात) की ओर आसक्त होकर उन्हींमें लग जाता है। यह चित्त की मूढ़ दशा है। 'मूढ़' का अर्थ है मोहयुक्त।

३. **विक्षिप्त**—इस दशा में सत्त्व की अधिकता होती है। इस दशा में चित्त दुःखों के साधनों को छोड़कर प्रकृति, बुद्धि आदि सूक्ष्म तत्त्वों की विवेचना में निपुण होता है और रजोगुण से लेशतः सम्मिलित होने के कारण चित्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि की ओर भी उन्मुख होता है। विक्षिप्त का अर्थ है 'क्षिप्त से विशिष्ट'। यह विशिष्टता क्या है? क्षिप्त भूमि में चित्त कभी भी समाहित नहीं हो सकता, क्योंकि वह सर्वदा चंचल बना रहता है। परन्तु विक्षिप्त दशा में वह कभी-कभी समाहित हो जाता है, सत्त्व के आधिक्य के कारण। दोनों दशाओं का यही अन्तर है।

४. **एकाग्र**—'एकाग्र' का शाब्दिक अर्थ है वह चित्त, जिसका अग्रभाग एक ही ओर लगा हुआ है। यदि चित्त कभी फूल को, कभी फुटबाल को, कभी आम को और कभी वृक्ष को सोचता है, तब उसका अग्रभाग एक ओर न होकर अनेक ओर है। जब वह संतत एक ही ध्येय की ओर लगा रहता

है तब वह 'एकाग्र' कहलाता है।

५. निरुद्ध—'निरुद्ध' का अर्थ है रोका गया चित्त, अर्थात् जो अपनी वृत्तियों से हटाकर पृथक् कर दिया गया हो। एकाग्र भूमि में अन्य वृत्तियों के हटाने से चित्त में एक ही ध्येय की वृत्ति रहती है, परन्तु निरुद्ध भूमि में वह वृत्ति भी तथा संस्कार भी लय कर दिये जाते हैं। इसलिए एकाग्र और निरुद्ध इन दो ही भूमियों में समाधि हो सकती है, आरम्भ की तीन भूमियों में नहीं।

क्रियायोग

पतञ्जलि ने 'क्रियायोग' के द्वारा योग के तीन साधनों का निर्देश किया है (योगसूत्र २।१)। ये तीन साधन हैं—तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान। तप से अभिप्राय चान्द्रायण आदि व्रतों के अनुष्ठान से है, जिससे साधक के मानस तथा शारीरिक मल सन्तप्त होकर नष्ट हो जाते हैं। तप अग्नि-रूप है और इसलिए तप का काम है जलाना, जो मलों—दैहिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के मलों को जलाकर भस्म कर देता है। तप की महिमा का वर्णन पुराणादि ग्रन्थों में भी विशेष बतलाया गया है। 'स्वाध्याय' का अर्थ है मोक्ष-शास्त्र का अध्ययन, चिन्तन अथवा मन्त्र का जप। मन्त्र भी मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—वैदिक और तान्त्रिक। समग्र वेद ही मन्त्रात्मक है, इनके भी स्वाभीष्ट देवता से सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रों का जपना साधक का मुख्य कर्तव्य होता है। तन्त्र-शास्त्र में भी मन्त्रों के अनेक प्रकार बतलाये गए हैं। किसी योग्य गुरु की शिक्षा से मन्त्रों का जप करना लाभदायक होता है। गीता के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ने 'जप-यज्ञ' को वैदिक यज्ञों में अपनी विभूति बतलाकर उसकी महत्ता का स्पष्ट प्रतिपादन किया है **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** वाक्य के द्वारा। 'स्वाध्याय' के इस मुख्य अर्थ के अनन्तर व्यासभाष्य में एक दूसरा अर्थ भी दिया गया है—मोक्ष-शास्त्र का अध्ययन। क्रियायोग का तृतीय प्रकार है—'ईश्वर-प्रणिधान'। 'प्रणिधान' शब्द का अर्थ है—**प्रकर्षेण निधानं स्थापनं समर्पणम्**, अर्थात् सब क्रियाओं का ईश्वर के प्रति समर्पण करना। साधक जो कुछ व्यापार करता है, उसे वह ईश्वर को समर्पण कर दे। अथवा इस शब्द का एक दूसरा भी

तात्पर्य है—**कर्मफल संन्यासः**, अर्थात् कर्मों के फलों का त्याग। फल की आकांक्षा से किये गए कर्म सर्वथा बन्धन-कारक होते हैं और इसलिए कर्मों के फल का त्याग बन्धन से हटाकर साधक को मुक्ति की ओर ले जाता है। गीता के **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** इस उपदेशामृत का यही स्वारस्य है।

इन्हें 'क्रियायोग' कहने का क्या तात्पर्य है? यहां 'योग' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है, अर्थात् ये स्वयं योग न होकर योग के साधन हैं। 'क्रिया-योग' का अर्थ है—**क्रियैव योगः योगसाधनम्** अर्थात् तपःकर्म, स्वाध्याय-कर्म तथा प्रणिधान-कर्म ये तीनों कर्म ही योग (या योग साधन) हैं अर्थात् इनके ज्ञान से लाभ नहीं होता, प्रत्युत क्रिया से, करने से ही योग की सिद्धि में साधक को सहायता मिलती हैं। क्रियायोग से दो लाभ पतञ्जलि ने बताये हैं—१. समाधि की भावना तथा २. क्लेशों का तनूकरण (क्लेशों को पतला या दुर्बल बनाना)—**समाधिभावनार्थः क्लेश तनूकरणार्थश्च** (योगसूत्र २।२)। 'भावना' का अर्थ है अनुचिन्तन। इनके बारम्बार चिन्तन करने से साधन का चित्त समाधि की ओर लगता है। क्रियायोग क्लेशों को दुर्बलमात्र बना डालता है, उन्हें दग्धबीज की दशा प्राप्त कराना विवेक-ज्ञान का काम है। ज्ञान तो अग्नि ठहरा और इसलिए उसके लिए क्लेशों का जलाकर उन्हें ऐसी स्थिति में पहुंचा देना, जिससे उनमें अंकुर उत्पन्न न हो स्वाभाविक ही है। क्रियायोग से क्लेशों का तनूकरण होता है। तब क्लेश क्या हैं?

क्लेश-विचार

पुरुष को पीड़ा पहुंचानेवाली वस्तुएं ही 'क्लेश' नाम से अभिहित की जाती हैं। योग-शास्त्र में ये पांच प्रकार के माने जाते हैं—१. अविद्या, २. अस्मिता, ३. राग, ४. द्वेष तथा ५. अभिनिवेश। ये परस्पर मिलकर कर्म के फलों का निष्पादन करते हैं।

१. **अविद्या**—'अविद्या' का सामान्य लक्षण है—**अतस्मिन् तद् बुद्धिः** अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है, उसमें उसकी भावना करना या जानना। पतञ्जलि ने एक सूत्र में इसका विशेषस्वरूप भी बताया है—**अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या** (योगसूत्र २।५)। अनित्य कार्य

को नित्य मानना जैसे पृथ्वी, आकाश आदि कार्य होने से वस्तुतः अनित्य ही हैं, परन्तु इन्हें नित्य मानना अविद्या का प्रथम रूप है। अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, दुःख को सुख जानना तथा आत्मभिन्न शरीर, मन तथा इन्द्रियों को आत्मा समझना अविद्या के अन्य रूप हैं। सच तो यह है कि अविद्या ही मुख्य क्लेश है, क्योंकि अन्य चारों क्लेशों की यही जननी है। जबतक ज्ञान या विद्या के द्वारा अविद्या का मूल से उच्छेद नहीं होता, तबतक पुरुष क्लेशों के द्वारा सन्तत प्रताड़ित तथा सन्तापित किया जाता है।

२. **अस्मिता**—पुरुष बुद्धि से वस्तुतः भिन्न है, पृथक् है। परन्तु पुरुष तथा बुद्धि को एकाकार मानना, वस्तुतः पृथक् होने पर भी एक रूप के समान जानना 'अस्मिता' कहलाता है। इसीके कारण असंग पुरुषों को भी भोग उत्पन्न होता।

३. **राग**—साधारण अर्थ है तृष्णा या लोभ। यह लोभ होता है कब और कहां? जब सुख का पूर्व-अनुभव करनेवाला व्यक्ति सुख के साधन उपस्थित होने पर अनुभूत सुख का स्मरण कर उनमें लोभ करता है या पाने की अभिलाषा करता है—यही है राग। **सुखानुशयी रागः** (योग-सूत्र २।७)

४. **द्वेष**—राग से ठीक प्रतिकूल क्लेश है द्वेष। दुःख का अनुभव करने-वाला व्यक्ति जब दुःख या उसके साधन उपस्थित होने पर पूर्व-दुःख की स्मृति करता हुआ उससे क्रोध करता है, यही कहलाता है—**दुःखानुशयी द्वेषः** (योगसूत्र २।८)

५. **अभिनिवेश**—इसका सीधा अर्थ है मृत्यु से डरना। छोटे-छोटे कीड़ों से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों तक के हृदय में यह नित्य इच्छा रहती है कि मैं मरूं नहीं, आगे भी जीता रहूं। मृत्यु की कल्पना से ही हम कांप उठते हैं, भय के मारे शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं जब हम सोचते हैं कि इस विशाल वैभव, सुख तथा ऐश्वर्य को हमें छोड़ देना है और मृत्यु सब किसी को ध्वस्त कर देगी। पतञ्जलि ने 'अभिनिवेश' के लिए 'स्वरसवाही' विशेषण दिया है, इसके लक्षण में—**स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः** (योग-सूत्र २।९)। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या के अनुसार इसका तात्पर्य यह

है कि अभिनिवेश स्वभाव से, वासनारूप से, बहनेवाला होता है; वह कोई आगन्तुक नहीं होता, जो समय पाकर उत्पन्न हो और कभी गायब हो जाय (स्वभावेन वासनारूपेण वहनशीलो न पुनरागन्तुकः)। मरण का त्रास पूर्व-जन्म का पक्का प्रमाण है। यदि मरण के दुःख को पुरुष ने कभी जाना ही नहीं, तो उससे भय क्यों? डर ही किस बात का?

इन पांचों क्लेशों को बिना दुर्बल और दग्ध बनाये साधक को योग की सिद्धि कथमपि प्राप्त नहीं होती।

चित्त के निरोध के साधनों का अब प्रसंगानुसार वर्णन किया जाता है।

वैराग्य---अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा निरोध होता है। योग कोई खेल नहीं है कि यह बिना परिश्रम सिद्ध हो जाय। इसके लिए वैराग्य की आवश्यकता होती है। जबतक साधक विषयों से विरक्त नहीं होता, वह आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता। वैराग्य क्या है? लौकिक तथा वैदिक विषयों से तृष्णा न रखनेवाले व्यक्ति का इन्हें वश में कर लेने का नाम 'वैराग्य' है। संसार में कामिनी और काञ्चन पुरुष को सर्वदा अपने चंगुल में फंसाये रहते हैं तथा वैदिक कर्म के फल जैसे स्वर्ग तथा अमृत पान आदि भी आकर्षण के विषय हैं। जब पुरुष इनमें तनिक भी तृष्णा नहीं रखता, इन्हें विरस समझता है, तब वह 'विरक्त' कहलाता है। इस प्रकार वैराग्य से युक्त होने पर अभ्यास के द्वारा योग सम्पन्न किया जाता है।

योगांग

मनुष्य तबतक आध्यात्मिक सत्यों का अनुभव नहीं कर सकता जबतक उसका चित्त कलुषित है और उसकी बुद्धि दूषित विचारों से ग्रस्त है। शुद्ध हृदय तथा तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा ही आत्मा की सत्यता का अनुभव होता है। योग दर्शन इस बात को स्वीकार करता है कि मोक्ष की प्राप्ति आत्मा की सत्यता के ज्ञान से ही हो सकती है। परन्तु यह ज्ञान अथवा प्रज्ञा तभी हो सकती है जबकि मन से सब दूषित विचार नष्ट हो जायं तथा मन पूर्ण शान्त और गम्भीर बना रहे। चित्त अथवा मन की इसी शुद्धता तथा आत्म-प्रकाश की प्राप्ति के लिए योग ने आठ प्रकार के साधनों का निर्देश किया है, जिन्हें योगांग कहते हैं। ये अष्टविध साधन निम्नांकित

हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि।

इनमें से पहले पांच बहिरंग साधन हैं और शेष तीन अंतरंग साधन कहलाते हैं।

१. यम—यम का अर्थ संयम होता है। इसके अन्तर्गत (क) अहिंसा—अर्थात् समस्त जीवों की किसी प्रकार की हिंसा न करना, (ख) सत्य—अर्थात् मन और वचन से सत्य का पालन करना, (ग) अस्तेय—अर्थात् किसीकी कोई वस्तु न चुराना, (घ) ब्रह्मचर्य—अपने इन्द्रियों को वश में रखकर भोगविलास न करना, और (च) अपरिग्रह—अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह न करना आदि हैं। इन नियमों का पालन करना योग ने अत्यावश्यक बतलाया है। किसी वस्तु का सम्यक् ध्यान करने के लिए मन की शुद्धि आवश्यक है तथा मन की शुद्धि शरीर-शुद्धि पर अवलम्बित है। शरीर और मन तभी शुद्ध रहेंगे जब उपर्युक्त नियमों का पालन किया जाय। अतएव योगशास्त्र के अनुसार यम का पालन ध्यान के लिए अत्यावश्यक है।

२. नियम—सदाचरण रखने को ही नियम कहते हैं। निम्नांकित आचरणों का पालन करना ही नियम कहलाता है—(क) शौच—अर्थात् शारीरिक शुद्धि। यह स्नान करने तथा शुद्ध आहार करने से होती है। मानसिक शुद्धि भी इसीके अन्तर्गत है, जो मित्रता, दया, प्रसन्नता तथा प्रेम आदि सद्गुणों के कारण उत्पन्न होती है। (ख) सन्तोष—बिना विशेष आयास के जो कुछ मिल जाय, उसीसे संतुष्ट रहना। (ग) तप—सुख, दुःख, आतप, शीत आदि द्वन्द्वों के निराकरण और कठिन नियमों के पालन को तपस्या कहते हैं। (घ) स्वाध्याय—धार्मिक ग्रंथों के अनवरत अध्ययन के अभ्यास को स्वाध्याय कहते हैं। (च) ईश्वर-प्रणिधान—भगवान् का ध्यान तथा ईश्वर के प्रति आत्मनिवेदन ही ईश्वर-प्रणिधान है।

३. आसन—शरीर के नियमन को ही आसन कहते हैं। इसके अन्तर्गत शरीर को सुख देनेवाले तथा ध्यान के लिए उचित आसन हैं। व्यायाम तथा ध्यान की आवश्यकता के अनुसार पद्मासन, वीरासन, भद्रासन तथा

शीर्षासन आदि अनेक आसन होते हैं। इन विभिन्न आसनों का ज्ञान एक कुशल गुरु की कृपा से ही हो सकता है। ध्यान के लिए शरीर की शुद्धि तथा नियमन भी उतना ही आवश्यक है जितना मन की। यदि शरीर नीरोग तथा स्वस्थ नहीं है तो ध्यान करना अत्यन्त दुष्कर होता है। इसलिए योगशास्त्र शरीर को स्वस्थ रखने के उपायों को बतलाता है, जिससे वह सम्यक् प्रकार से ध्यान करने में समर्थ हो सके। योग में शरीर को स्वस्थ तथा बलशाली बनाने के अनेक नियमों का वर्णन किया गया है। योगशास्त्र में जो विभिन्न आसन बतलाये गए हैं, उनके अभ्यास से शरीर तथा मन स्वस्थ रहता है और इन दोनों के स्वस्थ रहने से ध्यान करने में बड़ी सुविधा मिलती है। पद्मासन आदि आसनों के अभ्यास से मन स्वतः ही ध्यान की ओर अग्रसर होता है। अतएव मन को एकाग्र रखने के लिए इन आसनों का करना अत्यन्त आवश्यक है।

४. **प्राणायाम**—श्वास के संयम तथा नियमन को प्राणायाम कहते हैं। श्वास का नियमन तीन प्रकार से होता है, जिसे पूरक, कुम्भक और रेचक कहते हैं। नासा के द्वारा श्वास को भीतर ले जाने की क्रिया को पूरक, भीतर लाये गए श्वास को फुस-फुस में रोक रखने को कुम्भक और रोके गए श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकालने को रेचक कहते हैं। प्रातः और सायं सन्ध्या करनेवाले लोग इस क्रिया से भली-भांति परिचित हैं। इस क्रिया का अभ्यास किसी चतुर गुरु से सीखना चाहिए। श्वासों के नियमन की यह प्रक्रिया हृदय को स्वस्थ तथा फेफड़ों को मजबूत बनाती है। आधुनिक डाक्टर भी इस प्रक्रिया के उपयोग को स्वीकार करते हैं, क्योंकि कमजोर हृदयवाले रोगियों को वे खुली हवा में घूमकर श्वास लेने का आदेश देते हैं। परन्तु योगशास्त्री इससे भी आगे बढ़कर श्वास के संयम को चित्त की एकाग्रता का सहायक बतलाता है। जबतक श्वास लेने की प्रक्रिया जारी रहती है तबतक मन एकाग्र नहीं रहता है। परन्तु ज्योंही श्वास का निरोध हो जाता है त्योंही मन पूर्णतया एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार से श्वास के संयम का अभ्यास कर योगी चिरकाल तक श्वास-निरोध कर सकता है और इस प्रकार ध्यान की अवस्था को अधिक काल तक जारी रख सकता है।

५. **प्रत्याहार**—विभिन्न इन्द्रियों को उनके बाह्य विषयों से हटाकर

मन के द्वारा संयमित करने को प्रत्याहार कहते हैं। जब इन्द्रियां मन के वश में होती हैं तब वे अपने बाह्य व्यापार को छोड़कर, मन के अनुसार ही कार्य करती हैं। परन्तु इस अवस्था को प्राप्त करना बड़ा कठिन है। यह तभी हो सकता है जब इन्द्रियों पर पूरा अधिकार हो जाय।

६. **धारणा**—धारणा उस मानसिक नियमन को कहते हैं, जिसमें चित्त किसी इष्ट वस्तु का ध्यान करता रहता है। यह ध्येय वस्तु या तो अन्तः-शरीर-सम्बन्धी जैसे नाभि या भौं होती है अथवा बाह्य शरीर-सम्बन्धी जैसे चन्द्रमा या मूर्ति आदि रहती है। किसी एक निश्चित वस्तु पर स्थिर रूप से ध्यान लगाने की योग्यता प्राप्त कर लेने पर ही मनुष्य योग की अन्य उच्चतर सीढ़ियों पर चढ़ने में समर्थ हो सकता है।

७. **ध्यान**—ध्येय वस्तु के विषय में विचार की बहती हुई सतत धारा को ही ध्यान कहते हैं। अथवा दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि इष्ट वस्तु का सतत् चिन्तन ही ध्यान है। ध्यान में किसी वस्तु का चिन्तन अविराम तथा स्थिर रूप से होता है। ध्यान के द्वारा हम किसी वस्तु के स्वरूप की स्वच्छ तथा प्रकाशमान प्रतिमूर्ति को अंशतः ग्रहण करते हैं, परन्तु चिर-कालीन ध्यान के बाद इसी प्रति-मूर्ति का आभास पूर्णतः प्रस्फुटित होने लगता है। इसी प्रकार से ध्यान के द्वारा योगी ध्येय वस्तु के वस्तुतः स्वरूप को ठीक-ठीक पहचानने में समर्थ हो जाता है।

८. **समाधि**—योगाभ्यास की अन्तिम सीढ़ी समाधि है। इसमें चित्त ध्येय वस्तु में इतना विलीन या मग्न हो जाता है कि यह अपनी ही सुध-बुध खो बैठता है। चित्त को स्वयं अपना ही ज्ञान नहीं रहता। ध्यान की अवस्था में ध्यान की प्रक्रिया या व्यापार और ध्येय वस्तु दोनों ही अलग-अलग रहते हैं और इनकी चैतन्यावस्था भी पृथक् रहती है, परन्तु समाधि में ध्यान के व्यापार का पृथक् पता नहीं चलता, यह ध्येय वस्तु में मिलकर मानो अपनेको विलीन कर देता है। इसलिए केवल ध्येय वस्तु ही शेष रह जाती है और हमें यह भी नहीं मालूम पड़ता कि ध्यान की प्रक्रिया जारी भी है या नहीं। यहांपर यह ध्यान रखना चाहिए कि यह समाधि पूर्व-कथित समाधि या योग से, जिसका अर्थ चित्त-वृत्तियों का निरोध है, सर्वथा भिन्न है। पूर्व-कथित समाधि साधनमात्र है तथा यह समाधि साध्य है। पहली समाधि

दूसरी की सिद्ध में सहायक का कार्य करती है।

संयम—योगाभ्यास में ये अन्तिम तीन सोपान अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग साधन के नाम से प्रसिद्ध है। प्रथमत: किसी वस्तु की धारणा होती है, फिर ध्यान किया जाता है तथा अन्त में इसीमें समाधि होती है। इन तीनों के सम्मिश्रण को संयम कहते हैं, जो समाधि-योग की प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

'संयम' का साधारण अर्थ है अपनी इन्द्रियों के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करना, जितेन्द्रिय बनना। योगशास्त्र में 'संयम' शब्द का विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ भी है।

संयम के जय का सद्य: फल होता है प्रज्ञा का आलोक—**तज्जयात् प्रज्ञालोक:** (योगसूत्र ३।५)। जब साधक किसी अन्य प्रत्यय के द्वारा अभिभूत न होकर ज्ञान के निर्मल प्रवाह में अवस्थित होता है, तब इसे प्रज्ञालोक के नाम से पुकारते हैं। इस शब्द की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र का महत्त्वपूर्ण कथन है—

प्रत्ययान्तरानभिभूतस्य निर्मलप्रवाहेऽवस्थापनम् आलोक: प्रज्ञाया:।

इसका तात्पर्य है कि आदर्श संयमी पुरुष वही होता है, जो समाधि की ऊंची अवस्था पर प्रतिष्ठित हो, जो किसी एक विषय के चिन्तन में इतना आसक्त होता है कि उसके चित्त में अन्य प्रकार का चिन्तन उत्पन्न ही नहीं होता और जो आलोक से—ज्ञान के प्रकाश से—उद्भासित होता है। आदर्श संयमी का यह लक्ष्य है।

परानुभूति को स्वानुभूति के रूप में परिवर्तन करना प्रत्येक साधक का कर्तव्य होना चाहिए। इसीलिए संयमी पुरुष परानुभूति से सन्तोष नहीं करता, प्रत्युत उसे स्वानुभूति की नितान्त आवश्यकता बनी रहती है।

योगाभ्यास के कारण मनुष्य में अलौकिक शक्तियों का आविर्भाव होने लगता है। योगी अनेक दैवी शक्तियों से सम्पन्न समझा जाने लगता है। इस प्रकार से यह कहा जाता है कि योगी हिंस्र जीवों को भी पालतू बनाकर रख सकता है; स्वेच्छा के द्वारा किसी भी वस्तु को प्राप्त कर सकता है; भूत, भविष्य और वर्तमान की सब बातों को जानता है; वह अलौकिक दृष्टि, गन्ध तथा शब्द को पैदा करता है तथा भूत, प्रेत और देवता जैसे

सूक्ष्म पदार्थों को भी दृष्टिगोचर करता है। वह हवा में उड़ सकता है, पत्थर की दीवारों को पार कर सकता है, तथा एक समय में अनेक स्थानों में विद्यमान दिखाई पड़ता है। यद्यपि सच्चे योगी के लिए ये सब सिद्धियां केवल बाएं हाथ का खेल हैं, परन्तु योगदर्शन ने स्पष्ट ही यह निर्देश कर दिया है कि प्रत्येक धर्म के जिज्ञासु को चाहिए कि इन सिद्धियों को साध्य रूप समझकर वह कभी योग का अभ्यास न करे। ये तो केवल साधनमात्र हैं। वास्तविक साध्य तो मोक्ष की प्राप्ति है, जो योग का परम लक्ष्य है। इसलिए योगी को चाहिए कि वह इन अलौकिक शक्तियों के दलदल में कदापि न फंसे। वह इन आकर्षणों को छोड़कर योग के मार्ग पर सदा बढ़ता चला जाय, जबतक वह अपनी यात्रा के अन्तिम पद—मोक्ष—की प्राप्ति न कर ले।

समाधि के प्रकार

समाधि दो प्रकार की होती है—१. संप्रज्ञात तथा २. असंप्रज्ञात। यहां 'समाधि' का अर्थ है भावना अर्थात् बाह्य विषयों से चित्त को हटाकर किसी एक विषय की ओर लगाना। 'संप्रज्ञात' चित्त की एकाग्र दशा में होती है जब चित्त की भावना के लिए कोई-न-कोई आलम्बन विद्यमान रहता है, परन्तु जब यह आलम्बन भी समाप्त हो जाता है और सब वृत्तियों का विरोध हो जाता है तब 'असंप्रज्ञात' समाधि होती है। इसलिए यह समाधि चित्त की विरुद्ध दशा में उत्पन्न होती है।

संप्रज्ञात समाधि के चार भेद माने जाते हैं—१. सवितर्क, २. सविचार, ३. सानन्द तथा ४. सास्मिता। यह तो सामान्य बात है कि चिन्तन स्थूल विषयों से आरम्भ कर क्रमशः सूक्ष्म विषय की ओर बढ़ता है और इसी बढ़ाव पर ध्यान देने से चार प्रकार की संप्रज्ञात समाधि का उदय होता है।

१. **सवितर्क समाधि**—स्थूल विषय के साक्षात्कार का नाम है वितर्क। वितर्क की व्युत्पत्ति है **'विशेषेण तर्कणम् शब्दार्थज्ञानविकल्परूपं यत्र'**। आशय है कि जहां शब्द, अर्थ तथा ज्ञान इन तीनों का भान अभेदेन होता है उसे 'वितर्क' कहेंगे। 'यह गाय है'—यहां शब्द (गो), उसका अर्थ अर्थात् गो व्यक्ति तथा दोनों का ज्ञान एक साथ ही एकाकार रूप में प्रकट होता है।

अतः इसका साक्षात्कार 'वितर्क' कहलायेगा। इस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन स्थूल पंच भूतों की भावना जब शब्दार्थोल्लेख-पूर्वक की जाती है, तब 'सवितर्क' समाधि होती है।

२. **सविचार समाधि**—साधक स्थूल भूतों को अनित्य जानकर अपनी दृष्टि वहां से हटा लेता है और इनके कारणभूत पंच तन्मात्रा सूक्ष्म विषयों पर अपनी भावना जमाता है, तो इस साक्षात्कार को 'विचार' कहते हैं। 'विचार' की व्युत्पत्ति है—**विशेषेण चारः सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तः सञ्चारो यत्र**, अर्थात् जिस समाधि में चित्त सूक्ष्म वस्तुओं तक संचरण करता है, वही सविचार समाधि कहलाती है।

३. **सानन्द समाधि**—सात्विक अहंकार से उत्पन्न होनेवाली दस इन्द्रियों-विषयक जो भावना होती है, उसे ही सानन्द समाधि कहते हैं। इस दशा में रज तथा तम के सम्पर्क से हीन सत्त्व की प्रतिष्ठा होने से सुख की ही भावना प्रबल रूप से विद्यमान रहती है। इसीलिए इन्द्रियां भी सुखरूप हैं। इस नामकरण का यही कारण है।

४. **सास्मिता समाधि**—इन इन्द्रियों के कारण अहंकार या बुद्धि, प्रकृति या पुरुष के विषय में जो भावना की जाती है, वह इस नाम से पुकारी जाती है। यह अस्मिता से अनुगत होती है। बुद्धि में चित् या पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने पर हमें 'अस्मि' (= मैं हूं) का भान होता है। इसलिए अहंकारोपाधिक पुरुष की भावना यहां होने पर इस समाधि का यह नामकरण है।

समाधि के इस चतुर्विध भेद का विवरण योगसूत्र के १।१७ सूत्र '**वितर्क-विचारानन्दास्मिता स्वरूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः**' के आधार पर ऊपर किया गया है। योगसूत्र १।४१ के अनुसार इन्हींका भेद तीन प्रकार से भी दिखलाया जा सकता है। ग्राह्य या भाव्य पदार्थ (जिनकी भावना, ध्यान किया जाता है) दो प्रकार के होते हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म, जिनमें पंचमहाभूत स्थूल रूप हैं तथा इनके उत्पादक पंच तन्मात्रा सूक्ष्म रूप हैं। इसीलिए पूर्व-वर्णित सवितर्क तथा सविचार समाधि को कहते हैं 'ग्राह्य समापत्ति'। इन्द्रियों का काम विषयों को ग्रहण करना है और इसलिए इन्द्रिय-विषयक तृतीय समाधि 'ग्रहण समापत्ति' भी कहलाती है। पुरुष के ग्रहीता होने के कारण तद्विषयक समाधि 'ग्रहीतृसमापत्ति' कहलाती है। ध्यान देने

की बात है कि संप्रज्ञात का ही दूसरा नाम समापत्ति है, क्योंकि इस समाधि में वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर सात्त्विक चित्त विषय, इन्द्रिय तथा पुरुष के साथ एकाग्र होकर उनके तत्तत् रूप को प्राप्त कर लेता है। उदाहरण के लिए यदि कोई साधक भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान कर रहा है तो उसका चित्त उसी ध्येय वस्तु में एकाग्र होकर प्रथमतः स्थित होता है और तदनन्तर वह उसी कृष्ण के आकार को धारण कर तद्रूप बन जाता है, स्फटिक मणि के समान। स्फटिक मणि इतना विशुद्ध तथा शुद्ध होता है कि उसके सामने पीला, नीला तथा लाल रंग का फूल रखने पर वह मणि भी उसी रंग में रंग जाता है और उसी रंग का प्रतीत होता है। क्षीण वृत्तिवाले चित्त की भी यही दशा होती है। पतञ्जलि ने इस सूत्र में समापत्ति का यही लक्षण दिया—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थ तदञ्जनता समापत्तिः।

—योगसूत्र १।४१

समाधि के इस प्रकार को इस चक्र के द्वारा हम अधिक स्पष्टता से समझ सकते हैं।

क. विषय		समाधि	समापत्ति
१. स्थूल	पंचमहाभूत— पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश	सवितर्क	ग्राह्य-समापत्ति
२. सूक्ष्म	पृथ्वी तन्मात्र, जल तन्मात्र, तेज तन्मात्र, वायु तन्मात्र, आकाश तन्मात्र	सविचार	
ख. इन्द्रिय	पंच ज्ञानेन्द्रिय पंच कर्मेन्द्रिय	सानन्द	ग्रहण-समापत्ति
ग. इन्द्रियों से भी सूक्ष्म तत्त्व	अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, पुरुष	सास्मिता	ग्रहीतृ-समापत्ति

मोटे तौर पर संप्रज्ञात समाधि के ये चार प्रकार होते हैं। इनमें प्रथम दो के और भी दो भेद होते हैं, जिन्हें विस्तार-भय से यहां नहीं दिया गया है।[1]

'समापत्ति' को समाधि शब्द से व्यवहृत करते हैं। फलतः ग्राह्य समापत्ति या ग्राह्य समाधि एक ही वस्तु के द्योतक दो नाम हैं।

असंप्रज्ञात समाधि

संप्रज्ञात को 'सबीज समाधि' भी कहते हैं, क्योंकि इसमें संसार के उत्पन्न करनेवाले बीजों की सत्ता विद्यमान रहती है। यह सालम्बन समाधि भी हैं, क्योंकि यहां चित्त का कोई-न-कोई आलम्बन—स्थूल अथवा सूक्ष्म—विद्यमान रहता ही है। परन्तु इससे भी बढ़कर एक समाधि है, जो 'असंप्रज्ञात' नाम से अभिहित की जाती है। इस समाधि में संसार को उत्पन्न करनेवाले बीजों का नितान्त अभाव रहता है और इसलिए यह 'निर्बीज' समाधि कहलाती है। यहां चित्त का कोई आलम्बन नहीं रहता। इसके लक्षण तथा कारण का निर्देश पतञ्जलि ने इस सूत्र में किया है—

विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः

—योगसूत्र १।१७

ऊपर बतलाया गया है कि चित्त की अन्तिम दशा का नाम 'निरुद्ध' है। इस दशा में सब निवृत्तियों का निरोध हो जाता है। निरुद्ध दशा की तुलना भूंजे गए बीज से योग-ग्रन्थों में की गई है। भूंजा गया बीज अंकुर के उत्पन्न करने में कथमपि समर्थ नहीं होता; वह केवल स्वरूपतः शेष रहता रन्तु उसकी शक्ति एकदम गायब हो जाती है। निरुद्ध दशा में चित्त की भी यही दशा होती है। वह वृत्तिरूप कार्य के उत्पादन में कथमपि समर्थ नहीं रहता। वह संस्कारमात्र शेष रहता है और यही 'असंप्रज्ञात' का लक्षण है। परन्तु यह समाधि अनायास सिद्ध नहीं होती। इसके लिए 'पर वैराग्य' का अभ्यास नितान्त आवश्यक होता है। 'पर वैराग्य' वह उच्चकोटि का वैराग्य है, जिसमें प्रकृति-पुरुष-विषयक विवेक-ज्ञान के उत्पन्न

[1]देखिये योगसूत्र प्रथमपाद के सूत्र ४२, ४३ तथा ४४ तथा उनपर व्यासभाष्य।

होने पर साधक गुण के कार्यरूप विवेक-ज्ञान में भी तृष्णा नहीं रखता; वह उसमें वैरस्य का अनुभाव करता है। तात्पर्य यह है कि संप्रज्ञात समाधि में ध्येयाकार चित्तवृत्ति विद्यमान रहती है। इसके निरोध के लिए आवश्यक है कि समाधि का फल जो विवेक-ज्ञान होता है, उसे भी साधक नहीं चाहता; उससे भी वह विरक्त हो जाता है। इस 'पर वैराग्य' का अभ्यास निरन्तर होने पर ही असंप्रज्ञात समाधि उत्पन्न हो जाती है।

कैवल्य

योग का यही लक्ष्य है और इसकी प्राप्ति होती है असंप्रज्ञात समाधि के ठीक समनन्तर ही। 'कैवल्य' का अर्थ है केवलस्य भावः कैवल्यम्, केवल होने का भाव कहलाता है—कैवल्य। 'केवल' का अर्थ एकाकी होना, अकेला होना। इसका स्थूल अर्थ है कि जबतक संसारी दशा में पुरुष प्रकृति के संग में विचरण करता रहता है, अपने-आपको प्रकृति के साथ सम्बद्ध मानता है, तबतक वह अकेला (केवल) नहीं रहता। प्रकृति के साथ क्रीड़ा करने के कारण वह संयुक्त दशा में रहता है। परन्तु ऊपर वर्णित योग की प्रक्रिया के सन्तत अभ्यास से जब वह 'असंप्रज्ञात समाधि' तक पहुंच जाता है, तब वह प्रकृति के प्रत्येक सम्बन्ध से विरहित होकर अपने विशुद्ध रूप में, स्वरूप में, प्रतिष्ठित हो जाता है। पुरुष स्वभावतः ठहरा असंग, निर्लेप तथा वियुक्त। **असंगो ह्ययं पुरुषः**। इस स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही 'कैवल्य' की दशा है और योगी लोगों के लिए यही 'मुक्ति' है। महर्षि पतञ्जलि ने मुक्ति के आपाततः दो रूप बतलाये हैं, जो वस्तुतः एक ही हैं। 'कैवल्य' का लक्षण योगसूत्र में है—

पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति-शक्तेरिति

—योगसूत्र ४।३३

इस महत्त्वपूर्ण सूत्र का अर्थ यह है कि महत्तत्त्व से लेकर सूक्ष्म भूतपर्यन्त जो कुछ भी लिंग शरीर आदि गुण हैं, वे अब पुरुष के किसी भी प्रयोजन को सिद्ध नहीं करते। अतएव पुरुषार्थशून्य होने से वे अपने-अपने कारण में लय होकर अन्ततः प्रकृति में लीन हो जाते हैं। 'प्रतिप्रसव' का तात्पर्य है कार्य

का अपने कारण में लय प्राप्त करना, प्रसव के ठीक विपरीत रूप से। 'प्रसव' में कारण कार्य के रूप में आविर्भूत होता है, परन्तु 'प्रतिप्रसव' में विपरीत क्रम से कार्य-कारण में तिरोहित होता है। प्रथमतः लय होता है व्युत्थान-समाधि-निरोध इन तीनों के संस्कारों का मन में, मन का लय होता है अहंकार में, अहंकार का लय होता है लिङ्गरूप बुद्धि में और बुद्धि का लय होता है प्रधान में। यही पुरुष का कैवल्य है। अथवा चितिशक्ति—पुरुष—की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा ही कैवल्य है। पुरुष का अपना रूप है चैतन्य। अब उसका बुद्धि के साथ कथमपि सम्बन्ध नहीं होता। फलतः वह अपने निर्लेप तथा असंगरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसके अनन्तर पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता।

ईश्वर

योगदर्शन में ईश्वर को छब्बीसवां तत्त्व माना गया है। सांख्य के द्वारा स्वीकृत पच्चीस तत्त्व योग को अभीष्ट हैं, परन्तु वह ईश्वर को उनसे अतिरिक्त तत्त्व के रूप में मानता है और इसीलिए योग 'सेश्वर सांख्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। योग ईश्वर का क्या स्वरूप मानता है और उसकी कौन-सी आवश्यकता बतलाता है? इस समस्या का समाधान यहां प्रस्तुत किया जाता है।

पतञ्जलि ने ईश्वर का लक्षण किया है—

क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः

—अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक (कर्म का फल), तथा आशय (वासना) से मुक्त होनेवाला पुरुष-विशेष ही ईश्वर है। क्लेश पांच प्रकार के होते हैं–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। शुभ तथा अशुभ, विहित और निषिद्ध-भेद से कर्म दो प्रकार का होता है। कर्म करने का फल भी अवश्य ही होता है, जो तीन रूप धारण करता है, जाति, आयु तथा भोग, और इसे ही 'विपाक' कहते हैं। 'आशय' योगशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है—कर्म करने से चित्त में उत्पन्न होनेवाला संस्कार। जो पुरुष क्लेश, कर्म, विपाक तथा संस्कार इन चारों से मुक्त होता है, वही योगशास्त्र में 'ईश्वर' कहलाता है। जीव और ईश्वर में क्या अन्तर

है ? ईश्वर तो इन चारों से उन्मुक्त रहता है, परन्तु जीव (या पुरुष) अविद्या के वश में होकर चित्त में रहनेवाले पूर्वोक्त क्लेशों के प्रभाव के वश में रहता है। अर्थात् जीव कर्म करता है, उसके फलों को भोगता है, तज्जन्य संस्कारों को धारण करता है तथा क्लेशों के बन्धन में पड़ा रहता है। तो जीव का यही स्वभाव है क्या ? उत्तर है नहीं। जीव भी नित्य, असङ्ग तथा निर्लेप माना जाता है, परन्तु चित्तानुकारी होने से उसमें क्लेशादिकों का औपाधिक भान होता है, परन्तु ईश्वर में औपाधिक क्लेशों की भी सम्भावना नहीं रहती। ईश्वर की जीव से यही विशिष्टता है।

ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से नाना प्रकार के शरीरों को धारण कर सकता है। इच्छा मात्र से निर्मित शरीर को कहते हैं 'निर्माण काय'। इस निर्माण काय में स्थित होकर वह जीवों पर अनुग्रह कर लौकिक तथा वैदिक सम्प्रदायों का प्रवर्तन करता है, जिनका अनुसरण कर विवेकी पुरुष त्रिविध तापों से मुक्ति पाता है और कृतार्थ बनता है। बिना गुरु के ज्ञान का उपदेश कौन कर सकता है ? और ईश्वर ही वास्तव में हमारे पूर्व-पुरुषों, ऋषियों तथा गुरुजनों का भी गुरु है, क्योंकि वह काल के द्वारा अवच्छिन्न (सीमित) नहीं है। पतञ्जलि का सूत्र है—**स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्** (योगसूत्र १।२६)। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की धारा का मूल स्रोत कोई होना ही चाहिए जहां से प्रवृत्त होकर वह धारा जगत् में प्रवाहित होती है और जिज्ञासु जनों का मंगल साधन करती है। और ज्ञान का वह मूल स्रोत ईश्वर ही है। इतना ही नहीं, 'ईश्वर का प्रणिधान' क्रियायोग में अत्यन्त उत्तम माना जाता है। 'ईश्वर प्रणिधान' से तात्पर्य है ईश्वर का चिन्तन और सब कर्मों का उसमें समर्पण। जो साधक इस क्रियायोग का अभ्यास करता है, परमेश्वर का चिन्तन करता है तथा अपने कर्मों को उन्हें निष्काम भाव से समर्पण कर देता है, उसे समाधिलाभ शीघ्रता से होता है। इसलिए ईश्वर की उपादेयता योगदर्शन में मौलिक है।

उसके वाचक शब्दों में पतञ्जलि ओंकार को मुख्य मानते हैं—**तस्य वाचकः प्रणवः** (योगसूत्र १।२७)। चित्त की एकाग्रता के लिए प्रणव का जप तथा उसके अर्थ का भावन या चिन्तन नितान्त उपयोगी माना गया है—**तज्जपः तदर्थ भावनम्** (योगसूत्र १।२८)। यह सूत्र भली-भांति हमें सिखलाता है

कि ईश्वर के नाम का केवल जप ही नहीं करना चाहिए, प्रत्युत साथ-ही-साथ उस नाम के द्वारा प्रकाश्य अर्थ का भी चिन्तन करना चाहिए। जप तथा अर्थ भावन के संयोग से ही चित्त एकाग्र भूमि को पा लेता है, जो उसे समाधि की ओर अग्रसर करती है। भगवद्गीता में ओम् को एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है। जो व्यक्ति इसका उच्चारण करता हुआ ईश्वर का अनुस्मरण या चिन्तन करता हुआ देह का त्याग करता है, वह भगवान् को ही प्राप्त करता है

> ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
> यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥
>
> ——गीता ८।१३

इस प्रकार पतंजलि का पूर्वोक्त उपदेश गीता के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि योगदर्शन के अनुसार ईश्वर सर्वश्रेष्ठ आत्मा है, जो समस्त सांसारिक जीवों के ऊपर है तथा समस्त दोषों से रहित है। वह सर्वगुणसम्पन्न है, नित्य है, सर्वव्यापी है, सर्वद्रष्टा है तथा सर्वशक्तिमान् है। संसार के समस्त जीव अज्ञान,अहंकार,इच्छा, द्वेष तथा मृत्यु के भाजन हैं। उनको अच्छे या बुरे कर्मों को करना पड़ता है तथा फलस्वरूप इसके परिणाम को भोगना पड़ता है। परन्तु केवल ईश्वर ही एक ऐसा है जो सर्वदा समस्त दोषों से रहित है। ईश्वर संसार के सुख, दुःख, कर्म-फल आदि वस्तुओं से सर्वथा अस्पृष्ट है, उसका स्वरूप महान् तथा पूर्ण है। वह सर्वज्ञाता है। अतएव अपनी स्वेच्छा से जगत् की सत्ता को धारण करता है। वह प्रभु है, अतिशय ज्ञानवान् है तथा अपरिमित शक्तिमान् है। इन गुणों के कारण वह अपनी अलौकिक विशिष्टता को बनाये हुए है।

ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में प्रमाण

१. **श्रुति-प्रमाण**—योग-दर्शन ने ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में अनेक प्रमाण दिये हैं, जिनमें सबसे प्रधान प्रमाण श्रुति का है। वेद, उपनिषद् तथा अन्य श्रौत ग्रन्थ ईश्वर की सत्ता को स्पष्ट रूप में प्रतिपादित करते हैं तथा

वे ईश्वर को सर्वश्रेष्ठ आत्मा और जगत् का अन्तिम ध्येय मानते हैं। इस प्रकार श्रुति के अनुसार ईश्वर की सत्ता माननी पड़ती है।

२. **क्रमिक विकास का सिद्धान्त**—विकास-सिद्धान्त के अनुसार जिस वस्तु में परिमाण होता है, उसकी सबसे छोटी तथा सबसे बड़ी सीमा भी होती है। उदाहरण के लिए इस संसार में ऐसे बहुत-से परिमाण हैं, जिनमें से कुछ छोटे हैं तथा कुछ बड़े। परमाणु का परिमाण सबसे छोटा होता है तथा आकाश का परिमाण सबसे बड़ा होता है। इसी प्रकार से ज्ञान और शक्ति की भी विभिन्न श्रेणियां होती हैं। अन्त में एक ऐसा भी पुरुष होगा, जो सर्वज्ञानी तथा सर्वशक्तिमान् होगा। यही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ईश्वर है। संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जो शक्ति तथा ज्ञान में ईश्वर की समानता कर सके, क्योंकि उस दशा में दो शक्तियों में संघर्ष होने लगेगा तथा संसार में अशान्ति मच जायगी। अतः योगशास्त्र के अनुसार सर्वज्ञानी तथा सर्व शक्तिमान् पुरुष ही ईश्वर है।

३. **पुरुष-प्रकृति सम्बन्ध**—इस संसार की सृष्टि पुरुष और प्रकृति के संयोग से होती है तथा इसका नाश इन दोनों के वियोग के कारण से होता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनों स्वतन्त्र तत्त्व हैं। अतएव इनका सम्बन्ध स्वाभाविक है, यह कहना कठिन है। प्रकृति और पुरुष दोनों स्वाभाविक रूप से पृथक् हैं, यह कहना भी अत्यन्त दुष्कर है, क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो इनका संयोग होना असम्भव होता। अतएव कोई एक अवश्य ऐसी शक्ति है, जो जीवों के अदृष्ट के अनुसार इनका संयोग और वियोग कराती है। कोई भी मनुष्य अपने अदृष्ट अथवा भाग्य का नियन्त्रण नहीं कर सकता, क्योंकि वह इसके विषय में कुछ भी नहीं जनता है। अतएव एक ऐसा पूर्ण तथा सर्वज्ञानी पुरुष अवश्य है, जो प्रकृति और पुरुष के संयोग और वियोग का कर्ता है। यही पुरुष ईश्वर है, जिसकी पथप्रदर्शकता के बिना प्रकृति संसार की ऐसी सृष्टि नहीं कर सकती, जो जीवों की मुक्ति के लिए उपयुक्त हो।

ध्यान के लिए ईश्वर-भक्ति साधन रूप है—महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा समाधि में सहायता मिलती है तथा इसी समाधि के द्वारा अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। बाद के योगशास्त्र

के टीकाकारों ने यहांतक लिखा है कि ईश्वर-भक्ति ही मोक्ष-प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसका कारण यह है ईश्वर केवल ध्यान का विषय ही नहीं है, बल्कि वह सर्वश्रेष्ठ पुरुष है, जो अपनी दया के द्वारा अपने भक्तों के समस्त पापों को दूर करता है तथा उनके लिए योगप्राप्ति का उपाय सुगम बना देता है। अपने सच्चे भक्तों के ऊपर भगवान् शुद्ध हृदय तथा विवेक बुद्धि देने की दया करता है। ईश्वर-भक्तों के मार्ग में सांसारिक क्लेशादि कंटकों को हटाकर उनकी योगप्राप्ति को सुगम बना देता है। इस प्रकार जब ईश्वर की दया से हमारा योगमार्ग प्रशस्त बन जाता है तब हमारा भी यह कर्तव्य हो जाता है कि हम प्रेम, दया, सत्य, शौच तथा सतत ईश्वराराधन के द्वारा उसकी दया का पात्र बनने की क्षमता प्राप्त करें।

समीक्षा

योगशास्त्र से सहानुभूति न रखनेवाले आलोचकों को यह दर्शन के एक सम्प्रदाय होने की अपेक्षा अध्यात्मवाद तथा तन्त्र की शाखा ज्ञात हो सकता है। योगदर्शन की आत्मा की कल्पना, जो शरीर, मन तथा अहंकार से वियुक्त है, सहज बोधगम्य नहीं है। इसीलिए आत्मा की यह कल्पना कुछ अबोध-गम्य तथा रहस्यमय ज्ञात हो सकती है। इसी प्रकार से योगाभ्यास की विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त होनेवाली अलौकिक शक्तियां भी आधुनिक भौतिक विज्ञान के लिए रहस्यमय पहेली-सी हैं, क्योंकि आधुनिक विज्ञान के द्वारा ऐसी शक्तियों को प्राप्त करना असम्भव-सा है। इस प्रकार इन अलौकिक शक्तियों से समन्वित योग-दर्शन मूल या आदिम निवासियों के तान्त्रिक धर्म की तरह मालूम हो सकता है। परन्तु यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि योग कोई तन्त्र-मन्त्र-सम्बन्धी धर्म नहीं है। योगदर्शन की आत्म-साक्षात्कार की कल्पना सांख्य की तत्वमीमांसा की दृढ़ नींव पर अव-लम्बित है। जो जीव की सत्ता को मानते हैं, उन्हें उसकी चेतनता को भी मानना पड़ेगा। मनुष्य-जीवन की अन्तः सत्ता का आभास हमारे देश के प्राचीन ऋषि-महर्षियों को ही केवल नहीं हुआ था, बल्कि पाश्चात्य देश के प्लेटो, कैण्ट तथा हेगेल जैसे सुप्रसिद्ध दार्शनिकों को भी हुआ है। आधुनिक समय की मनोविज्ञान-परिषदों तथा अनुसन्धानों के द्वारा योगशास्त्र के अनेक रहस्यों की पुष्टि हुई है, जो इस नवीन युग के लिए विश्वसनीय नहीं

थे। परन्तु योगशास्त्र इससे भी आगे बढ़कर संयम तथा शौच के उन नियमों को,जो आत्म-प्रत्यक्ष में सहायक हैं, बतलाता है। सिद्धान्त-पक्ष और व्यवहार-पक्ष इन दोनों ही दृष्टियों से विचार करने पर योगदर्शन का स्थान सांख्य-दर्शन से अधिक महत्त्वपूर्ण दिखलाई पड़ता है, क्योंकि यह दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है तथा वास्तविक व्यावहारिक अनुभवों के द्वारा अपने अनुयायियों में विश्वास उत्पन्न करता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस दर्शन को भली-भांति समझने के लिए सहानुभूति से युक्त हृदय से काम लिया जाय तथा इसके सत्यों का अनुभव करने के लिए सच्चा प्रयत्न हो।

योग के सैद्धान्तिक पक्ष के अतिरिक्त इसकी सबसे बड़ी विशेषता व्यावहारिक पक्ष की है। जहां अन्य दर्शन अपने वाक् जंजाल में फंसाकर ईश्वर की सत्ता का आभास मात्र देते हैं, वहां योग-दर्शन हमें ईश्वर-प्राप्ति का व्यावहारिक मार्ग बतलाता है। यह केवल ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग ही नहीं बतलाता, बल्कि आसन, प्राणायाम, यम, नियम और ध्यान की विधियों को बतलाकर हमारे शरीर को बली, मन को पवित्र तथा चित्त को एकाग्र बनाता है। यदि संसार में शरीर तथा मस्तिष्क दोनों को स्वस्थ बनानेवाला तथा साथ-ही-साथ मोक्ष की प्राप्ति करनेवाला कोई दर्शन है तो वह योग-दर्शन ही है। इसीलिए यह भारतीय दर्शनों में इतना प्रसिद्ध तथा लोक-प्रिय है।

: ५ :

मीमांसा

'मीमांसा' शब्द का अर्थ है किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निर्णय। वेद के दो भाग हैं—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। यज्ञ-यागों की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन कर्मकाण्ड का विषय है तथा जगत्, जीव और ईश्वर के रूप तथा सम्बन्ध का निरूपण ज्ञानकाण्ड का विषय है। इनमें दिखाई पड़नेवाले आपाततः विरोधों को दूर करने के प्रधान लक्ष्य से इस दर्शन की प्रवृत्ति होती है। कर्मकाण्ड की मीमांसा होने से इस दर्शन का पूरा नाम है—कर्म-मीमांसा, परन्तु साधारण रीति से यही 'मीमांसा' शब्द से अभिहित किया जाता है। ज्ञानकाण्ड के यथार्थ निरूपण करनेवाले दर्शन का नाम 'ज्ञान-मीमांसा' है, जो साधारणतया 'वेदान्त' के नाम से अभिहित होता है। कर्मकाण्ड वेद का पूर्वखण्ड है और ज्ञानकाण्ड उत्तरखण्ड। इसीलिए यह दर्शन 'पूर्वमीमांसा' तथा वेदान्त 'उत्तरमीमांसा' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। 'मीमांसा' का तत्त्व बड़ा प्राचीन है। मन्त्रों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में ऐसे वर्णन मिलते हैं कि किसी संदिग्ध विषय पर ऋषियों ने अपनी युक्तियों के सहारे किसी निश्चित तथ्य का निर्णय किया। अतः कर्ममीमांसा की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीनकाल में ही सिद्ध हो गई थी।

मीमांसा-दर्शन के दो प्रधान विषय हैं—(क) कर्मकाण्ड की विधियों में जो परस्पर विरोध दिखलाई पड़ते हैं, उनके परिहार के लिए व्याख्या-पद्धति का आविष्कार करना। (ख) कर्मकाण्ड के आधारभूत सिद्धान्तों को युक्ति तथा तर्क के द्वारा व्यवस्थित तथा प्रतिष्ठित करना। पहले विषय का वर्णन यहां नहीं किया जा रहा है। दूसरा विषय ही दार्शनिक विचार की कोटि में आता है। अतएव उसीका वर्णन यहां किया जा रहा है।

कर्मकाण्ड के सिद्धान्त

धर्म दर्शन के ऊपर प्रतिष्ठित रहता है। वैदिक कर्मकाण्ड अपनी सत्ता तथा स्थिति की पूर्णता के लिए कतिपय सिद्धान्तों को मान्यता देता है। आत्मा के अमरत्व की भावना ऐसी ही है। मृत्यु के अनन्तर भी आत्मा विद्यमान रहता है तथा अपने किये गए शुभ कर्मों का फल स्वर्ग में भोगता है। कर्मों के फलों को सुरक्षित रखनेवाली शक्ति में विश्वास दूसरा मान्य सिद्धान्त है। वेद में अटूट श्रद्धा कि वेद अभ्रान्त है और किसी व्यक्ति के द्वारा विरचित न होने से अपौरुषेय है। जगत् की सत्यता में पूर्ण विश्वास और यह मानना कि हमारा जीवन स्वप्नवत् मायिक नहीं है, प्रत्युत नितान्त सत्य तथा यथार्थ है—कतिपय ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनके ऊपर कर्म-काण्ड का पूरा प्रासाद खड़ा हुआ है। चार्वाक, जैन तथा बौद्ध वेदों को प्रामाण्य नहीं मानते तथा कहीं उपनिषदों में भी कर्मकाण्ड की निन्दा की गई है। मीमांसा-दर्शन इन विरुद्ध सिद्धान्तों का खण्डन कर कर्मकाण्ड के मौलिक तथ्यों को प्रमाणों तथा तर्कों के द्वारा सिद्ध करता है। इस प्रकार वेद को विरोधियों के प्रबल प्रहारों से बचाने के लिए मीमांसा सदा कटि-बद्ध रहा है और अपने सिद्धान्तों की रक्षा करने तथा प्रामाणिकता सिद्ध करने में इसने अपने लिए प्रमाणशास्त्र का भी निर्माण किया है, जो न्याय के प्रमाणशास्त्र से अनेक बातों में विलक्षण तथा स्वतन्त्र है। इसके प्रति-ष्ठापक तथा व्याख्याता आचार्यों की एक दीर्घ परम्परा है, जिन्होंने इस विषय के तार्किक ग्रन्थों का निर्माण कर मीमांसा को अवैदिकों के प्रबल विरोधों से बचाया है।

मीमांसा की दृष्टि

मीमांसा की दार्शनिक दृष्टि यथार्थवादी है। वह जगत् को सत्य मानता है तथा उसके पदार्थों को उसी प्रकार का मानता है, जिस प्रकार वे हमारी इन्द्रियों के द्वारा प्रतीत होते हैं। मेरी दृष्टि में यथार्थवादी दर्शन (रीयलिस्ट फिलॉसफी) की यही मुख्य पहचान है कि वह परमाणुवाद को मानता है और जगत् की उत्पत्ति के लिए परमाणुओं को मुख्य साधन अंगी-

कार करता है। न्याय-वैशेषिक जिस प्रकार परमाणुवाद के समर्थक हैं, मीमांसा भी उसी प्रकार उसका समर्थन करती है। मीमांसा के दोनों अवान्तर मत अणुवाद को स्वीकार करते हैं। गुरुमत अर्थात् प्रभाकर भट्ट के अनुयायी परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं।[1] भाट्ट मत के आचार्य भी ऐसा ही मानते हैं। इन परमाणुओं के संयोग से ही जगत् उत्पन्न हुआ है। परन्तु जगत् की नित्यता धारा-प्रवाह के समान है। नदी की धारा में एक ही जल नहीं होता, प्रतिक्षण पुराना जल बहा चला जाता है और नया जल उसका स्थान ग्रहण करता है। परन्तु धारा एक ही होती है, इसी प्रकार जगत् की स्थिति है। तथापि मीमांसा की गणना उत्पत्तिवादी, परमाणुवाद के समर्थक न्याय-वैशेषिक दर्शनों के साथ की जाती है। यह आत्मवाद को अंगीकार करता है, परन्तु वह जीवों को अनेक मानता है। वह कर्म के ऊपर विशेष आग्रह रखता है, यहांतक कि कर्म की प्रधानता का पक्षपात उसे ईश्वर की सत्ता न मानने के लिए विवश करता है। इस वास्तववादी दृष्टि को ध्यान में रखकर ही उसके सिद्धातों का मनन किया जा सकता है।

मीमांसा-साहित्य

मीमांसा दर्शन के अनेक आचार्य हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा इसके साहित्य को समृद्ध बनाया है। मीमांसा-दर्शन के सूत्रकार हैं महर्षि जैमिनि। इन्होंने सोलह अध्यायों में इस दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों की रचना की, जिनमें से आरम्भ के बारह अध्याय 'द्वादशलक्षणी' के नाम से और अन्तिम चार—'संकर्षण काण्ड' या 'देवता काण्ड' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस दर्शन के सूत्र अन्य दर्शनों के सूत्रों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। ये सूत्र अढ़ाई हजार से ऊपर हैं (२६४४ सूत्र) और अधिकरणों की संख्या नौ सौ से थोड़ी अधिक है (६०६)। इन सूत्रों में धर्म तथा उससे सम्बद्ध विषयों का बड़ा ही विस्तृत तथा व्यापक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस दर्शन के भाष्यकार हैं शबरस्वामी (समय द्वितीय शती विक्रमी), जिन्होंने

[1] **'प्रभाकर विजय'—पृ० ४३-४६ देखिये**

पूरे सूत्रों के ऊपर बड़ा तथा प्रामाणिक भाष्य लिखा है। इस भाष्य पर जिन तीन आचार्यों ने अपने वार्तिक तथा व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं, उनके सम्बन्ध में नीचे लिखा जा रहा है।

(क) **कुमारिल भट्ट** (सप्तम शती विक्रमी)— अपने युग के बड़े ही प्रौढ़ व्याख्याकार मीमांसक हैं, जिनके ग्रन्थ मीमांसा-शास्त्र के विश्व कोश माने जाते हैं। ये ग्रन्थ हैं—'श्लोकवार्तिक' (प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का कारिकाबद्ध व्याख्यान); 'तन्त्रवार्तिक' (प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर समस्त तृतीय अध्याय तक की गद्यमयी प्रौढ़ व्याख्या) तथा टुप्-टीका—अन्तिम नौ अध्यायों की संक्षिप्त विवृति। कुमारिल का मीमांसा के विषय में अपना एक विशिष्ट मत है, जिसके अनुयायी मण्डन मिश्र (सप्तम शती), पार्थ सारथि मिश्र (बारहवीं शती), माधवाचार्य (चौदहवीं शती) तथा खण्डदेव (सत्रहवीं शती) जैसे मीमांसक मूर्धन्य हैं। यह मत भाट्ट मत या भाट्ट सम्प्रदाय के नाम से विद्वानों में विख्यात है।

(ख) **प्रभाकर भट्ट**—अपनी विद्वत्ता के कारण ये 'गुरु' के उपनाम से मण्डित हैं। इनका भी एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय है, जो मीमांसा के तथ्यों के विषय में कुमारिल की अपेक्षा भिन्न मत रखता है। इन्होंने शाबर-भाष्य पर दो टीकाएं लिखीं, जिनमें 'बृहती' (या निबन्धन) प्रकाशित है, परन्तु 'लघ्वी' (या विवरण) अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। इनका मत 'गुरु मत' के नाम से प्रख्यात है। इस मत के आचार्यों में शालिकनाथ, भवनाथ, नन्दीश्वर तथा रामानुजाचार्य मुख्य हैं। इस मत में शालिकनाथ प्रभाकर के पट्ट शिष्य तथा मुख्य व्याख्याता माने जाते हैं। इन्होंने 'प्रकरण पंचिका' जैसे उदात्त प्रौढ़ ग्रन्थ का प्रणयन कर गुरु के सिद्धान्तों को अपनी शेमुषी से नितान्त उद्भासित किया है।

(ग) **मुरारि मिश्र**—इनके विषय में हमारा ज्ञान बहुत ही कम है। '**मुरारेस्तृतीयः पन्थाः**'—इस लोकोक्ति के आश्रय ये ही आचार्य हैं। इस लोकोक्ति का आशय है कि मीमांसा-जगत में भट्ट तथा गुरु के मतों के रहते भी मुरारि ने अपने लिए एक तीसरा मार्ग खोज निकाला। इनका समय बारहवीं शती के आस-पास माना जाता है। इन्होंने मीमांसा-दर्शन के मुख्य तत्त्वों के विषय में अपनी एक स्वतन्त्र सम्मति बना रखी है, जो कुमारिल

तथा प्रभाकर के मत के समान ही प्रौढ़ तथा विद्वत्तापूर्ण है।

इन्हीं आचार्यों के ग्रन्थों में मीमांसा का दर्शन अपने पूर्ण वैभव के साथ परिष्कृत रूप में अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है।

ज्ञान-मीमांसा

प्रमाणों के विषय में भाट्ट तथा गुरु-मत में तनिक अन्तर है। भाट्टों के मत में छः प्रमाण होते हैं, जो अद्वैत वेदान्त को भी मान्य हैं। ये प्रमाण हैं—

१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. शब्द, ५. अर्थापत्ति तथा ६. अनुपलब्धि।

प्रभाकर अन्तिम प्रमाण को नहीं मानते। फलतः उनकी सम्मति में पूर्वोक्त आदि के पांच ही प्रमाण होते हैं।

१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान—मीमांसा न्याय के समान ही यथार्थवादी तत्त्वज्ञान है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान की कल्पना न्याय के समान ही यहां स्वीकृत की गई है। इन्हें प्रत्यक्ष के दोनों भेद—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक—मान्य हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ये लोग 'आलोचन ज्ञान' के नाम से अभिहित करते हैं। यह ज्ञातव्य है कि निर्विकल्पक को वैयाकरण नहीं मानते और सविकल्पक को बौद्ध। छः प्रकार के सन्निकर्षों में भाट्ट लोग दो ही सन्निकर्ष मानते हैं—संयोग और संयुक्त तादात्म्य।

अनुमान की प्रक्रिया न्याय तथा मीमांसा में अधिकांश में समानता रखती है। हेत्वभास तथा पञ्चावयव वाक्य में कुछ अन्तर अवश्य विद्यमान है।

३. उपमान—मीमांसा के मत में उपमान एक स्वतन्त्र प्रमाण है। न्याय भी ऐसा मानता है, परन्तु दोनों के सिद्धान्तों में महान् अन्तर है। मीमांसा के अनुसार उपमानजन्य ज्ञान तब होता है जब किसी पहले देखी गई वस्तु के सदृश कोई पदार्थ देखने पर स्मृत पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान होता है। 'मानमेयोदय' के शब्दों में दिखाई पड़नेवाली वस्तु के सादृश्य से स्मरण की गई वस्तु के सादृश्य का ज्ञान 'उपमिति' कहलाता है। उदाहरण से इसे समझिये। गाय को देखनेवाला व्यक्ति जंगल में जाता है और उसीके समान नीलगाय को देखता है। तब सादृश्य के कारण उसे गाय की स्मृति

होती है और उसे यह ज्ञान होता है कि 'गाय नीलगाय के समान है।' यही ज्ञान उपमिति कहलाता है।

यह ज्ञान एक स्वतन्त्र ज्ञान है, जिसका अन्तर अन्य प्रमाणों से स्पष्टतया प्रतीत होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न है, क्योंकि सादृश्य को धारण करनेवाली वस्तु (गाय) उस समय दृष्टिगोचर नहीं होती, तब प्रत्यक्ष ही क्योंकर हो सकता है? जिस समय हमें गाय का ज्ञान पहले हुआ, उस समय नीलगाय के साथ उसका सादृश्य कथमपि ज्ञात नहीं था। फलतः अन्य वस्तु के साथ सादृश्य का अनुभव न होने से यह 'स्मृति' भी नहीं कहा जा सकता। व्याप्ति के दूषित होने के कारण न यह अनुमान के अन्तर्गत आ सकता है और न शब्द के। इसीलिए उपमान सब प्रमाणों से अलग एक स्वतन्त्र प्रमाण माना जाता है।

४. **शब्द**—ज्ञात पदों के द्वारा पदार्थ के स्मरण होने पर असन्निकृष्ट वाक्य के अर्थ का ज्ञान होना 'शाब्दी प्रमा' कहलाता है। वाक्य दो प्रकार के होते हैं—पौरुषेय और अपौरुषेय। पौरुषेय वाक्य का अर्थ है किसी पुरुष के द्वारा कहा गया वाक्य। यह तभी प्रमाण है जब वह पुरुष आप्त माना जाता है। 'अपौरुषेय' का अर्थ है बिना किसी पुरुष के प्रयत्न के विरचित वाक्य। यह स्वयं श्रुति या वेद है। वेद के वाक्य दो प्रकार के हैं—एक वे जिनमें किसी अनुष्ठान का विधान हो। इसे 'विधि वाक्य' कहते हैं, जैसे '**स्वर्गकामो यजेत्**' (स्वर्ग की चाह रखनेवाला व्यक्ति यज्ञ करे)। यहां यज्ञ करने की विधि है। दूसरे प्रकार के वाक्यों में विधि न होकर किसी पदार्थ का वर्णन रहता है, जैसे उपनिषदों के ब्रह्म के वर्णन करनेवाले वाक्य। इसे 'अर्थवाद' कहते हैं। इनका उपयोग विधि वाक्यों के द्वारा ही होता है अर्थात् अर्थवाद वाक्य प्रशंसा या निन्दा में प्रयुक्त किया जाता है, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रशंसित विधि का अनुष्ठान अवश्यमेव करना चाहिए तथा इसी प्रकार निन्दित अनुष्ठान का निषेध अवश्यमेव करना चाहिए।

मीमांसा के मत में 'शब्द' नित्य है और वेद शब्द की राशि होने से नित्य' है। वह किसीके द्वारा प्रणीत नहीं होता। फलतः वह पुरुष के प्रयत्न से बहिर्भूत होने के कारण 'अपौरुषेय' कहलाता है। इसके विपरीत न्याय-दर्शन वेद को पुरुष अर्थात् ईश्वर के द्वारा विरचित मानकर उसे

'पौरुषेय' मानता है। इस विषय को लेकर न्याय तथा मीमांसा में गहरा मतभेद है। जैमिनि, शबर तथा कुमारिल ने बड़ी प्रौढ़ युक्तियां देकर वेद के 'अपौरुषेयत्व' को सिद्ध किया है।

मीमांसा के मत में वेद का कार्य तथा तात्पर्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर कुमारिल ने श्लोक वार्तिक (श्लोक ११०-१४३, सूत्र २ की व्याख्या) में तथा शान्तरक्षित ने तत्त्व-संग्रह (कारिका ३१२४-३२४६ पूर्वपक्ष) में बड़े अभिनिवेश के साथ दिया है। यागादि के प्रतिपादन और उसके द्वारा धर्म-अधर्म का, पुरुष विशेष की अपेक्षा रखे बिना ही, स्वतन्त्र विधान करना वेद का कार्य है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में कुमारिल का कथन है—

"धर्म-अधर्म से भिन्न अन्य सब वस्तुओं का ज्ञान कोई भी व्यक्ति साक्षात् भले ही कर ले, परन्तु धर्माधर्म का साक्षात् वेद-निरपेक्ष होकर कोई भी नहीं कर सकता। चाहे वह जाननेवाला बुद्ध, जिन जैसा मनुष्य योगी हो अथवा वह ब्रह्मा, विष्णु जैसा देव हो, चाहे वह कपिल, प्रजापति जैसा ऋषि या अवतारी हो। धर्म-मर्यादा सर्वत्र-सर्वदा एक समान है, जो सदा सर्वदा एकरूप वेद द्वारा विहित मानने पर ही संगत हो सकती है। बुद्ध आदि व्यक्तियों को धर्म के साक्षात् प्रतिपादक मानने पर यह मर्यादा सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि वे उपदेशक निर्वाण पा लेने पर रहते भी नहीं। जीवित दशा में वे सब क्षेत्रों में पहुंच भी नहीं सकते। सब धर्मोपदेशकों की एक-वाक्यता भी असम्भव प्रतीत होती है। बुद्ध, महावीर, कपिल आदि आचार्य परस्पर विरुद्ध बातें बतलाते हैं। ऐसी दशा में किसको सर्वज्ञ माना जाय।" इस प्रकार मीमांसा का तात्पर्य यह है कि किसी विशिष्ट पुरुष को धर्माधर्म का उपदेशक तथा सर्वज्ञ मानना सर्वथा असंगत है। वेद ही सर्वज्ञ है और वही धर्माधर्म का विशिष्ट उपदेशक है। इसीलिए तो जैमिनी धर्म को वेद विहित विधि (चोदना) के द्वारा लक्षित तथा प्रतिपादित मानते हैं। (**चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः**)।

५. **अर्थापत्ति**—दृष्ट अर्थ की व्याख्या के लिए किसी अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना, जिसके बिना उस वस्तु की उपपत्ति ही नहीं हो सकती, 'अर्थापत्ति' कहलाती है।

अर्थापत्ति एक स्वतन्त्र प्रमाण है, क्योंकि इसके द्वारा उपलब्ध ज्ञान को

न हम प्रत्यक्ष से, न शब्द से और न अनुमान से जान सकते हैं। मोटे होने-वाले व्यक्ति को रात में भोजन करते हमने नहीं देखा, तब उसे प्रत्यक्ष हम नहीं कह सकते। उसके रात के समय भोजन करने की बात किसी आप्त पुरुष के वचनों के द्वारा हमें ज्ञात नहीं हुई। अतः शब्द भी यहां ठीक नहीं। अनुमान के लिए ठीक व्याप्ति ही नहीं जमती। इसलिए इससे उत्पन्न ज्ञान इन तीनों प्रमाणों के भीतर अन्तर्भूत नहीं हो सकता। अतः मीमांसकों ने 'अर्थापत्ति' को स्वतन्त्र प्रमाण माना है।

दैनिक जीवन में इसकी उपयोगिता बहुत ही अधिक है। वाक्यों के अर्थ समझने में भी 'अर्थापत्ति' सहायता करती है। जैसे किसीने कहा, 'काशी नगरी गंगाजी पर है,' इस वाक्य का अर्थ ठीक नहीं जमता, इस-लिए अर्थापत्ति के द्वारा हमें यह ज्ञान होता है कि 'काशी नगरी गंगा के तट पर है।' यहां 'गंगा पर' का अर्थ होता है 'गंगा के तट पर' और यह अर्था-पत्ति के द्वारा होता है। प्रतिदिन के जीवन में अर्थापत्ति हमारी विशेष सहा-यता करती है। हम अपने मित्र से मिलने को शाम को उनके घर जाते हैं। सवेरे उनसे भेंट हो चुकी है। वे भले-चंगे हैं। इसका ज्ञात हमें पहले से है, परन्तु वे घर पर उस समय नहीं मिलते। फलतः हम अर्थापत्ति के द्वारा जानते हैं कि वे कहीं बाहर गये होंगे। अतः जीवित व्यक्ति का घर पर न मिलना तभी उपपन्न हो सकता है जब उसके बाहर जाने की घटना की कल्पना की जाय। इसी प्रकार इसका बहुल उपयोग हमारे लिए है।

६. **अनुपलब्धि**—'अनुपलब्धि' का अर्थ है किसी पदार्थ की उपलब्धि या प्राप्ति न होना। अभाव की सिद्धि में यही प्रमाण है। इस समय मेरे हाथ में लेखनी नहीं है। यदि होती, तो अवश्य उपलब्ध होती। अतः वस्तु की अनुपलब्धि उसके अभाव को सूचित करती है। इस प्रमाण को स्वतन्त्र रूप से मानने के लिए भाट्ट मीमांसकों का बड़ा आग्रह है। वे इसे समस्त ज्ञात प्रमाणों से भिन्न मानते हैं। अनुपलब्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है, क्योंकि हम नेत्रों से घट को देख सकते हैं, घटाभाव को तो नहीं। घट के अभाव से हमारे नेत्र इन्द्रिय का कभी संयोग नहीं होता। इसलिए यह प्रत्यक्ष नहीं है, प्रत्युत अनुपलब्धि (अदर्शन) के द्वारा ही अभाव का ज्ञान हमें होता है। यह अनु-मान भी नहीं है। अनुमान के लिए जिस उचित व्याप्ति की सत्ता होनी

चाहिए, वह यहां नहीं है। इसलिए अनुपलब्धि को अनुमान से भिन्न मानना पड़ता है। आप्तवाक्य के न होने से यह शब्द भी नहीं है और सादृश्य ज्ञान न होने से उपमान भी नहीं है। फलतः यह है एक स्वतन्त्र प्रमाण। कुमारिल भट्ट के अनुयायी (भाट्ट मीमांसक) तथा अद्वैती वेदान्ती इसे प्रमाण मानते हैं, परन्तु प्रभाकर इसे नहीं मानते। उनका मत है कि अभाव जिस स्थान में रहता है, तद्रूप ही होता है। घट का अभाव जिस स्थान पर, जिस अधिकरण में (जैसे घर में) रहेगा, वह अधिकरण रूप ही होता है। अतः प्रभाकर की दृष्टि में अभाव की सिद्धि के लिए एक नवीन प्रमाण मानने की आवश्यकता तनिक भी नहीं है।

तत्त्व-मीमांसा

यह तो हुई प्रमाण मीमांसा की चर्चा। अब प्रमेय की चर्चा अवसर-प्राप्त है। एक बात ध्यान देने की है कि मीमांसा प्रपंच की नित्यता स्वीकार करती है। बाहरी वस्तुओं की उपलब्धि के साधन तो हमारी इन्द्रियां ही हैं। इनके द्वारा जगत् के पदार्थों की उपलब्धि जिस रूप में होती है, उसी रूप में जगत् की सत्यता है। इसलिए 'श्लोकवार्तिक' (काशी सं०, पृ० ४०४) में कुमारिल भट्ट का यह कथन है—

तस्माद् यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा।
तत् तथैवाभ्युपेतव्यं सामान्यमथवेतरत्॥

मीमांसा का एकदेश अणुवाद को मानता है। न्याय-वैशेषिक भी अणुवाद को स्वीकार करता है, परन्तु दोनों के मत में अन्तर है। न्याय परमाणुओं को प्रत्यक्ष नहीं मानता; वह उसे अनुमेय (अनुमान का विषय) मानता है। पाठकों ने देखा होगा कि जब हमारे कमरे की छत के किसी छेद से सूर्य के किरण आते हैं, तब उनमें अनेक छोटे-छोटे कण नाचते हुए प्रतीत होते हैं। ये त्रसरेणु हैं और इन्हींका छठा भाग परमाणु कहलाता है; ऐसी न्याय की मान्यता है। इसका द्योतक यह प्राचीन श्लोक है—

जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुरिति स्मृतः॥

मीमांसा को यह अभीष्ट नहीं। वह इधर-उधर नाचनेवाले कणों को ही परमाणु मानता है और इससे भी सूक्ष्म कण की कल्पना को अमान्य

ठहराता है । न्याय परमाणुओं को योगियों के प्रत्यक्ष का विषय मानता है, परन्तु मीमांसा उन्हें सामान्य प्रत्यक्ष का विषय मानती है । उसकी दृष्टि में साधारण प्रत्यक्ष से योगज प्रत्यक्ष कोई विलक्षण अनुभूति नहीं होती । अतः वह उसकी सत्यता में विश्वास नहीं करता । 'मानमेयोदय' में नारायण भट्ट ने स्पष्ट लिखा है—

जालरन्ध्र विसरद् रवितेजो जालभासुर पदार्थ विशेषान् ।
अल्पकानिह पुनः परमाणून् कल्पयन्ति हि कुमारिलशिष्याः ।।

तत्त्वों के विषय में मीमांसा के सम्प्रदायों में पार्थक्य लक्षित होता है—

(क) कुमारिल मत में पांच पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा अभाव ।

(ख) गुरु मत में आठ पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या ।

(ग) मुरारि मत में पांच पदार्थ—ब्रह्म तथा लौकिक पदार्थ चार—१. धर्मि विशेष, २. धर्म विशेष, ३. आधार विशेष तथा ४. प्रदेश विशेष ।

इनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य का रूप प्रायः वैसा ही है जैसा न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों में प्रतिपादित किया गया है । 'परतन्त्रता' वैशेषिकों का समवाय पदार्थ है, जो नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का है । नित्य पदार्थों में रहनेवाली परतन्त्रता नित्य है और अनित्य पदार्थोंवाली अनित्य । प्रभाकर 'शक्ति' को स्वतन्त्र पदार्थ इस हेतु मानते हैं कि केवल द्रव्य, गुण तथा कर्म से कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते, जबतक वे शक्ति से सम्पन्न न हों । अतएव 'शक्ति' एक स्वतन्त्र पदार्थ है । परन्तु न्याय इस मत से सहमत नहीं है । उसकी सम्मति में शक्ति 'प्रतिबन्धकाभाव' रूप है । शक्ति का अर्थ है प्रतिबन्धक या रोकनेवाले कारण का न होना । जैसे अग्नि में दाहिका शक्ति है, पर इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ है जलाने से अग्नि को रोकनेवाली जो चीजें हैं, वे यहां उपस्थित नहीं हैं । इसलिए आग जलती है । न्याय की भाषा में प्रतिबन्ध का भाव विशिष्ट अग्नि ही जलता है, अन्य अग्नि ही नहीं । फलतः 'शक्ति' एक नूतन स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है । सादृश्य तथा संख्या गुण के अन्तर्गत है । फलतः इन्हें स्वतन्त्र पदार्थ मानना ठीक नहीं

जान पड़ता।[1]

द्रव्य के भीतर कुमारिल 'अन्धकार' को भी एक प्रकार का द्रव्य ही मानते हैं, जिसका वैशेषिकों ने बड़े आग्रह के साथ खण्डन किया है। इनका कहना है कि द्रव्य नव ही है। तम तो प्रकाश का अभाव मात्र ठहरा। उसे स्वतन्त्र द्रव्य मानना बड़ी भूल है। इसी संघर्ष की ओर वेदान्ती श्री हर्ष ने 'नैषध चरित' के इस प्रख्यात पद्य में संकेत किया है—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां
वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलुदर्शनं तत्
क्षमं तमस्तत्त्व निरूपणाय॥

'**मुरारेस्तृतीयः पन्थाः**' के अनुसार मुरारि की पदार्थ-कल्पना दोनों से विलक्षण है। इनकी दृष्टि में ब्रह्म ही एक परमार्थभूत पदार्थ है, परन्तु लौकिक व्यवहार की उपपत्ति के लिए उससे भिन्न चार पदार्थों को स्वीकार करना पड़ता है—

१. **धर्मि विशेष**—नियत आश्रय, सदा रहनेवाला आश्रय या आधार। जैसे घटत्व का आश्रय घट है। वही इस नाम से व्यवहृत किया जायगा।

२. **धर्मविशेष**—नियत रूप से आधार में रहनेवाला धर्म या आधेय जैसे घट में नियत रहनेवाला धर्म है घटत्व।

३. **आधार विशेष**—अनियत आधार। जैसे हमने कहा—'इदानीं घटः' तथा 'तदानीं घटः' (इस समय का घड़ा तथा उस समय का घड़ा)। यहां इदानीं और तदानीं काल-बोधक पद घट के अनियत आधार हैं, काल के भिन्न-भिन्न होने के कारण।

४. **प्रदेश-विशेष**—दैशिक आधार, देश-सम्बन्धी आधार जैसे 'गृहे घटः', 'भूतले घटः।' यहां गृह और भूतल अनियत दैशिक आधार हैं, क्योंकि घड़े का स्थान बदलता रहता है। वह एक ही स्थान पर हमेशा के लिए

[1]गुरु-मत के लिए द्रष्टव्य तन्त्र-रहस्य पृ० २०-२४ तथा भाट्ट मत के लिए द्रष्टव्य मानमेयोदय पृ० १५६ (प्रकाशक अड्यार, थियासोफिकल सोसाइटी)

स्थित तो नहीं रहता।

अपूर्व की कल्पना

मीमांसा-मत में 'अपूर्व' नामक एक नवीन पदार्थ की कल्पना मानी जाती है। 'अपूर्व' का शाब्दिक अर्थ है—जो पहले विद्यमान न था। (अ+पूर्व) अर्थात् कर्मों से नवीन उत्पन्न होनेवाला फल, पाप तथा पुण्य रूप फल। मीमांसक कर्मवादी हैं। वे क्रिया को, वेद के द्वारा विहित कर्म को, समधिक महत्त्व देते हैं; यह तो उनके 'कर्म-मीमांसा' नामकरण से ही नितान्त स्पष्ट है। परन्तु यज्ञ के अनुष्ठान में एक विप्रपत्ति दृष्टिगोचर होती है। वेद कहता है—**स्वर्ग कामो यजेत** (स्वर्ग की कामनावाला व्यक्ति यज्ञ करे)। अर्थात् यज्ञ के अनुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है; इसलिए यज्ञ करना चाहिए। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि यज्ञ तो यजमान आज कर रहा है और उसे फल मिलेगा किसी भविष्य काल में। ज़रा असंगति तो देखिये, कर्म का फल अभी नहीं मिलता। फल जब मिलता है तब कर्म का सम्पादन नहीं होता, प्रत्युत वह अतीत की कोटि में जा मिलता है। यह स्पष्ट विरोध है—स्पष्ट विप्रतिपत्ति है। इसी विरोध के परिहार के निमित्त मीमांसा ने 'अपूर्व' की कल्पना की है। यज्ञ से उत्पन्न होता है—अपूर्व (पुण्य) और अपूर्व से उत्पन्न होता है स्वर्ग (फल)। इस प्रकार क्रिया तथा फल के बीच में अपूर्व माध्यम का काम करता है।

वेदान्त के मत में यह फल देने का काम ईश्वर का है, परन्तु मीमांसा तो ईश्वर की सत्ता मानती ही नहीं। फलतः वह कर्म को ही यह उत्तर-दायी पद प्रदान करता है। और भी स्वतः फल के उत्पादन में समर्थ नहीं होगा, प्रत्युत अपूर्व के द्वारा ही यह कार्य करता है। 'अपूर्व' की यह कल्पना मीमांसा का मुख्य तत्त्व है। शंकराचार्य का यह कथन इस तत्त्व को स्पष्ट कर रहा है—

न चापि अनुत्पाद्य किमपि अपूर्वं, कर्म विनश्यत् कालान्तरितं फलं दातुं प्रभवति। अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिद् उत्तरावस्था। फलस्य वा पूर्वावस्था अपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते।

—शांकर-भाष्य ३।२।४०

आचार्य के वचनों का तात्पर्य यही है कि बिना किसी अपूर्व को पैदा किये इस समय नष्ट होनेवाला कर्म कालान्तर में फल देनेवाला कथमपि नहीं हो सकता। अतः जो कर्म की सूक्ष्म उत्तरावस्था है या फल की पूर्वावस्था है, वही 'अपूर्व' कहलाती है। कहना न होगा कि वेदान्त को यह नवीन कल्पना मान्य नहीं है। कर्म के फलदाता के रूप में वह ईश्वर को ही मानता है, किसी जड़ पदार्थ को नहीं। आखिर 'अपूर्व' तो जड़ पदार्थ ठहरा, उसमें फल देने की शक्ति कहां से आई ? इसलिए 'अपूर्व' की कल्पना वेदान्त आदि दर्शनों को मान्य नहीं है।

कर्म-तत्त्व

मीमांसा का प्रधान उद्देश्य है वेद-विहित कर्मों का यथावत् अनुष्ठान। कर्म में इतनी आस्था है मीमांसा को कि वह कर्म को ही ईश्वर के समान प्रभावशाली मानने के लिए तत्पर है। '**कर्मेति मीमांसकाः**' इस वाक्य का यही आशय है। पहले बताया गया है कि मीमांसा विधि-वाक्यों को ही प्रधान मानता है, अर्थवाद को गौण। यहां कर्म-तत्त्व को समझने की आवश्यकता है।

कर्मकाण्ड के प्रति मीमांसकों की भावना पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। कर्म-मीमांसा का मुख्य उद्देश्य यह है कि प्राणी वेद के द्वारा प्रतिपादित अभीष्ट साधक कार्यों में लगे और अपना वास्तव कल्याण सम्पादन करे। यज्ञ-यागादि में किसी देवता विशेष (जैसे इन्द्र, विष्णु, वरुण आदि) को लक्ष्य करके आहुति दी जाती है। वेद में इन देवों के स्वरूप का पूरा वर्णन मिलता है, परन्तु मीमांसा के मत में देवता सम्प्रदान कारक सूचक पदमात्र है। इससे बढ़कर उनकी स्थिति नहीं। देवता मन्त्रात्मक होते हैं और देवताओं की पृथक् सत्ता उन मन्त्रों को छोड़कर अलग नहीं होती, जिनके द्वारा उनके लिए होम का विधान होता है। तब प्रश्न है कि वैदिक कर्म का अनुष्ठान किसलिए किया जाय ? सामान्य मत है कि किसी कामना की सिद्धि के लिए। परन्तु विशेष मत यह है कि बिना किसी कामना के ही वैदिक कर्मों का अनुष्ठान हमें करना चाहिए। ऋषियों के प्रातिभ चक्षु के द्वारा दृष्ट वैदिक मन्त्रों में प्रतिपादित धर्म हमारे कल्याण के लिए है। अतः हमें

चाहिए कि उसका अनुष्ठान बिना किसी प्रयोजन की सिद्धि के स्वयं करते चलें। इस प्रकार निष्काम कर्म के अनुष्ठान की शिक्षा देना मीमांसा के कर्तव्य-शास्त्र का चरम उत्कर्ष है। जर्मन तत्त्वज्ञ काण्ट भी कर्तव्य के विषय में मीमांसा के मत के समान ही मत रखते हैं। उनका कहना है कि प्राणी का कर्तव्य का सम्पादन स्वार्थ-बुद्धि से न करके निरपेक्ष बुद्धि से करना चाहिए। परन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। काण्ट के मत में कर्म के फलों का दाता ईश्वर है, वहां मीमांसक कर्म को ही फल देने की योग्यता से मण्डित मानता है। काण्ट की दृष्टि में ईश्वर ही मानव को कर्तव्य करने की ओर प्रेरित करता है, परन्तु मीमांसा-मत में कर्तव्य का मूल स्रोत अपौरुषेय वेद ही है। वही हमें निष्काम कर्म करने का आदेश देता है और हमें उसकी आज्ञा का पालन कर्तव्य-बुद्धि से करना चाहिए।

वैदिक कर्मों का फल है स्वर्ग की प्राप्ति। निरतिशय सुख का ही अपर नाम स्वर्ग है। '**स्वर्गकामो यजेत**' वाक्य यज्ञ का सम्पादन स्वर्ग की कामना के लिए विधान करता है, परन्तु अन्य दर्शनों में मोक्ष ही मानव-जीवन का लक्ष्य माना गया है। फलतः यहां भी मोक्ष की भावना ने प्रवेश किया। सकाम कर्मों के अनुष्ठान से तो पाप-पुण्य होते हैं, परन्तु निष्काम धर्माचरण से तथा आत्मज्ञान के प्रभाव से पूर्व कर्मों के संचित संस्कार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा पाकर दुःखों से निवृत्ति पा लेता है। वह शरीरादि के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और निरतिशय सुख भी प्राप्ति करता है। इस प्रकार मीमांसा के तथ्यों का भी विकास होता रहा है। उपनिषदों के ज्ञान-काण्ड में कर्म की पर्याप्त निन्दा है। मुण्डक उपनिषद् (१।२।७) ने स्पष्ट शब्दों में यज्ञ-याग को अदृढ़ प्लव की संज्ञा दी है। जिस प्रकार कच्चे प्लव (घास-फूस का बना हुआ पार जाने का साधन) पर चढ़-कर नदी के पार नहीं जाया जा सकता, वह व्यक्ति नदी में डूब जाता है, उसी प्रकार यज्ञ को ही श्रेय माननेवाला व्यक्ति जरा-मृत्यु के चक्कर से कभी उद्धार नहीं पाता। संसार के चक्कर में पड़ा ही रहता है।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥

इस प्रकार मीमांसा के मत पर इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। फलतः पिछले युग के मीमांसकों ने मोक्ष को ही जीवन का उद्देश्य बनाया और इसके लिए आवश्यक माना गया कामनारहित अनुष्ठान का सम्पादन। निष्काम कर्म के प्रति मीमांसकों की आस्था के कारण यह व्यापक परिवर्तन सम्पन्न हुआ, ऐसा मानना अनुचित नहीं प्रतीत होता।

ईश्वर तत्त्व

ईश्वर के विषय में मीमांसा का सिद्धान्त क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना है कि प्राचीन मीमांसा के आचार्यों का मत ईश्वर के निरास की ओर होने पर भी उन्होंने जान-बूझकर तटस्थता स्वीकार की है। उनका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि वे ईश्वर को अपने दार्शनिक तथ्यों की सिद्धि के लिए आवश्यक नहीं समझते। न्याय-दर्शन ईश्वर की अनुमान के द्वारा सिद्धि बतलाता है। जगत् का कर्ता होने से ईश्वर की सिद्धि मानी जाती है, परन्तु मीमांसा को जगत् के स्रष्टा की आवश्यकता ही नहीं है। जगत् तो प्रवाह रूपेण नित्य है, अनादि है। तब जगत् के उदय के लिए ईश्वर की आवश्यकता है क्या? दूसरा आधार ईश्वर की सत्ता के लिए है वेद के कर्तारूप में उसकी मान्यता, परन्तु मीमांसा के मत में वेद स्वतो नित्य है, किसीकी कृति या रचना नहीं है। ऐसी दशा में ईश्वर क्यों माना जाय? तीसरा अवलम्ब ईश्वर की सत्ता का है—फल के दाता या नियन्ता के रूप में ईश्वर की स्वीकृति। परन्तु मीमांसा नितान्त कर्मवादी है। वह कर्मों का फल कर्मों के द्वारा निष्पन्न मानती है। कर्म तथा फल के बीच में 'अपूर्व' का माध्यम वह अंगीकार करती है, जिससे फल की प्राप्ति कर्म करनेवाले को होती है। तब ईश्वर क्यों मानें? इसलिए कर्म की श्रेष्ठता पर आस्था रखनेवाली मीमांसा यदि ईश्वर की सत्ता के विषय में तटस्थ वृत्ति धारण करती है, तो हमें आश्चर्य ही क्यों?

कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में 'सर्वज्ञ' का खण्डन किया है। इसे ही विद्वान लोग ईश्वर का खण्डन मानते हैं, परन्तु कुमारिल का उद्देश्य बुद्ध तथा

महावीर के सर्वज्ञत्व के खण्डन की ओर भी है। जो कुछ हो, कुमारिल ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करते हुए नहीं पाये जाते।

प्रभाकर के अनुयायियों के मत का संकेत नन्दीश्वर-कृत 'प्रभाकर विजय' नामक मीमांसा-ग्रन्थ में मिलता है। पाठक जानते हैं कि वेदान्तमत में ईश्वर श्रुति-वाक्यों के द्वारा सिद्ध किया जाता है (शब्द प्रमाण) और न्याय-दर्शन में अनुमान द्वारा (अनुमान प्रमाण)। 'प्रभाकर विजय' में आनुमानिक (अनुमान सिद्ध) ईश्वर का खण्डन अवश्यमेव किया गया है, किन्तु श्रौत ईश्वर का अंगीकार गौणवृत्या विद्यमान है। इससे प्रतीत होता है कि प्रभाकर भी उस ईश्वर के मानने के पक्ष में हैं, जो श्रुति-मूलक वाक्यों के द्वारा प्रमाणित किया जाता है, अनुमानजन्य ईश्वर को नहीं। प्राचीन मीमांसा का मत निरीश्वरवादी ही प्रतीत होता है, परन्तु पिछले मीमांसकों को यह बात खटकी और इन्होंने ही ईश्वर को कर्मफल के समर्पण के लिए आवश्यक समझकर स्वीकार कर लिया। इनका मत है कि कर्मफल को ईश्वर को समर्पण करनेवाला व्यक्ति मोक्ष का भाजन होता है और इस प्रकार ईश्वर की मान्यता नव्य मीमांसा के ग्रन्थों में हमें देखने को मिलती है।

मोक्ष तथा उसके साधन

मोक्ष के विषय में प्रभाकर तथा कुमारिल दोनों आचार्यों के मत भिन्न-भिन्न हैं। प्रथमतः प्रभाकर के मत पर दृष्टिपात कीजिये।

सकल बुद्ध्यादि विशेषगुण विलये सति आत्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्षः।

—प्रभाकरमतम्

आत्मा में ज्ञान, सुख-दुःख आदि अनेक विशेष गुण विद्यमान रहते हैं। जब इन विशेष गुणों का नाश सम्पन्न हो जाता है, तब आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। यही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष की दशा में आत्मा को आनन्द का अनुभव नहीं होता। मीमांसा के मत में चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है, वरन शरीर आदि के सम्पर्क में आने पर ही उसे सुख-दुःख का अनुभव होता है। मोक्ष-दशा में आत्मा शरीरादिकों से

विच्छिन्न हो जाता है। फलतः साधन के अभाव में सुख का अनुभव उस समय नहीं हो सकता। तब उस दशा के लिए प्रयत्न ही क्यों किया जाय ? बात यह है कि इस दशा में सब दुःखों का सर्वथा नाश हो जाता है और आत्मा सुख-दुःख से परे अपने विशुद्ध रूप में विद्यमान हो जाता है। यही मुक्त दशा है, जो आनन्दमय न होने पर भी वाञ्छनीय है। इस कल्पना पर कुमारिल की आलोचना यह है—यदि सुख का विलय यानी नाश हो जाता है मुक्त दशा में, तो वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता। समस्त प्राणी सुख के लिए ही लालायित रहते हैं और उसीकी प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की चेष्टा तथा व्यापार किया करते हैं। जब सुख ही की उपलब्धि नहीं, तब यह तो अपुरुषार्थ हुआ। इसलिए कुमारिल अपनी कल्पना को अग्रसर करते हैं। उनकी सम्मति में मोक्ष क्या है—

दुःखात्यन्त समुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्ति रुक्ता कुमारिलैः॥

—मानमेयोदय, पृ० २१२

—दुःख के अत्यन्त नाश हो जाने पर आत्मा में पहले से विद्यमान होनेवाले सुख का जब मन के द्वारा उपभोग या अनुभव किया जाता है, वही मुक्ति है। इस विवरण से स्पष्ट है कि कुमारिल मुक्तावस्था में आनन्द की अनुभूति मानते हैं, जबकि प्रभाकर मुक्त दशा में दुःख के समान सुख का भी सर्वथा उच्छेद मानते हैं। कुमारिल की आनन्दमयी मुक्ति की कल्पना वेदान्तियों की कल्पना के समान है। प्रभाकर की सुखोच्छेदमयी मुक्ति नैयायिक कल्पना के सदृश है।

मुक्ति के साधनों के विचार के अवसर पर कर्म के भेद से परिचय पाना नितान्त आवश्यक है। कर्म के अनेक प्रकार हैं—

(क) **काम्य कर्म**, जो किसी कामना या इच्छा की पूर्ति के लिए विहित किया जाता है।

(ख) **निषिद्ध कर्म**, जो निन्दनीय होने के कारण सर्वथा वर्जित किया जाता है।

(ग) **नित्य कर्म**, जिनका अनुष्ठान सर्वदा करना चाहिए। करने से विशेष फल नहीं होता, परन्तु न करने से प्रत्यवाय होता है, जैसे सन्ध्या-

वन्दन। द्विज का धर्म है कि वह सन्ध्या-वन्दन किया करे। यदि करता है, तो कोई विशिष्ट फल इससे उत्पन्न नहीं होता। परन्तु यदि नहीं करता, तो निश्चित रूप से उसे पाप का भागी होना पड़ता है।

(घ) **नैमित्तिक कर्म**—किसी निमित्त को लक्ष्य कर किया जानेवाला कर्म। जैसे संक्रान्ति के अवसर का स्नान-दान। संक्रान्ति का पर्व पुण्यदायक माना जाता है। अतएव उसे लक्ष्य कर किया गया कर्म नैमित्तिक कहलाता है।

(ङ) **प्रारब्ध कर्म**—वह कर्म, जिसने अपना फल देना आरम्भ कर दिया है। अन्य कर्मों के नाश होने के अनेक उपाय या साधन बतलाये गए हैं, परन्तु प्रारब्ध कर्म के लिए यह बात नहीं। इसका तो नियम है—**प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः** अर्थात् प्रारब्ध कर्मों का क्षय तभी होता है जब उन्हें भोग लिया जाता है। इससे बिना भोग के किसी दूसरे उपाय से छुटकारा मिलना एकदम असंभव है।

अब मुक्ति की प्रक्रिया को समझना चाहिए। निषिद्ध तथा काम्य कर्मों से चित्त को अच्छी तरह से पहले हटा लेना चाहिए। इसके अनन्तर नित्य, नैमित्तिक तथा प्रायश्चित्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, जिससे प्राणी के समस्त पातक ध्वस्त हो जायं। दुःख तथा सुख की अनुभूति से प्रारब्ध कर्म को क्षीण कर देना चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए तथा शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि शोभन गुणों का सम्पादन करना चाहिए। वेदान्त के द्वारा प्रदर्शित मार्ग से आत्मा की मीमांसा करनी चाहिए। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन—आत्म-साधना के ये तीन उपाय वेदान्त में बहुशः वर्णित हैं। इन्हीं उपायों का अवलम्बन कर आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए। तब आनन्द देनेवाली मुक्ति प्राप्त होती है—

कुर्वाणस्यात्ममीमांसां वेदान्तोक्तेन वर्त्मना।
मुक्तिः सम्पद्यते सद्यो नित्यानन्दप्रकाशिनी॥

—मानमेयोदय, पृ० २१३

यह स्पष्ट ही 'कर्म-ज्ञान-समुच्चयवाद' है। कर्म के अनुष्ठान से मनुष्य पाप से निवृत्त, प्रारब्ध-कर्म के भोग से शान्त तथा शम-दम के अभ्यास से पूर्ण मुमुक्षु बनता है। तब ज्ञान के द्वारा आत्मा के स्वरूप को भली-भांति जान-

कर जीव अपने आनन्दमय रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। मुक्ति की यही प्रक्रिया सामान्यतः मीमांसकों को अभीष्ट है। इसलिए मीमांसकों को केवल कर्मी या शुष्क कर्मवादी कहना उचित नहीं है। वे वेदान्तियों के समान ही आत्मज्ञान के भी पक्षपाती हैं और ज्ञान को भी कर्म के साथ-ही-साथ मुक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं।

: ६ :

वेदान्त

भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों में वेदान्त शीर्षस्थानीय माना जाता है। यह भारतीय दर्शन के मन्दिर का जगमगाता कलश है। 'वेदान्त' शब्द का अर्थ है वेद का अन्त या सिद्धान्त। इस शब्द का प्रयोग उपनिषदों में ही किया गया है। **वेदान्त विज्ञानसुनिश्चितार्थाः** (मुण्डक ३।२।६), **वेदान्ते परमं गुह्यम्** (श्वेताश्वतर ६।२२); **यः वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः** (महानारायण १०।८)। इस प्रकार 'वेदान्त' शब्दकी प्राचीनता स्पष्टतः सिद्ध है।

'वेदान्त' के अनेक अवान्तर सम्प्रदाय हैं। यह दर्शन उपनिषदों के सिद्धान्तों पर पूर्णतया आश्रित है। उपनिषदों के सिद्धान्तों में एकवाक्यता तथा समरसता लाने के अभिप्राय से 'ब्रह्मसूत्रों' का प्रणयन बादरायण व्यास ने किया। इन्हीं ब्रह्मसूत्रों के भाष्य के रूप में वेदान्त के नाना सम्प्रदायों का तथ्य अन्तर्निहित माना जाता है। वेदान्त के मुख्य सम्प्रदाय हैं—१. अद्वैत २. विशिष्टाद्वैत, ३. द्वैत, ४. अचिन्त्य भेदाभेद, ५. द्वैताद्वैत, ६. शुद्धाद्वैत। इनमें अद्वैत वेदान्त की प्रधानता है। यहां इस सम्प्रदाय का विशेष वर्णन किया गया है। वेदान्त के इतर सम्प्रदायों का परिचय अगले खण्ड में पृथक् रूप से दिया जायगा।

साहित्य

अद्वैत वेदान्त का साहित्य परिणाम तथा पाण्डित्य की दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण है। यहां हम अद्वैत वेदान्त-संबंधी साहित्य के प्रणेता प्रमुख आचार्यों और उनके ग्रंथों का संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं। अद्वैत वेदान्त के

आचार्यों में शंकराचार्य का स्थान गौरव तथा गरिमा से मण्डित है। उनके पूर्ववर्ती आचार्यों में गौडपाद का स्थान तथा नाम महनीय है। इन्होंने मण्डूक उपनिषद के ऊपर जो कारिकाबद्ध भाष्य लिखा है, वह अद्वैत वेदान्त का मूल स्रोत माना जाता है तथा 'माण्डूक्य कारिका' के नाम से प्रख्यात है। शंकराचार्य (सप्तम शती) की अलौकिक बुद्धि तथा व्यापक पाण्डित्य इतना विशाल है कि वह भगवान् शंकर के ही अवतार माने जाते हैं। उनके ग्रंथों में सर्व श्रेष्ठ हैं—उपनिषद्-भाष्य, ब्रह्मसूत्र-भाष्य तथा गीता-भाष्य। उन्होंने सामान्य जनता के ज्ञानवर्धन तथा कल्याण के लिए अनेक शास्त्रों की रचना की है, जो संस्कृतज्ञों की जिह्वा पर नाचते हैं। आचार्य के साक्षात् शिष्यों में सुरेश्वराचार्य और पद्मपादाचार्य ने अपने गुरु के ग्रंथों पर सरल भाष्यों का प्रणयन किया। इनमें सुरेश्वर 'वार्तिकाचार्य' के नाम से प्रख्यात हैं, क्योंकि उन्होंने आचार्य के बृहदारण्यक-भाष्य तथा तैत्तिरीय-भाष्य के ऊपर अपना वार्तिक लिखा है। इन्हींके शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि ने ब्रह्मसूत्रों के ऊपर 'संक्षेप शारीरक' नामक प्रख्यात पद्यबद्ध व्याख्या-ग्रंथ लिखा है।

वाचस्पति मिश्र (नवम शता) की 'भामती' पाण्डित्य का निकषग्रावा मानी जाती है, जिसमें ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य के ऊपर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की गई है। चित्सुखाचार्य (तेरहवीं शती) अपनी प्रधान कृति 'तत्त्व-दीपिका' (प्रसिद्ध नाम चित्सुखी) के कारण विख्यात हो गये हैं। विद्या-रण्य स्वामी ने शृंगेरी पीठ की गद्दी पर प्रतिष्ठित होकर अनेक सुलभ ग्रंथों की रचना की, जिसके कारण अद्वैत के सिद्धान्त विशेष लोकप्रिय हो गये। ऐसे ग्रंथों में 'पंचदशी' विशेष विख्यात है। इनके अन्य ग्रंथ हैं—जीवन्मुक्ति-विवेक, विवरण प्रमेयसंग्रह, बृहदारण्यक वार्तिक-सार आदि, जिनमें वेदान्त के रहस्यों का उद्घाटन बड़ी मार्मिकता से किया गया। अप्पयदीक्षित (पन्द्रहवीं शती) वेदान्त के एक अलौकिक विद्वान् ही न थे, प्रत्युत उच्च कोटि के साधक भी थे। उनकी रचनाओं में 'कल्पतरु परिमल' भामती की व्याख्या 'कल्प-तरु' (अमलानन्द-रचित) की टीका है तथा 'सिद्धान्तलेश' वेदान्त के विविध मतों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करता है। मधुसूदन सरस्वती सोलहवीं-सत्रहवीं शती में काशी के संन्यासियों में अग्रगण्य थे। इनका सर्वश्रेष्ठ

ग्रंथ है---'अद्वैतसिद्धि', जिसके द्वारा द्वैतवाद का प्रबल युक्ति से खण्डन कर अद्वैत तत्त्व की प्रभा का सर्वत्र विस्तार किया गया है। यह ग्रंथ पाण्डित्य की दृष्टि से श्रीहर्ष के 'खण्डन खण्ड खाद्य' का समकक्ष माना जाता है। नृसिंहाश्रम सरस्वती मधुसूदन के समकालीन ही काशीस्थ संन्यासी थे, जिनके वेदान्त-तत्त्व-विवेक, भेदधिक्कार आदि ग्रंथ इनकी कीर्ति को स्थायी बनाने में पर्याप्त माने जा सकते हैं। धर्मराजाध्वरीन्द्र (जो नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य और वेंकटनाथ के शिष्य थे) का लोकप्रिय ग्रंथ 'वेदान्त-परिभाषा' वेदान्त सम्मत प्रमाणामीमांसा के ऊपर नितान्त प्रामाणिक माना जाता है। सदानन्द का 'वेदान्तसार' थोड़े में अद्वैत के तत्त्वों का विवेचन करता है और वेदान्त के छात्रों के लिए सरल पाठ्य-ग्रंथ का काम करता है।

अद्वैतवाद की दृष्टि

अद्वैतवाद का मुख्य सिद्धान्त है कि इस जगत् में एक ही परम तत्त्व है, जिसको 'ब्रह्म' नाम से पुकारते हैं। उसे छोड़कर कोई भी दूसरी सत्ता विद्यमान नहीं है। यह मत आचार्य शंकर के ग्रंथों में बड़ी सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किया गया है। शंकराचार्य की दृष्टि बड़ी व्यापक और उदार थी। वह संकीर्णता से दूर थे और थे उदारता के प्रतीक। तभी तो वह द्वैतवाद से अपने अद्वैत सिद्धान्त को कथमपि विरुद्ध नहीं मानते। शंकराचार्य का यह कथन ध्यान देने योग्य है---

तेषां द्वैतिनां द्वैत दृष्टिः। अस्माकम् अद्वैत दृष्टिः। तैः अस्मदीयोऽयं वैदिकः सर्वानन्यत्वात् आत्मैकत्वदर्शनपक्षो न विरुध्यते यथा स्वहस्त पादादिभिः।

—माण्डूक्य कारिका-भाष्य, ३।१७-१८

तात्पर्य यह है कि अद्वैत दृष्टि में आत्मा की एकता या अद्वितीयता ही सर्वथा प्रतिपादित की जाती है। यह वैदिक सिद्धान्त सबसे अभिन्न होने के कारण किसीसे विरोध नहीं मानता। द्वैतवादियों के नाना सम्प्रदाय---- जैसे सांख्य, जैन, वैशेषिक, नैयायिक आदि—अद्वैतवाद की दृष्टि में अद्वैत के नाना अवयवों के समान हैं। जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपने हाथ-पैर, आंख-कान आदि अंगो से विरोध नहीं मानता, उसी प्रकार अद्वैत द्वैतवादियों से कथमपि विरोध नहीं मानता। शंकर की यह उदार दृष्टि बड़े

ही गौरव तथा महत्त्व से पूर्ण है।

मायावाद के विषय में भी शंकर के मत की बड़ी खिल्ली उड़ाई गई है। परन्तु शंकर का वास्तव मतवाद बड़ा ही सरल और सुबोध है। शंकर यह नहीं कहते कि विश्व माया है, प्रत्युत उनका कहना है कि यह जगत् ब्रह्म से अनन्य है। वह यह नहीं कहते कि जगत् ब्रह्म है; यह तो सर्वेश्वरवाद हो जायगा। और न यही कहते हैं कि जगत् का अस्तित्व नहीं है। उनका कहना है कि जैसे मिट्टी का पात्र—घड़ा, जलपात्र आदि—मिट्टी से अभिन्न है, वैसे ही जगत् ब्रह्म से अभिन्न है, विश्व का सार्वभौम नियम है कि जो वस्तु जिससे अपने रूप को प्राप्त करती है (आत्मलाभ), वह उससे अविभक्त देखी जाती है, जैसे मिट्टी से घड़ा। घड़ा मिट्टी से बना हुआ होता है और इसलिए वह मिट्टी से विभक्त नहीं रहता। ब्रह्म तथा जगत् के विषय में भी यही सिद्धान्त जागरूक है। यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। फलतः यह ब्रह्म से अविभक्त रहता है—

यस्य च यस्मादात्मलाभो भवति, स तेन अविभक्तो दृष्टः। यथा घटादीनि मृदा।

—बृहदारण्यक-भाष्य, ३।५

एक दूसरा दृष्टान्त लीजिये, इस अभिन्नता के विषय में, समुद्र तथा तरंग का। समुद्र से फेन, लहर, तरंग, बुद्बुद आदि नाना वस्तुएं समय-समय पर उत्पन्न होती रहती हैं। इनके पारस्परिक भेद हैं। फेन और लहर का आपस में भेद इतना स्पष्ट है कि इसे विशेष रूप से बतलाने की आवश्यकता नहीं। परन्तु परस्पर-विरोधी होने पर भी ये दोनों अपने कारण-भूत समुद्र से कथमपि भिन्न तथा विरुद्ध नहीं होते। यही दशा जगत् तथा ब्रह्म की है। जगत् के पदार्थ आपस में भिन्न अवश्य हैं; घड़ा कपड़ा एक नहीं और न कलम-पेन्सिल एक है। ये सब पदार्थ ब्रह्म से, जो इनकी कारणभूत सत्ता है, कथमपि भिन्न, विभक्त या विरुद्ध नहीं हो सकते। आचार्य शंकर के वचन इस विषय में स्पष्ट तथा रोचक हैं—

न च समुद्रात् उदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेन तरङ्गादीनाम् इतरेतरभावापत्तिर्भवति। न च तेषाम् इतरेतरभा वानापत्तावपि

समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति ।।

—शांकर-भाष्य, ब्रह्मसूत्र, २।१।१३

इसी प्रकार सोने का गहना सोना ही है और एक चिनगारी अग्नि ही है । कार्य रूप में दिखाई पड़ने पर भी कारण के अस्तित्व का लोप नहीं हो जाता । कार्य की आपेक्षिक वास्तविकता है और कारण की निरपेक्ष वास्तविकता है । इस तथ्य का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता । गौ सदा ही गौ है, प्रत्येक दशा में वह गौ ही होती है, चाहे वह खड़ी हो या बैठी रहे । क्या गौ खड़ी या बैठी रहने पर ही गौ रहती है और सोते समय घोड़ा या कोई दूसरा पशु बन जाती है ? नहीं, कभी नहीं, वह हमेशा गौ ही है—

नहि लोके गौः तिष्ठन् गच्छन् वा गौर्भवति । शयानस्तु अश्वादि जात्यन्तरम् ।

—बृहदारण्यक-भाष्य, २।१।२०

ब्रह्म की भी यही दशा है । सब प्रत्येक दशा में ब्रह्म ही रहता है, चाहे वह मनुष्य पशु आदि जगत् के कार्य रूपों में भले ही वर्तमान रहे । शंकर का ठीक ही कहना है कि यह सब भावना का खेल है । जब आप किसी लकड़ी के बने हाथी में हाथी की भावना करते हैं, तब आपकी चेतना से लकड़ी का लोप हो जाता है, परन्तु लकड़ी का अस्तित्व तो बराबर बना ही रहता है । जब आप उसमें लकड़ी की भावना करते हैं, तब हाथी गायब हो जाता है, परन्तु लकड़ी वहां बराबर मौजूद रहती है, सदा रही है और सदा रहेगी । जगत् और परमात्मा के सम्बन्ध के विषय में भी यह दृष्टान्त बड़ा ही समर्थक तथा उपयुक्त है ।

दन्तिनि दारुविकारे दारु तिरोभवति सोऽपि सर्वत्र ।
जगति तथा परमात्मा परमात्मन्यपि जगत् विरोधत्ते ।।

श्रुति जगत् की सत्ता को न स्वीकार करती है और न अस्वीकार करती है । वह जगत् को 'अनिर्वचनीय' मानती है । आचार्य शंकर 'माया' के लिए भी इसी विशेषण का प्रयोग करते हैं ।

अहो अति गम्भीरा दुरवगाह्या विचित्र माया चेयम् ।

—कठ-भाष्य, १।३।१२

—अर्थात् यह माया अत्यन्त गहन, दुस्तर एवं विलक्षण है। जगत् न तो असत् है और न सत्। यह एक आश्रित और आपेक्षिक सत्य है, क्योंकि ब्रह्म की अनुभूति करनेवाले व्यक्ति की दृष्टि में यह बाधित हो जाता है। ब्रह्म ही इस आपेक्षिक सत्य का कारण है, आधार है और पोषक है।

जगत् के पदार्थों में पांच अंशवाला अनुभव होता है—अस्ति, भाति, प्रियं, नाम तथा रूप। हमारे सामने पुस्तक पड़ी हुई है। वह विद्यमान है (अस्ति); वह प्रकाशित हो रही है; वह हमारे ज्ञान का विषय है (भाति); उसे देखकर मुझे आनन्द मिल रहा है; उसे पढ़ने से नाना चमत्कारी विषयों की उपलब्धि होने से चित्त मेरा खिल उठता है (प्रियम्); उस वस्तु का एक नाम है—पुस्तक (नाम) और उसका एक निश्चित रूप है—वह काग़ज़ के ऊपर स्याही में छपी एक आकार धारण करती है। यह है उसका रूप। इन पांचों में से प्रथम तीन तो ब्रह्म के रूप हैं—अस्ति (सत्), भाति (चित्) प्रियम् (आनन्द), क्योंकि ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है। अन्तिम दो—नाम और रूप—जगत् के रूप हैं। जगत् के पदार्थों में हमारी यह अनुभूति उभय रूप के मिश्रण का परिणत फल है।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

जगत् की अनुभूति का आधार ब्रह्म है। वही इसका अधिष्ठान ठहरा। उसके बिना इसकी अनुभूति उसी प्रकार असिद्ध है, जिस प्रकार दीवार के बिना चित्र, समुद्र के बिना तरंग, सुवर्ण के बिना अंगूठी। यह जगत् ब्रह्म के ऊपर अध्यस्त होकर ही अपनी सत्ता बनाये हुए रहता है। आधार की सत्ता निरपेक्ष है और आधेय (जगत्) की सत्ता सापेक्षिक है।

व्यवहार दशा में प्रत्येक जीवात्मा दूसरे जीवात्मा से उसी तरह भिन्न है, जैसे जड़ प्रकृति का प्रत्येक अणु दूसरे से भिन्न है। किन्तु जैसे जड़ प्रकृति के प्रत्येक अणु की सत्ता केवल अभिन्न ब्रह्म से है, उसी प्रकार प्रत्येक जीव का अस्तित्व केवल ब्रह्म को लेकर है। मन, इन्द्रिय और शरीर जीव की उपाधियां हैं। यही जीवात्मा पंचकोशों के साथ तादात्म्य स्थापित कर अपनेको कर्ता तथा भोक्ता समझने लगता है, जिससे उसका वास्तव रूप, जो ब्रह्म से अभिन्न है, छिप जाता है। इसी अध्यास के कारण उसे सुख तथा दुःख

का अनुभव होता है। सुख-दुःख तो वास्तव में प्रकृति के राज्य की वस्तुएं हैं, इसकी सूचना गीता देती है जब वह इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति को भी महाभूतों के साथ 'क्षेत्र' की कोटि में रखती है। केवल जीव को 'क्षेत्रज्ञ' मानती है। जीव ब्रह्म से भिन्न वस्तु नहीं है। अगर जीव अपनेको आवरणों से मुक्त कर ले तो जो कुछ बच जाता है, वह शून्य नहीं होता; अभाव नहीं होता, अपितु ब्रह्म ही होता है, जो शुद्ध चैतन्य, शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप, शुद्ध और अनन्त सत्य एवं ज्ञान है। वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है। मन और ज्ञानेन्द्रियां नाम-रूप की विविधता के हेतु हैं। यदि हम खिड़की के बहुरंगी शीशों के भीतर से आकाश को देखें तो आकाश बहुरंगी नहीं हो जाता, प्रत्युत वह उसी प्रकार सदैव अपनी अनन्त नीलिमा बनाये रहता है। इसी प्रकार नाम-रूप की उपाधियों से ब्रह्म विकार को प्राप्त नहीं करता, प्रत्युत वह अपनी विशुद्ध अवस्था सर्वदा बनाये रहता है।

तब अपने वास्तव रूप ब्रह्मत्व की सिद्धि तक पहुंचने का क्या उपाय है? श्री शंकर सदाचारमय जीवन तथा भगवद्-भक्ति पर जोर देते हैं। एकात्मता की सर्वोच्च अनुभूति का निकटतम मार्ग प्रेम है। प्रेम की सर्वोच्च दशा में प्रेमी को प्रेमपात्र से अपनी भिन्नता का बोध नहीं होता। इसी प्रकार भक्ति में भी ईश्वर से हमारी भिन्न सत्ता के बोध का सर्वथा लोप हो जाता है। जिस अविद्या के कारण हमारी भिन्न सत्ता की बुद्धि उत्पन्न हुई है, वह विद्या से दूर हो जाती है। बन्धन और मुक्ति दोनों के साधन एक-दूसरे का बाध कर देते हैं और शुद्ध ब्रह्म का अपरिमेय और अनन्त आनन्द-मात्र रह जाता है। आचार्य शंकर का कथन है कि जीव परमात्मा का ही अंश है, किन्तु उसका ज्ञान और ऐश्वर्य छिपा रहता है—

जीवः परमात्मांश एव सन् तिरोहित ज्ञानैश्वर्यो भवति।

जीव तथा परमात्मा के विषय में शंकराचार्य का यह कथन कितना युक्ति-युक्त है—"तो क्या जीव ईश्वर का समानधर्मी नहीं है? नहीं है, सो बात नहीं है। अविद्या आदि के व्यवधान से यह समानधर्मिता रहने पर भी छिपी रहती है। यह छिपी हुई समानधर्मिता ईश्वर के ध्यानपूर्वक यत्न करनेवाले किसी विरले व्यक्ति में, जिसका हृदयान्धकार ईश्वर की कृपा से दूर हो जाता है और जिसे अपने प्रयत्न में सिद्धि प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्रकट

होती है जैसे औषध के प्रयोग से अन्धे को दृष्टि मिल जाती है। परन्तु स्वभावतः सभी जीवों को ऐसा नहीं होता।"[1]

तथ्य यह है कि आत्मा में असीम सामर्थ्य है। यदि हमारे प्रयत्न से इसे उद्‌बुद्ध किया जा सके, तो यह सामर्थ्य हमारी वासनाओं के बन्धन को तोड़कर बाहर आ जायगी वैसे ही, जैसे अग्नि की शिखा चारों ओर फैले हुए धुएं को भेदकर ऊपर आ जाती है और शीघ्र ही धुएं का स्थान अग्नि ले लेती है। गीता में उच्चतर प्रयत्न या संसिद्धि का क्रम इस प्रकार है—निष्काम कर्म, ध्यान-योग, भक्ति और ज्ञान। याद रखना चाहिए कि अद्वैती का जीवन अकर्मण्यता, आरामतलबी या भाग्य के भरोसे बैठे रहने का जीवन नहीं है; वरन कठोर साधना का जीवन है—जो साधना सर्वोच्च अनुभूति की सिद्धि तक लगातार चलती रहती है।

शंकर के मत में ईश्वर ही जगत् का कर्ता, भर्ता और संहर्ता है और वही कर्मानुसार जीवों को पुरस्कार या दण्ड देता है—

स हि सर्वाध्यक्षः सृष्टिस्थिति संहारान् विचित्रान् विदधत् देशकाल-विशेषाभिज्ञत्वात् कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं सम्पादयतीत्युच्यते।

—ब्रह्मसूत्र-भाष्य, ३।२।३८

शंकर ईश्वर की सत्ता मानते ही हैं, यद्यपि इसे वह कहीं 'अविद्या-कल्पित' भी मानते हैं। एक प्रख्यात श्लोक इस तत्त्व का द्योतक है—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

—ब्रह्मसूत्र-भाष्य, ३।३।१

—अर्थात् ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, निष्कल तथा अशरीरी वास्तव में है, परन्तु उपासकों की उपासना के लिए उसीके रूप की कल्पना की जाती है। आशय यह है कि ईश्वर अविद्या की कल्पना है। उन्होंने स्पष्टतः लिखा है कि ब्रह्म का केवल एक ही रूप होता है।

परन्तु उपनिषदों के समान शंकर भी ब्रह्म के दो रूप मानते हैं—एक वह जो नाम, रूप, विकार तथा भेदरूप उपाधियों से युक्त है और दूसरा वह, जो सब प्रकार की उपाधियों से रहित है।

[1]ब्रह्मसूत्र-भाष्य, ३।२।५

द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते—नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्-विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।

—ब्रह्मसूत्र-भाष्य, १।१

उपनिषद् बारंबार घोषणा करते हैं कि ब्रह्म मूर्त तथा अमूर्त दोनों हैं। वे ईश्वर की सत्ता का उतने ही प्रबल रूप से उद्घोषित करते हैं, जितने जोर से वे निर्गुण अथवा निराकार ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

अद्वैत वेदान्त के ये ही मूल तत्त्व हैं। उसकी दृष्टि नितान्त व्यापक है। अब इन्हीं तत्त्वों का कुछ विस्तार से प्रतिपादन किया जा रहा है।

माया क्या है ?

माया का स्वरूप जानने के लिए आचार्य शंकर ने अनेक दृष्टान्तों की उद्भावना की है। यह जगत् इस समय सृष्टिकाल में नाम-रूपात्मक व्यक्त रूप में है, परन्तु इसकी एक पूर्वावस्था भी होती है, जो अव्यक्त रूप में रहती है और वही 'माया' है। यह पूर्वावस्था सांख्य-मत में भी स्वीकृत की गई है और वही 'प्रधान', 'अव्यक्त', 'मूल प्रकृति' आदि नाना शब्दों के द्वारा व्यवहृत की गई है। परन्तु वेदान्तियों की 'माया' सांख्य की 'प्रकृति' नहीं है। सांख्य-दर्शन 'प्रकृति' को 'पुरुष' के समकक्ष एक स्वतन्त्र तत्त्व मानता है और कहता है कि 'प्रकृति' स्वतः, बिना किसी दूसरे के द्वारा नियन्त्रित की गई, स्वतन्त्र रूप से जगत् का परिणाम सिद्ध करती है। परन्तु अद्वैत वेदान्त यह बात नहीं मानता। आचार्य शंकर का इस विषय में कथन है—

जगत् की प्रागवस्था को अद्वैत वेदान्ती अवश्य मानता है, परन्तु वह उसे परमेश्वर के आधीन मानता है, स्वतन्त्र नहीं। इस अवस्था का मानना नितान्त आवश्यक है। इसका प्रयोजन है, क्योंकि इसके बिना परमेश्वर जगत् का स्रष्टा हो नहीं सकता। शक्ति से रहित होने से उसकी प्रवृत्ति कथमपि उत्पन्न नहीं होती।[1]

तात्पर्य यह है कि माया परमेश्वर की शक्ति है। जिस प्रकार शक्ति के द्वारा ही शक्तिमान् अपने कार्य में प्रवृत्ति लाभ करता है, उसी प्रकार

---

[1] ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य, १।४।३

माया के द्वारा ही परमेश्वर सृष्टि के कार्य में प्रवृत्त होता है। वट के दाने में जिस प्रकार वट वृक्ष की शक्ति वर्तमान रहती है, उसी प्रकार यह 'अव्यक्त' नाम से उल्लिखित वस्तु भी परमात्मा में शक्ति के समान ओत-प्रोत रूप से विद्यमान रहती है—

वट कणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः।

—कठ-भाष्य, १।३।११

शंकराचार्य माया तथा अविद्या को पर्यायवाची शब्द मानते हैं। अर्थात् 'माया' ही 'अविद्या' शब्द के द्वारा भी अभिहित की जाती है। शंकराचार्य का यह कथन सारगर्भित है—

अविद्यात्मिका ही बीजशक्तिः अव्यक्त शब्द निर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः, यस्यां स्वरूप प्रतिबोध-रहिताः शेरते संसारिणो जीवाः।

—ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य, १।४।३

तात्पर्य यह है कि अविद्या स्वरूप वह बीज की शक्ति है। अव्यक्त शब्द के द्वारा वह अभिहित की जाती है। वह परमेश्वर के आश्रय में रहती है और इस प्रकार वह सांख्यों की सत्य-स्वतन्त्र 'प्रधान' से विलक्षण है। वह प्रसिद्ध माया के समान है। जैसे लोक में माया मायावी के अधीन होती है, वैसे ही यह अविद्या परमेश्वर के अधीन है, परतन्त्र है और सांख्य-कल्पित 'प्रधान' के समान स्वतन्त्र नहीं है। यह महासुप्ति की अवस्था है, जिसमें स्वरूप ज्ञान से विरहित संसारी जीव सोते रहते हैं। इस अव्यक्त की सत्ता उपनिषद् के नाना वचनों से प्रमाणित होती है, जो इसे अनेक नामों के द्वारा अभिहित करता है। यह अव्यक्त 'आकाश' कहा गया है—

"एतस्मिन्नेव खल्वक्षरे गार्ग्य आकाश ओतश्च प्रोतश्च।"

—बृहदारण्यक, ३।८।११

इसका कारण यह है कि आकाश होता है अनवच्छिन्न वस्तु, किसीके द्वारा सीमित नहीं किया गया पदार्थ। यह 'अव्यक्त' भी ऐसा ही अनवच्छिन्न है। मुण्डक (२।१।२) के अनुसार यही 'अक्षर' भी कहा गया है, क्योंकि बिना तत्त्व-ज्ञान के इसकी निवृत्ति कथमपि नहीं होती। विचित्र कार्य करने के कारण इसीका नाम 'माया' है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् ।

—श्वेताश्वतर, ४।१०

माया को अव्यक्त कहने का कारण यह है कि यह ब्रह्म से अभिन्न है या भिन्न, इसका निरूपण नहीं किया जा सकता ।

अव्यक्ता हि सा माया । तत्त्वान्यत्व निरूपणाशक्यत्वात् ।

—ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य, १।४।३

इसी कारण यह 'अनिर्वचनीय' पद के द्वारा अभिहित की जाती है। माया 'परिणामी नित्य' है और ब्रह्म 'कूटस्थ नित्य' है। यही ब्रह्म का ऐश्वर्य है और इसीके संयोग को पाकर ब्रह्म 'ईश्वर' या 'महेश्वर' हो जाता है। 'मायिनं तु महेश्वरम्' में इसी तथ्य की ओर संकेत है। पूर्वोक्त उद्धरण में श्री शंकर ने इसे 'अविद्या' के द्वारा ही संकेतित किया है, परन्तु यह हमारी व्यष्टि अविद्या या अध्यास से सर्वथा भिन्न है। व्यष्टि अविद्या का विद्या से बाध हो सकता है; परन्तु समष्टि अविद्या या माया ब्रह्म की शक्ति है और व्यष्टि विद्या से इसका बाध या निराकरण नहीं किया जा सकता। यदि एक वामदेव या शुकदेव की मुक्ति विद्या के बल पर हो गई तो इसका अर्थ यह नहीं है कि संसार का अभाव हो गया। संसार तो वैसे ही बना रहेगा, जैसा वह वामदेव की बद्धावस्था में था। मूल अविद्या या माया का अस्तित्व फिर भी बना रहता है और बना ही रहेगा। माया भावरूपा है, असत् या अभावरूपा नहीं है। यह हमारी कल्पना का वस्तु अथवा मिथ्या नहीं है। यह जगत् का उपादान कारण है। जिस प्रकार मृत्तिका घट का उपादान कारण है, माया भी उसी प्रकार जगत् का उपादान कारण है।

माया की शक्तियां

माया की शक्तियां कितनी हैं? और अपना कार्य कैसे सिद्ध करती हैं? इसे ठीक ढंग से समझने के लिए जादूगर का उदाहरण लेना चाहिए। सामने एक जादूगर बैठा है। उसका हाथ बिल्कुल खाली है। उसकी हथेली के ऊपर एक तिनका भी नहीं दिखलाई पड़ता। पहला काम जो वह करता है, यह है कि वह दर्शकों की दृष्टि के ऊपर पर्दा डाल देता है, जिससे असली चीज़ उनकी आंखों से ओझल हो जाती है। हाथ का असली रूप उन्हें नहीं दीख पड़ता। इसे ही साधारण लोग जादूगर का 'आंख बांधना' कहते

हैं। इसके अनन्तर लोग अचरजभरे नेत्रों से देखते हैं कि जादूगर की हथेली से खनखनाते हुए सिक्के—रुपया, अठन्नी, चवन्नी आदि—जमीन पर एक के बाद एक गिरने लगते हैं। देखते-ही-देखते उसके सामने सिक्कों की एक चमकती राशि लोगों के चित्त को आश्चर्य में डाल देती है और वे समझने लगते हैं कि इस जादूगर ने अपनी बंधी हथेली में से इतने रुपये पैदा कर दिये। यहां जादूगर ने दो काम किये—१. पहले तो उसने लोगों की आंखों पर ऐसा पर्दा डाल दिया कि असली वस्तु उनसे छिप गई और २. दूसरी बात यह कि उसने रुपयों की इतनी बड़ी राशि उत्पन्न कर दी।

माया की भी ठीक ऐसी ही दो शक्तियां हैं—१. आवरण शक्ति और २. विक्षेपशक्ति। पहली शक्ति के द्वारा वस्तु को वास्तविक रूप तिरोहित कर दिया जाता है और दूसरी के द्वारा एक नई चीज वहां उत्पन्न कर दी जाती है। माया ब्रह्म के वास्तविक रूप को ढंक देती है (आवरण) और फिर उसमें अवकाश, पृथ्वी आदि नाना पदार्थों का आरोप कर देती है (विक्षेप)। जिस प्रकार मेघ का एक छोटा-सा टुकड़ा दर्शकों के नेत्रों को ढंक लेने के कारण अनेक योजन-विस्तृत आदित्य मण्डल को ढंकता मालूम होता है, उसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान अनुभवकर्ताओं की बुद्धि को ढंक देने के कारण अपरिच्छिन्न आत्मा को आच्छादित-सा कर देता है। इस शक्ति का नाम है—'आवरण' और जब माया ब्रह्म में जगत् के प्रपंच को उत्पन्न करती है, तब 'विक्षेप शक्ति' का कार्य चलता है। इन दोनों शब्दों के अर्थ पर ध्यान दीजिये। 'आवरण' का अर्थ है ढंक देना, असली स्वरूप पर पर्दा डाल देना। 'विक्षेप' का अर्थ है उस वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप कर देना। माया इन्हीं शक्तियों से अपना कार्य सिद्ध करती है। वास्तव में ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, परन्तु प्रतीत होता है कि यह विराट विश्व उससे उत्पन्न होकर हमारे नेत्रों को आकृष्ट करता है। यहां वस्तुतः एक ही सत्ता है और वह ब्रह्म है। परन्तु यह विचित्र संसार यहां दृष्टिगोचर होता है। माण्डूक्य कारिका में विक्षेप का बड़ा सुन्दर वर्णन निम्न कारिका में किया गया है—

यं भावं दर्शयेत् यस्य तं भावं स तु पश्यति।

तं चावति स भूत्वासौ तद्ग्रहः समुपैतितम् ॥

—माण्डूक्य कारिका, २।२९

आशय है कि गुरु उसे जो भाव दिखला देता है, उसे ही वह आत्म-स्वरूप में देखने लगता है और उसका अभिनिवेश भी उसे उसमें होने लगता है। है यह सब माया का ही खेल।

माया और अविद्या

किन्हीं वेदान्ताचार्यों ने अपने ग्रन्थों में अविद्या तथा माया में भेद दिखलाया है और उन्हें वे भिन्न-भिन्न मानते हैं। विद्यारण्य स्वामी ने अपने प्रख्यात वेदान्त-ग्रन्थ 'पंचदशी' में दोनों में भिन्नता दिखलाई है—

सत्वशुद्धचविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्या च ते मते
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः
अविद्यावशगस्त्वन्यः तद्वैचित्र्यादनेकधा ॥

भाव यह है कि सत्त्व की शुद्धि और अविशुद्धि के कारण माया और अविद्या दो परस्पर-भिन्न पदार्थ कहे गए हैं। अर्थात् शुद्ध सत्त्व प्रधान माया होती है और अविद्या मलिन सत्त्वप्रधान कही जाती है। जीव और ईश्वर में जो भेद है, वह भी इन्हींकी उपाधि के कारण है। 'माया' में प्रति-बिम्बित चेतन माया को वश में करके विद्यमान रहता है और तब यह ईश्वर कहलाता है। अविद्या के वश में रहनेवाला वह चेतन 'जीव' कहा जाता है। इस प्रकार विद्यारण्य की सम्मति में अविद्या माया से भिन्न पदार्थ है। कहीं-कहीं दोनों का लक्षण इस प्रकार दिखलाया गया है—

स्वाश्रयम् अव्यामोहयन्ती कर्तुरिच्छामनुसरती माया। तद्विपरीता अविद्या।

—अर्थात् अपने आश्रय को भ्रान्त नहीं करती हुई कर्ता की इच्छा का अनुसरण करनेवाली माया है। अविद्या इससे विपरीत है। इन लक्षणों में माया और अविद्या में भेद प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में दोनों एक ही पदार्थ हैं। कारण स्पष्ट है। अनिर्वचनीय होना, तत्त्व-प्रतीति का प्रति-बन्धक होना तथा विपरीत ज्ञान का अवभासक होना—ये तीनों लक्षण माया और अविद्या में समान रूप से पाये जाते हैं। इसलिए दोनों को एक ही पदार्थ मानना न्यायसंगत है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में दोनों का ऐक्य

प्रतिपादित किया गया है। **'भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः'** का अर्थ है कि ज्ञान के द्वारा माया की निवृत्ति हो जाती है। यहां ज्ञान के द्वारा निवृत्त होनेवाली अविद्या के लिए ही माया शब्द का व्यवहार किया गया है। फलतः श्रुति की दृष्टि में दोनों एक ही अभिन्न पदार्थ हैं, यही मानना उचित है। स्मृति में भी दोनों की एकता सिद्ध मानी गई है—

तरत्य विद्यां वितथां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाम् अमेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥

श्लोक का आशय है कि भगवान् विद्यारूप हैं। उनके हृदय में निविष्ट होने पर योगी मिथ्या अविद्या माया को पार कर लेता है। यहां माया और अविद्या का एकत्वेन स्पष्ट व्यवहार किया गया है। आचार्य शंकर के पूर्वोक्त प्रतिपादन में भी यही एकता उद्भासित होती है। इस प्रकार वेदान्त ग्रन्थों में औपाधिक भेद मानने पर भी माया तथा अविद्या एक ही अभिन्न तत्त्व हैं। तथ्य तो यह है कि एक ही पदार्थ वेदान्त के ग्रन्थों में प्रकृति, अज्ञान, माया तथा अविद्या शब्दों के द्वारा व्यवहृत किया जाता है। कार्य के वश से भिन्न-भिन्न नामों का व्यवहार किया गया है, वेदान्त में। जगत् का उपादान कारण होने से वह तत्त्व 'प्रकृति', विधान के विरोधी होने से 'अविद्या', ज्ञान के विरोधी होने से 'अज्ञान' तथा अघटित घटना में पटीयसी (चतुर) होने से 'माया' कहलाता है। **'अघटित घटना पटीयसी'** का तात्पर्य यह है कि जो बात घटने योग्य नहीं है, असम्भव है, उसका सम्पादन करने में माया समर्थ है और इसीलिए माया के लिए इस विशेषण का प्रयोग बहुलता से किया गया है। यह ब्रह्म की शक्ति है, जो एक होने पर भी त्रिगुणात्मिका है अर्थात् सत्त्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है और इसलिए यह 'प्रकृति' नाम से भी प्रख्यात है। जब उसमें रजोगुण और तमोगुण तिरोहित हो जाते हैं और सत्त्व गुण-प्रधान होता है, तब शुद्ध सत्त्व-प्रधान होने से वह 'माया' कहलाती है। जब सत्त्व गुण तिरोहित होता है और रजोगुण-तमोगुण की प्रबलता होती है, तब मलिन सत्त्व-प्रधान होने पर वही 'अविद्या' कही जाती है। विद्यारण्य का यह मत आरम्भ में ही ऊपर दिया गया है। इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि अवस्था-भेद से औपाधिक भेद होने पर भी वास्तव में माया और अविद्या एक ही अभिन्न

पदार्थ हैं; इनमें भेद मानना सर्वथा अनुचित है।

अविद्या का आश्रय

अविद्या का आश्रय कौन है ? इस विषय में भी मतभेद है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार अविद्या का आश्रय होता है जीव और विषय है ब्रह्म। इसका आशय है कि ब्रह्म-विषयक अविद्या जीव के आश्रित रहती है। उनका कहना है कि यदि ब्रह्म को अविद्या का आश्रय माना जायगा तो ब्रह्म भी अज्ञ हो जायगा, इसलिए जीव को ही अविद्या का आश्रय मानना युक्तियुक्त है। अर्थात् अविद्या के रहने के कारण जीव अज्ञ बना रहता है। यह है वाचस्पति का मत। परन्तु संक्षेप शारीरक और विवरण के मतानुसार अविद्या का आश्रय शुद्ध चेतन ब्रह्म ही है। उनका कहना है—जीव औपाधिक है। अविद्या उपाधि लगने के बाद ही तो उसे जीव की संज्ञा प्राप्त होती है। उससे पहले अविद्या का आश्रय विशुद्ध ब्रह्म ही हो सकता है। संक्षेप शारीरक का यह प्रख्यात पद्य इस मत का स्पष्ट द्योतक है—

आश्रयत्व विषयत्व भागिनी
निर्विशेषचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो
नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥

तात्पर्य यह है कि निर्विशेष ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय भी है और विषय भी है। एक साथ ही दोनों है। अविद्या पूर्व-सिद्ध है और उसके बाद उसीकी उपाधिवाला जीव न तो अविद्या का आश्रय होता है और न विषय ही होता है। इस मत में ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय है। ये दोनों मत वेदान्त में बहुत प्रचलित तथा प्रख्यात हैं।

अध्यास

अध्यास के दूर करने के लिए ही वेदान्त-शास्त्र का आरम्भ किया जाता है, क्योंकि अध्यास ही दुःख का मूल कारण है। तो 'अध्यास' है क्या ? शंकराचार्य के शब्दों में—**अध्यासो नाम अतस्मिन् तद् बुद्धिः** अर्थात् तत् से भिन्न पदार्थ में तत् की बुद्धि करना। अर्थात् जो पदार्थ जैसा नहीं है, उसमें उसकी कल्पना करना। 'मिथ्या प्रतीति' का ही दूसरा नाम है—

'अध्यास' । इस अध्यास के अनेक रूप संसार में दृष्टिगोचर होते हैं। किसी व्यक्ति का पुत्र परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर पुरस्कार के द्वारा समादृत होता है। इस घटना से पिता का आनन्दित होना अध्यास का लोक-बहुल उदाहरण है। किसी पिता की कन्या किसी दुर्घटना में अपनी आंखें खो बैठती है। वह अन्धी हो जाती है। पिता इस घटना से अपनी ही अप्रतिष्ठा समझ लेता है। इन उदाहरणों में बाह्य धर्मों का अध्यास स्पष्ट है (बाह्य धर्माध्यास)। मोटा-दुबला होना, गोरा या काला होना, चलना या बैठना—देह का धर्म है, परन्तु हम इन धर्मों को अपने ऊपर आरोप कर समझने लगते हैं कि मैं ही स्थूल हूं, कृश हूं, गौर हूं, कृष्ण हूं, चलता हू या बैठता हूं। यह हुआ देह-धर्मों का आत्मा में आरोप (देह-धर्माध्यास)। गूंगा होना, काना होना, बहिरा होना, अन्धा होना—ये सब इन्द्रियों के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। परन्तु हम अपनेको ही गूंगा, काना, अन्धा आदि समझते हैं (इन्द्रिय-धर्माध्यास)। मैं सुन्दर फल खाने की इच्छा करता हूं (काम), पुण्य करने का संकल्प करता हूं (संकल्प); मैं विश्वनाथजी के दर्शन करने के लिए आज जाऊं या न जाऊं (विचिकित्सा)—आदि बातों में हम लोग आत्मा के ऊपर अन्तःकरण के धर्मों का आरोप करते हैं (अन्तः-करण-धर्माध्यास)। इस अध्यास के ऊपर ही जगत् का व्यवहार चलता है। यह अनादि है, न इसका कहीं अन्त है, यह स्वाभाविक है। यही कर्तृत्व भोक्तृत्व का प्रवर्तक है; इसीके कारण प्राणी नाना प्रकार के दुःखों का भाजन बना रहता है, क्योंकि वह शुद्ध-बुद्ध-चेतन-मुक्त आत्मा में इससे विरुद्ध गुणों का आरोप किया करता है। इसीसे सब अनर्थ उत्पन्न होते हैं। यही अनर्थ का मूल है। इसी अध्यास के उन्मूलन के निमित्त सकल वेदान्त-शास्त्र का आरम्भ किया जाता है। आचार्य शंकर के स्मरणीय शब्दों में—

एवमयम् अनादिः अनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासोः मिथ्याप्रत्ययरूपो कर्तृत्व-भोक्तृत्व-प्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते।

—ब्रह्मसूत्र का शंकरभाष्योपद्घात

ब्रह्म-विचार

अद्वैत वेदान्त में परम सत्ता के रूप में 'ब्रह्म' का विवेचन किया गया है। 'ब्रह्म' का लक्षण दो प्रकार से किया गया है—'स्वरूप लक्षण' तथा 'तटस्थ लक्षण'। स्वरूप लक्षण में वस्तु के तात्त्विक रूप का परिचय मिलता है कि वह वस्तु कैसी है, किस प्रकार की है और किस स्वभाव की है। तटस्थ लक्षण में वस्तु के किसी आगन्तुक गुण को लक्ष्य करके ही उसका विवेचन किया जाता है। इन लक्षणों को देने से पहले यह बतलाना आवश्यक है कि ब्रह्म की सत्ता में प्रमाण क्या है? ब्रह्म का अस्तित्व किस प्रकार जाना जाता है? इस विषय में प्रत्यक्ष को उपस्थित नहीं कर सकते, क्योंकि ब्रह्म तो अतीन्द्रिय पदार्थ ठहरा और प्रत्यक्ष की सीमा इन्द्रियगम्य पदार्थों तक ही होती है। अनुमान में लिंग के द्वारा साध्य का अनुमान किया जाता है। ब्रह्म का तो कोई लिंग ही नहीं। फलतः अनुमान के द्वारा भी उसका प्रामाण्य सिद्ध नहीं। श्रुति को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि श्रुति ही कहती है—**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**—अर्थात् मन के साथ वाणी उसे न पाकर लौट आती है अर्थात् वह सर्वथा अगम्य है, ऐसी दशा में ब्रह्म की सत्ता है? इसमें ही सन्देह है। यह है पूर्वपक्षी की आशंका।

सिद्धान्त का उत्तर है कि यह आशंका निराधार है। अवश्य ही ब्रह्म की सिद्धि में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण रूप में प्रस्तुत नहीं किये जा सकते। परन्तु श्रुति साक्षात् रूप से ब्रह्म का प्रतिपादन करती है। सो भी एक श्रुति नहीं, अनेक श्रुतियां। '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (तैत्तिरीय, २।१।१) '**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' (बृहदारण्यक, ३।९।२८); '**अयमात्मा ब्रह्म**' (बृहदारण्यक, २।५।१९)—आदि अनेक श्रुतियां स्पष्ट शब्दों में बतलाती हैं कि ब्रह्म है। वह सत्य, ज्ञान तथा अनन्त रूप है। फलतः ब्रह्म को मानना नितान्त युक्तियुक्त है। ऊपर उद्धृत निषेधक श्रुति का तब तात्पर्य क्या है? तथ्य यह है कि ब्रह्म के विषय में विधायक और निषेधक उभय प्रकार की श्रुतियों की संगति विद्यमान है। वाक्यजन्य स्पष्ट स्फुरण रूप अर्थ के निषेध में निषेध-श्रुति चरितार्थ है और अज्ञान रूप आवरण के भंग करने में विधायक श्रुति चरितार्थ है। इसे समझने के लिए '**घटमहं जानामि**' के

व्यावहारिक दृष्टान्त पर दृष्टिपात कीजिये। जिस समय हम घट का ज्ञान करते हैं, उस समय बुद्धि और उसमें रहनेवाला चिदाभास (चैतन्य का आभास) दोनों ही घट को व्याप्त करते हैं। हमारे लिए घट के ऊपर एक आवरण पड़ा हुआ है अज्ञान का, क्योंकि उसे हम नहीं जानते। यहां बुद्धि-रूपी व्याप्ति से घट का अज्ञानरूप आवरण नष्ट हो जाता है। उसे हम जान लेते हैं कि यह घट नामक पदार्थ है। चिदाभास की व्याप्ति होने से घट का स्फुरण होता है। घट तो स्वयं जड़ पदार्थ ठहरा। उसका स्वयं प्रकाश हो नहीं सकता। इसके लिए चिदाभास की व्याप्ति आवश्यक है। विद्यारण्य स्वामी के इस श्लोक का यही तात्पर्य है—

बुद्धि तत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येत् आभासेन घटः स्फुरेत्॥

अब ब्रह्म-विषयक श्रुति-वाक्यों पर विचार कीजिये। 'तत्त्वमसि' श्रुति से ब्रह्म के अद्वैत का ज्ञान हमें होता है। यहां बुद्धि वृत्ति की व्याप्ति के कारण अज्ञानरूपी आवरण का नाश हो जाता है, अर्थात् इस वाक्य के द्वारा हम जान लेते हैं कि ब्रह्म कैसा है। आवरण के भंग होते ही स्वयं-प्रकाश-रूप आत्मा का स्फुरण होने लगता है। स्फुरण स्वयंसिद्ध होने से वाक्यजन्य ज्ञान का वह फल नहीं हो सकता। यहां पूर्व अंश में विधायक श्रुति चरितार्थ है और द्वितीय अंश में निषेधक श्रुति चरितार्थ है। दोनों की एकवाक्यता इस प्रकार सिद्ध है। दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं माना जा सकता। इस तरह श्रुति के द्वारा ही ब्रह्म की सिद्धि होती है; यही वेदान्त का परि-निष्ठित मन्तव्य है।

ब्रह्म का लक्षण

ब्रह्म की स्वरूपबोधक श्रुतियां ब्रह्म के सच्चे स्वरूप का बोध कराती हैं। कुछ श्रुतियां ये हैं—

१. **अयमात्मा ब्रह्म** (बृहदारण्यक, २।५।१६)—यह आत्मा ही ब्रह्म है। यह श्रुति ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का बोध कराती है।

२. **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** (तैत्तिरीय, २।२।१)—ब्रह्म सत्य है मिथ्या नहीं; ज्ञान है, जड़ नहीं है। अनन्त है। उसका कभी अन्त नहीं होता।

३. **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** (बृहदारण्यक, ३।६।२८)—ब्रह्म विज्ञान-रूप

है तथा वह आनन्द-रूप है ।

ब्रह्म का यही सच्चा स्वरूप है। इसलिए इनके द्वारा प्रतिपादित लक्षण स्वरूप लक्षण कहलाता है। तटस्थ लक्षण भी श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है—

१. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म।

—तैत्तिरीय, ३।१

जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीते हैं और अन्त में भूत जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको जानो। वही ब्रह्म है।

२. आनन्दाद्धये खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्ति ॥

—तैत्तिरीय, ३।६

ब्रह्म से जगत् के प्राणी उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म के द्वारा वे जीते हैं तथा अन्तकाल में मरने के समय वे उसीमें प्रवेश करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म को विश्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण मानना उनका तटस्थ लक्षण हुआ।

आत्मा का विवेचन

आत्मा का स्वरूप अद्वैत वेदान्त के द्वारा बहुशः विवेचित किया गया है। "स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से पृथक् पंचकोश से अतीत, तीनों अवस्थाओं का साक्षी, चौबीस तत्त्वों का आधार अविद्या तथा मायारूपी उपाधि से क्रमशः प्रतीयमान होनेवाले जीव तथा ईश्वर से भिन्न, जो सच्चिदानन्द स्वरूपवाला रहता है, वही आत्मा है।"[1]

इस लक्षण के अन्तर्गत आनेवाले विशेषणों पर ध्यान देना आवश्यक है—

१. आत्मा स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से पृथक् होता है।

(क) कर्म से उत्पन्न, सुख-दुःख आदि भोगों का स्थान, छः विकारों से युक्त, जो यह सामने दृश्यमान देह है यही 'स्थूल शरीर' कहलाता है। छः विकारों के नाम हैं—अस्ति (वर्तमान होना), जायते (उत्पन्न होना),

[1] तत्त्वबोध, सूत्र २१

वर्धते (बढ़ना), विपरिणमते (परिणाम को प्राप्त होना), अपक्षीयते (क्षीण होना) तथा विनश्यति (नाश को पाना)। निरुक्त में निर्दिष्ट छः विकारों के ये नाम हैं। हमारे भौतिक पिण्ड में ये निरन्तर देखे जाते हैं।

(ख) सूक्ष्म शरीर—यह शरीर पहले शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म है। यह सत्रह कलाओं से युक्त रहता है—पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय पंचवायु + मन + बुद्धि। यह भी कर्मजन्य होता है तथा सुख-दुःख आदि भोगों का साधन होता है।

(ग) कारण शरीर—पूर्वोक्त दोनों शरीरों से सूक्ष्म तथा अन्तरंग यह शरीर होता है। इन दोनों शरीरों का यह कारण होता है और इसलिए इस नाम से पुकारा जाता है। यह अनिर्वचनीय अनादि अविद्या रूप है तथा अपने रूप को ढंकनेवाला होता है एवं निर्विकल्पकरूप होता है। इन तीनों में चैतन्याभिमानी तीन विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।

२. **आत्मा पंचकोषों से अतीत होता है**—कोष शब्द से आवरण, आच्छादन या छिलका आदि समझना चाहिए। जैसे प्याज में एक के ऊपर एक छिलका रहता है और ऊपरी छिलके को हटाते-हटाते हम भीतरी छिलके तक पहुंच जाते हैं। इसी प्रकार से जीव-शरीर में ये पांच कोष विद्यमान रहते हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय।

(क) अन्नमय कोष—शरीर का यह सबसे ऊपर का कोष होता है। अन्न के रस से उत्पन्न होकर, अन्न के रस से ही वृद्धि को पाकर, अन्न की रसमयी पृथ्वी में, जो अन्त में लीन हो जाता है, वही अन्नमय कोष है। इसीकी ऊपर संज्ञा स्थूल शरीर है।

(ख) प्राणमय कोष—यह कोष पहले की अपेक्षा भीतरी होता है। पांच प्राण तथा कर्मेन्द्रियों को मिलाकर प्राणमय कोष सम्पन्न होता है। पंच प्राणों में प्राणवायु हृदय में रहता है, अपान गुदा में, समान नाभि में, उदान कण्ठ में तथा व्यान वायु सारे शरीर में रहता है।

(ग) मनोमय कोष—यह दूसरे कोष की अपेक्षा भीतर में रहता है। मन तथा पांचों ज्ञानेन्द्रियां—ये छहों मिलकर मनोमय कोष का निष्पादन करते हैं।

(घ) विज्ञानमय कोष—यह तीसरे कोष की अपेक्षा भीतरी होता है।

बुद्धि तथा पांचों ज्ञानेन्द्रियां—ये छहों मिलकर विज्ञानमय कोष के नाम से अभिहित होते हैं। ऊपर वर्णित दोनों कोषों का भेद पंचदशी में इस प्रकार बतलाया गया है—

> कर्तृत्व करणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियम्।
> विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चैते परस्परम्॥
>
> —पंचदशी, ३।८

श्लोक का तात्पर्य है कि अन्तरिन्द्रिय कभी तो कर्ता रूप और कभी करण रूप से परिणत होती रहती है। जब कर्ता रूप से परिणत होती है, तब उसको 'विज्ञानमय' कोष कहते हैं और करण रूप से परिणत होने पर मनोमय कोष कहते हैं। पहला भीतर में होता है और दूसरा बाहर में। बुद्धि अन्दर रहती है। इसलिए विज्ञानमय अन्तर कोष है। मन उसकी अपेक्षा बाहर रहता है। इसलिए मनोमय बहिःकोष है।

(ङ) आनन्दमय कोष—कारणशरीरभूता अविद्या में स्थित मलिन सत्त्व, आत्मस्वरूप का अज्ञान रूप और प्रिय, मोद तथा प्रमोद के भावों से युक्त आनन्दमय कोष होता है। वही कारण शरीर है, क्योंकि वह चौबीस तत्त्वों का कारण होता है। इसके अनुभव की दिशा इस प्रकार है। जब हम किसी पुण्यकर्म के फल का अनुभव करते है, तब कोई बुद्धि-वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और उसपर आनन्द का प्रतिविम्ब पड़ जाता है। भोगों के शान्त होने पर वही बुद्धि-वृत्ति निद्रा के रूप में विलीन हो जाती है। उस लीन बुद्धि-वृत्ति को ही आनन्दमय कोष कहते हैं।

आत्मा इन पांचों कोशों से अतीत होता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोषों को आत्मा मानने के लिए कोई भी तैयार नहीं होता, परन्तु प्रश्न यह है कि आनन्दमय कोष को आत्मा मानने में क्या हानि है। इसका उत्तर यह है कि यह आनन्दमय कदाचित् ही होता है, सर्वदा वर्तमान नहीं रहता। इसलिए इसे नित्य आत्मा मानना उचित नहीं है। तो आत्मा कौन है? बुद्धि में प्रतिविम्बित आनन्दमय का विम्ब रूप अर्थात् कारण रूप से वर्तमान होनेवाला जो आनन्द है, वही आत्मा है। उपनिषदों में जहां कहीं ब्रह्म के लिए 'आनन्दमय' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहां 'आनन्दमय' का अर्थ है—आनन्द-प्रचुर, क्योंकि ब्रह्मानन्द

सब आनन्दों से बढ़कर करोड़ों गुना अधिक बतलाया गया है।

३. आत्मा तीनों अवस्थाओं की साक्षी है—अवस्थाएं तीन होती हैं—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति।

(क) जाग्रत अवस्था तब होती है जब जीव ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषयों को जानता है। जागने पर ही हम श्रोत्र से शब्द का, त्वक् से स्पर्श का, चक्षु से रूप का, जिह्वा से रस का तथा घ्राण से गन्ध का ग्रहण करते हैं। इसलिए इन्द्रियों के द्वारा विषयों की ग्रहण दशा जाग्रत अवस्था कहलाती है। स्थूल शरीर का अभिमानी आत्मा 'विश्व' कहलाता है।

(ख) स्वप्न अवस्था—जाग्रत दशा में जो कुछ हम देखते हैं, सुनते हैं तथा अन्य व्यापार करते हैं, उससे उत्पन्न वासना के द्वारा जो प्रपंच प्रतीत होता है, वही स्वप्न दशा है। इस समय सूक्ष्म शरीर की स्थिति रहती है। इस शरीर का अभिमानी आत्मा 'तैजस' कहलाता है।

(ग) सुषुप्ति दशा—'सुषुप्ति' का अर्थ है सु+सुप्ति=सुन्दर सोना, गाढ़ शयन, गहरी नींद की दशा। हमारा यह व्यावहारिक अनुभव है कि गहरी नींद लेने के बाद जब हम जागते हैं तब हम कहते हैं—'आज हम खूब आनन्द से सोये; मुझे कुछ भी पता नहीं चला कि हम कब खाट पर गये, कहां थे तथा रात कैसे बीत गई।' इस गहरी नींद की दशा की संज्ञा है—'सुषुप्ति'। यह दशा कारण शरीर की स्थिति को सूचित करती है। कारण शरीर के अभिमानी आत्मा को 'प्राज्ञ' कहते हैं। इन संज्ञाओं का कारण है। समष्टि स्थूल शरीर को 'विराट्' कहते हैं। इसलिए स्थूल शरीर के देवता 'विश्व' कहलाते हैं। सूक्ष्म राज्य के सूक्ष्म शरीर-विशिष्ट देवताओं का शरीर तेजोमय होता है। इस कारण सूक्ष्म शरीर का अभिमानी आत्मा 'तैजस' कहलाता है। कारण शरीर सूक्ष्मातिसूक्ष्म है और इस कारण उसके अभिमानी देवता 'प्राज्ञ' कहलाते हैं।

४. आत्मा चौबीस तत्त्वों का आधार है—यहां 'तत्त्व' से अभिप्राय प्राकृतिक विभाग का समझना चाहिए। वेदान्त चौबीस तत्त्वों को मानता है—

(क) पांच ज्ञानेन्द्रिय—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राण।

(ख) पांच कर्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ।

(ग) पांच प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

(घ) पांच तन्मात्र—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

(ङ) चार अन्तःकरण (भीतरी इन्द्रिय)—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।

प्राकृतिक विभाग से सम्बद्ध ये चौबीस तत्त्व होते हैं और इनका आधार आत्मा ही है। यहां ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा प्राण के नाम तथा काम तो सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। 'तन्मात्र' का अर्थ है अपंचीकृत या अमिश्रित सूक्ष्म भूत। स्थूल भूत मिश्रित तथा पंचीकृत होता है, जिसका विवेचन आगे किया जायगा। मन का विषय है—संकल्प। मन संकल्प विकल्पात्मक है, क्योंकि वह विचारता है कि यह कार्य करूं या न करूं। बुद्धि का विषय है—निश्चय। निश्चय करना ही बुद्धि का कार्य है। चित्त का विषय है—स्मरण। अनुभूत विषयों का उद्बोधक कारणों के होने पर स्मरण हुआ करता है। उस समय अन्तःकरण को 'चित्त' कहते हैं। अहंकार का विषय है—गर्व, अभिमान। जब अन्तःकरण किसी दशा में गर्व या अभिमान करता है, तब वह 'अहंकार' कहलाता है।

५. आत्मा या ब्रह्म जीव तथा ईश्वर से भिन्न है—अविद्या की उपाधि से सम्पन्न ब्रह्म जीव कहलाता है तथा माया रूप उपाधि से युक्त होकर ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। ऊपर हमने दिखलाया है कि सामान्यतः एकाकार होने पर भी अविद्या तथा माया में वेदान्ती लोग अन्तर तथा भेद मानते हैं। शुद्ध सत्त्व-प्रधान माया होती है और अविद्या रजोगुण तथा तमोगुण की प्रबलता के कारण मलिन सत्त्व-प्रधान होती है। अविद्या की उपाधि से युक्त होने पर ब्रह्म 'जीव' कहलाता है। जीव तथा ईश्वर का अन्तर स्पष्ट है। अविद्या जीव को अपने वश में करके, अपने अधीन करके, फंसा लेती है और उसे बन्धन में डाल देती है। परन्तु विद्यारूपिणी माया (शुद्ध सत्त्व की प्रधानता के कारण) सर्वदा ईश्वर के अधीन रहकर उसकी सेवा करती हुई जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय कार्य करती रहती है। यद्यपि जीव में अविद्या की उपाधि तथा ईश्वर में माया की उपाधि का वर्णन किया गया है, तथापि पारतन्त्र्य तथा स्वातन्त्र्य की विशिष्टता के कारण दोनों में महान् अन्तर है। अविद्योपाधिक जीव परतन्त्र होता है, परन्तु मायोपाधिक

ईश्वर स्वतन्त्र होता है। 'स्वातन्त्र्य' ईश्वर का वैशिष्टय है। **कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुं यः समर्थः, स ईश्वरः।** ईश्वर वही है, जो करने में, न करने में तथा अन्यथा करने में समर्थ होता है। औपाधिक होने पर भी दोनों में इस महान् अन्तर को न भूलना चाहिए। इस विषय में विद्यारण्य स्वामी की 'पंचदशी' का यह श्लोक विशेष महनीय तथा स्मरणीय है—

मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यः तद्वैचित्र्यादनेकधा ।।

—पंचदशी, १।१६

६. **आत्मा या ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है**—आत्मा सत् है, सर्वत्र विद्यमान है। चित् है—ज्ञान रूप है तथा आनन्द रूप है। ब्रह्म के लक्षण देते समय श्रुतियां उद्धृत की गई हैं, जो ब्रह्म के सच्चिदानन्द रूप को प्रकट करती हैं।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा का ब्रह्म के स्वरूप जानने के लिए पूर्वोक्त छहों विशिष्टताओं का एकत्र संकलन कर देना चाहिए। आत्मा शरीरत्रय से व्यतिरिक्त पंचकोषातीत अवस्थात्रय साक्षी, चतुर्विंशति तत्त्वाधार, जीवेश्वर दोनों से भिन्न तथा सच्चिदानन्द स्वरूपवान् होता है।

कोषादिक की सूचक सारणि

शरीर	अवस्था	अभिमानी	कोष
स्थूल	जाग्रत	(क) समष्टि–वैश्वानर (ख) व्यष्टि–विश्व	अन्नमय
सूक्ष्म	स्वप्न	(क) सूत्रात्मा (ख) तैजस	प्राणमय मनोमय विज्ञानमय
कारण	सुषुप्ति	(क) ईश्वर (ख) प्राज्ञ	आनन्दमय

इन्द्रियादि-सूचक सारणि

	इन्द्रिय	विषय	देवता
ज्ञानेन्द्रिय			
१.	श्रोत्र	शब्द	दिक्
२.	त्वक्	स्पर्श	वायु
३.	चक्षु	रूप	सूर्य
४.	रसना[1]	रस	वरुण
५.	घ्राण	गन्ध	अश्विनी
कर्मेन्द्रिय			
६.	वाक्[1]	भाषण	अग्नि
७.	पाणि	वस्तुग्रहण	इन्द्र
८.	पाद	गमन	उपेन्द्र
९.	उपस्थ[2]	मूत्र-त्याग	शिव
१०.	पायु (=गुदा)	मल-त्याग	मृत्यु
अन्तःकरण			
११.	मन	संकल्प	चन्द्रमा
१२	बुद्धि	निश्चय	ब्रह्मा[3]
१३.	चित्त	स्मरण	क्षेत्रज्ञ
१४.	अहंकार	गर्व	रुद्र

[1] वाक् और रसना ये दोनों एक ही जिह्वा इन्द्रिय से सम्बन्ध रखनेवाली हैं। इस कारण जिह्वा के अग्नि और वरुण ये दो अधिपति हुए। इसी कारण द्विगुण शक्ति होने से जिह्वा इतनी बलवती है।

[2] उपस्थ इन्द्रिय का साधारण कार्य मूत्र त्याग है और असाधारण कार्य रति या आनन्द भोग करना है। प्रथम कार्य के लिए शिव तथा द्वितीय कार्य के लिए प्रजापति देवता है। उपस्थ में भी जिह्वा के समान द्विगुणशक्ति वर्तमान रहती है और इसीलिए यह इन्द्रिय भी इतनी बलवती होती है।

[3] कहीं-कहीं ब्रह्मा ही अन्तःकरण चतुष्टय के अधिपति माने गये हैं। इसी कारण उनके चार मुख हैं। अन्तःकरण में बुद्धि की प्रधानता होती है और इसीलिए यह कल्पना की गई है।

जगत् का स्वरूप

उपनिषदों का यह कथन है कि ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत्य है। उससे व्यतिरिक्त अन्य वस्तु का अभाव सर्वथा तथा सर्वदा वर्तमान है। इस विषय में बृहदारण्यक श्रुति का स्पष्ट कथन है—

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥

—बृहदारण्यक, ४।४।१६

—अर्थात् मन के द्वारा यह देखना चाहिए कि यहां पर कुछ भी नाना—अनेक—नहीं है। यहांपर जो 'नाना' देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। इस मन्त्र के अन्तिम चरण में 'नानेव' में 'इव' शब्द का प्रयोग ध्यानगम्य है अर्थात् यह जगत् सचमुच सत्य नहीं है, प्रत्युत 'मानों' है। यदि यह जगत् सचमुच सत्य ही होता, यह यदि मायामात्र न होता तो श्रुति इस सम्बन्ध में 'इव' शब्द का प्रयोग क्यों करती ?

छान्दोग्य उपनिषद् में सत्यकेतु के पिता ने अनेक दृष्टान्तों के द्वारा इस तत्त्व का उपदेश दिया है—

यथा सौम्य ! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

—छान्दोग्य, ६।१।४

—हे सौम्य ! जिस प्रकार मिट्टी के एक ढेले को जान लेने पर मिट्टी की बनी हुई सारी वस्तुएं जान ली जाती हैं, क्योंकि वे मिट्टी के ही विकार हैं। वाक्य की योजना नाममात्र की है। मिट्टी ही सत्य है।

फलतः जगत् की स्थिति माया के कारण ब्रह्म के ऊपर अध्यस्त की गई है। ब्रह्म अधिष्ठान है। जगत् अध्यस्त है। अधिष्ठान की ही वास्तव सत्ता है। अध्यस्त सर्वथा मिथ्या है। माया के द्वारा ही ब्रह्म जगत् के रूप में प्रतिभात हो रहा है, यह केवल भानमात्र है, केवल प्रतीयमान है। इसके द्वारा ब्रह्म के स्वरूप में किसी प्रकार प्रच्युति नहीं होती, अर्थात् ब्रह्म सर्वथा तथा सर्वदा ब्रह्म ही रहता है, किन्तु वही जगत् के रूप में भान होता है। इसीका नाम 'अध्यास' है।

अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः ।

—ब्रह्मसूत्र शंकर-भाष्य, १।१।१

अध्यास को समझने के लिए वेदान्त ग्रन्थों में दो-तीन प्रख्यात तुलनाएं प्रस्तुत की गई हैं। सीप में जिस प्रकार चांदी का अध्यास होता है, रज्जु में सर्प का तथा मरीचि में मरीचिका का, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है।

रास्ते के किनारे रस्सी पड़ी हुई है। धुंधले प्रकाश में उसे देखने पर जान पड़ता है कि सांप लेटा हुआ है। इसे देखकर हम डर के मारे भाग खड़े होते हैं। ठीक उसी समय एक राही अपने हाथ में टार्च से प्रकाश करता है, जिससे वह चीज रस्सी ही है, ऐसा ज्ञान हमें होता है। इस प्रकार रस्सी का ज्ञान होने पर हमारा वह अध्यास दूर हो गया, जो रस्सी में सांप के धोखे से हुआ था। रस्सी में पहले सांप का भ्रम रहता है, परन्तु रस्सी का ज्ञान हो जाने पर वह भ्रम दूर हो जाता है और रस्सी का यथार्थ रूप हमारे सामने प्रकट हो जाता है।

ठीक यही दशा ब्रह्म में जगत् के अध्यास की होती है। जबतक ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता तबतक वह बनी रहती है, परन्तु ब्रह्म-ज्ञान होने पर यह अध्यास दूर हो जाता है। जगत् का अस्तित्व मिट जाता है और **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (सबकुछ यह ब्रह्म है) की पूरी प्रतीति अपने पूरे वैभव के साथ ज्ञानी के सामने उदित हो जाती है। इसीलिए 'अष्टावक्र-संहिता' के ये वचन ध्यान देने योग्य हैं—आत्म-विषय में अज्ञान होने से यह जगत् भासता है और आत्मज्ञान होने से वह तिरोहित हो जाता है। रज्जु के अज्ञान से सर्प की प्रतीति होती है, परन्तु रज्जु के ज्ञान से वह भ्रम-प्रतीति नष्ट हो जाती है—

आत्माज्ञानात् जगद् भाति आत्मज्ञानान्न भासते ।
रज्ज्व ज्ञानाद् अहिर्भाति तज्ज्ञानात् भासते नहि ॥

—अष्टावक्र संहिता, २।७

विवर्त

ब्रह्म में जगत् की इस प्रतीति को दार्शनिक भाषा में 'विवर्त' कहते

हैं। विवर्त विकार से भिन्न होता है। विवर्त का रूप है—

अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः।

—वेदान्तसार

अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। परिवर्तन (अन्यथा प्रथा) दो प्रकार का होता है—तात्त्विक और अतात्त्विक।

१. **तात्त्विक** परिवर्तन का तात्पर्य है कि उत्पन्न वस्तु वास्तव में कारण से भिन्न, पृथक् तथा सत्ताधारी है जैसे दूध से दही। यहां दही दूध से एक पृथक् सत्ता है—उसका आकार ही दूध से भिन्न नहीं है, प्रत्युत् स्वाद भी भिन्न है। इसको 'विकार' कहते हैं।

२. **अतात्त्विक** परिवर्तन का अर्थ यह है कि उत्पन्न वस्तु कारण से न भिन्न है, न पृथक् सत्ताधारी है, वह स्वतन्त्र न होकर सर्वथा परतन्त्र है। जैसे पूर्वनिर्दिष्ट रज्जु से सर्प का उदय। ब्रह्म में जगत् के उदय की स्थिति इस रूप की है। इसमें कारण (ब्रह्म) ही वास्तव होता है, कार्य (जगत्) मायिक है तथा मिथ्या।

वेदान्तियों का कहना है कि जिस प्रकार जादूगर अपनी संकल्प शक्ति से नाना प्रकार की वस्तुएं उत्पन्न कर अपने दर्शकों को भ्रम में डाल देता है, ब्रह्म भी ऐसा ही करता है। वह विक्षेप रूप से इन्द्रजाल फैलाकर जीवों को मोहित करता है। परन्तु ज्ञान के द्वारा जब यह भ्रम दूर हो जाता है, तब जीव अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, ब्रह्म के साथ जीव को अभेद प्राप्त हो जाता है। वह मुक्त पुरुष ब्रह्म में लीन हो जाता है। उसका नामरूप विलीन हो जाता है—

भिद्यते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते।

—प्रश्नोपनिषद्, ६।५

ईश्वर का स्वरूप

निर्विशेष ब्रह्म जब माया के द्वारा आवृत होकर सविशेष या सगुण भाव को धारण करता है, तब वह 'ईश्वर' की संज्ञा पाता है। ईश्वर ही विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण है। ईश्वर ही जगत् का निमित्त कारण भी है तथा उपादान कारण भी। घड़े को कुम्भकार मिट्टी से गढ़-कर बनाता है। इस व्यापार में घट है कार्य, कुम्भकार है निमित्त कारण

और मृत्तिका है उपादान कारण। ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है। इस व्यापार में जगत् है कार्य, ईश्वर निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों स्वयं ही है। एक ही वस्तु के दोनों कारण होने में कोई विरोध नहीं होता। ईश्वर है मायोपाधिक ब्रह्म। यहां चैतन्य पक्ष का अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है और उपाधि (माया) पक्ष की दृष्टि से ही ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। इस प्रकार ब्रह्म जगत् की सृष्टि मानने में माया ही प्रधान कारण है।

जगत् की सृष्टि

तमःप्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त ईश्वर से सूक्ष्म तन्मात्ररूप आकाश की उत्पत्ति हुई; आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की तथा जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है। सत्रह पदार्थों को मिलाकर सूक्ष्म शरीर का उदय होता है। ये पदार्थ हैं—पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच प्राण तथा बुद्धि और मन। 'विवेक-चूड़ामणि' (श्लोक ९८) में शंकराचार्य ने 'पुर्यष्टक' (सूक्ष्म शरीर) की गणना में कुछ अन्य पदार्थों को भी सम्मिलित किया है—आकाशादि पांच अपंचीकृत भूत, चित्त, अहंकार, अविद्या, काम और कर्म। इन दस पदार्थों को जोड़ने पर सूक्ष्म शरीर के घटक तत्त्व सत्ताईस होते हैं—

वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च
प्राणादिपञ्चाभ्रमुखानि पञ्च।
बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणी
पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः॥

इस सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है। स्थूल शरीर पंचीकृत भूतों से बना हुआ रहता है। पंचीकरण अद्वैत वेदान्त की एक मान्य प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य यह है कि स्थूलभूत पांचों भूतों के एक विशिष्ट मिश्रण का परिणाम होता है। प्रत्येक स्थूलभूत में अपना अंश तो आधा होता है और आधे में अन्य चारों भूतों के अष्टम अंश सम्मिलित रहते हैं। जैसे पृथ्वी नामक भूत की दशा देखिये। इसमें पृथ्वी का आधा ही अंश होता है और इसके आधे अंश में जल, तेज, वायु तथा आकाश में प्रत्येक के अष्टम अंश

मिले रहते हैं—

पृथ्वी $= \frac{1}{2}$ पृथ्वी $+ \frac{1}{8}$ जल $+ \frac{1}{8}$ तेज $+ \frac{1}{8}$ वायु $+ \frac{1}{8}$ आकाश ।
जल $= \frac{1}{2}$ जल $+ \frac{1}{8}$ पृथ्वी $+ \frac{1}{8}$ तेज $+ \frac{1}{8}$ वायु $+ \frac{1}{8}$ आकाश ।
तेज $= \frac{1}{2}$ तेज $+ \frac{1}{8}$ पृथ्वी $+ \frac{1}{8}$ जल $+ \frac{1}{8}$ वायु $+ \frac{1}{8}$ आकाश ।
वायु $= \frac{1}{2}$ वायु $+ \frac{1}{8}$ पृथ्वी $+ \frac{1}{8}$ जल $+ \frac{1}{8}$ तेज $+ \frac{1}{8}$ आकाश ।
आकाश $= \frac{1}{2}$ आकाश $+ \frac{1}{8}$ पृथ्वी $+ \frac{1}{8}$ जल $+ \frac{1}{8}$ तेज $+ \frac{1}{8}$ वायु ।

इस प्रकार वेदान्त के मत में प्रत्येक स्थूल भूत पंचभूतात्मक होता है। इसके विपरीत सूक्ष्मभूत या 'तन्मात्र' अपंचीकृत होते हैं अर्थात् वे अपनी विशुद्ध दशा में विद्यमान रहते हैं।

ब्रह्म, जीव तथा जगत् आदि के संक्षिप्त परिचय के बाद संक्षेप में यह सारांश निकलता है कि एक ही परम सत्य, परम तत्त्व है और उसका नाम है 'ब्रह्म'। उसके दो विभावों का परिचय ऋषियों ने दिया है—'निर्विशेष' भाव तथा 'सविशेष' भाव। निर्विशेष विभाव को परब्रह्म या अशब्द ब्रह्म कहते हैं और सविशेष विभाव को अपर ब्रह्म या शब्दब्रह्म कहते हैं—

द्वे परब्रह्मणी अभिध्येये शब्दश्च अशब्दश्च ।

—मैत्री ६।२।२

ब्रह्म के निर्विशेष भाव का अर्थ है कि उस भाव के किसी विशेषण, लक्षण, चिह्न या परिचय का निर्देश नहीं किया जा सकता। इस भाव को निर्गुण, निर्विकल्प, निरुपाधि आदि संज्ञा दी गई है। यह भाव मन-बुद्धि के लिए अगोचर, अनिर्देश्य, अवाच्य, अज्ञेय और अमेय है। यह निर्विशेष परब्रह्म ही माया-उपाधि को अंगीकार करके मानों अपने-आपको संकुचित कर देता है। उस समय उसका जो विभाव होता है, वही सविशेष या सविकल्प भाव कहलाता है। उस समय उसे 'महेश्वर' कहा जाता है। उस समय वह 'माया का अधिपति' होता है—**मायिनं तु महेश्वरम्** (श्वेताश्वतर)। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म का प्रथम रूप 'निर्गुण' है तथा दूसरा रूप 'सगुण' है। सगुण ब्रह्म को ही 'ईश्वर' की संज्ञा प्राप्त होती है। माया की उपाधि से विशिष्ट होने से वही ब्रह्म 'ईश्वर' कहलाता है और अविद्या की उपाधि से युक्त होने पर वही 'जीव' की संज्ञा पाता है। वही ब्रह्म एक मात्र तत्त्व है। जगत् उसमें अध्यस्त होने से अपनी सत्ता धारण करता है। यह वास्तव नहीं है। जगत्

ब्रह्म का विवर्त है। अद्वैत वेदान्त का संक्षिप्त परिचय इस प्रख्यात वाक्य मे मिलता है—

ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

(क) ब्रह्म सत्य है; (ख) जगत् मिथ्या है; (ग) जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है। यही वेदान्त का डिंडिम घोष है।

साधना-मार्ग

अद्वैत वेदान्त वास्तव में जीवन-दर्शन का एक प्रमुख साधना-मार्ग है। यह कोरा ज्ञान-मार्ग नहीं है, प्रत्युत जीवन की सफलता के लिए एक नितान्त प्रयोजनीय उपाय है। वेदान्त की साधना की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। साधक को प्रथमतः वैराग्य सम्पन्न होने की आवश्यकता है। मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि घर में अतिथि के समान रहे; किसी भी स्तुत्य अथवा तुच्छ विषय को दैववशात् स्थित या गया हुआ देखकर न तो सन्तुष्ट हो और न दुःख ही माने। मुमुक्षु के लिए वैराग्य का होना प्रथम आवश्यक गुण है। शंकराचार्य का कथन है कि जो पुरुष वैराग्य से युक्त है, सदा प्रसन्न चित्त रहता है, किसीसे किसी वस्तु की आशा नहीं रखता, ऐसे बिना प्रार्थन किये हुए फल को भोगनेवाले पुरुष के लिए इसी जन्म में कृतार्थता होती है—

वैराग्यभाग्य भाजः प्रसन्नमनसो निराशस्य।
अप्रार्थितफलभोक्तः पुंसो जन्मनि कृतार्थतेह स्यात्॥

साधना का दूसरा सोपान है—योग्य गुरु से उपदेश पाना। 'गुरु बिन होय न ज्ञान'—यह कथन व्यवहार तथा अध्यात्म दोनों दृष्टियों से यथार्थ है। गुरु की उपयोगिता के विषय में श्री शंकराचार्य ने एक बड़े ही सुन्दर उदाहरण की अवतारणा की है। उनका कथन है कि साधक चातक के समान और गुरु मेघ के समान होता है। मेघ में रहनेवाला समुद्र का जल सामने भरा पड़ा हुआ भले ही रहे और उसे ऊपर उड़ानेवाला प्रेरक वायु भी भले ही वहां वर्तमान हो, परन्तु प्यास से तड़फड़ाता हुआ चातक मेघ की ही प्रतीक्षा करता है। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वत्र विराजमान है, उसके वर्णन करनेवाले शास्त्र भी बहुत-से हैं, तथापि जिज्ञासु सर्वदा गुरु की ही अपेक्षा रखता है—

यद्यपि जलधेरुदकं यद्यपि वा प्रेरकोऽनिलस्तत्र।
तदपि पिपासाकुलितः प्रतीक्षते चातको मेघम्॥

वेदान्त का कथन है कि किसी तथ्य की प्रतीति तीन वस्तुओं के सम्मिलन का परिणत फल है। ये तीन पदार्थ हैं—शास्त्र, गुरु तथा आत्मा। आदिम प्रतीति शास्त्र से होती है—गुड़ मीठा होता है। दूसरी प्रतीति गुरु के द्वारा होती है जैसे दूर से गुड़ का दर्शन करना। हम यहां अनुभूति की ओर एक डग आगे अवश्य बढ़ते हैं, परन्तु यह अभी तक परोक्ष ज्ञान ही बना रहता है। गुरु उपदेश देकर हमें वस्तु के रूप को समझाता है, परन्तु यह द्वितीय श्रेणी का ही ज्ञान होता है। अन्त में गुरुपदेश के अनन्तर होती है—आत्मा से प्रतीति अर्थात् अन्तःकरण के द्वारा वस्तु का साक्षात् अनुभव। यही वेदान्त की 'अपरोक्ष अनुभूति' है। गुड़ के मिठास का ज्ञान हमें तभी होगा जब हम गुड़ की एक डली को अपने मुंह में रखकर चूसेंगे या खायेंगे। बिना इस अनुभव के गुड़ का माधुर्य हमारे लिए आकाश कुसुम से ज्यादा उपयोगी नहीं होगा। किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए यही प्रतीति का क्रमिक विकास है—

१. शास्त्र से प्रतीति—परोक्ष उपदेश
२. गुरु से प्रतीति—साक्षात् सद्यः उपदेश
३. आत्मा से प्रतीति—अपरोक्ष ज्ञान।

त्रेधा प्रतीतिरुक्ता शास्त्राद् गुरुतस्तथात्मनस्तत्र।
शास्त्र प्रतीतिरादौ यद्वन्मधुरो गुडोऽस्तीति॥
अग्रे गुरु प्रतीतिर्दूराद् गुडदर्शनं यद्वत्।
आत्मप्र तीतिरस्माद् गुडभक्षणजं सुखं यद्वत्॥

—प्रबोध-सुधाकर, श्लोक ८८-८९

प्रतीति की यह वेदान्ती प्रक्रिया पूर्ण वैज्ञानिक है। आजकल भी किसी तथ्य की जानकारी तबतक नहीं होती जबतक शास्त्र तथा गुरु के द्वारा उपदिष्ट छात्र उस वस्तु को प्रयोगशाला में स्वयं प्रयोग करके सिद्ध नहीं कर लेता, अपरोक्ष प्रतीति या अनुभूति में गुरु का स्थान ठीक मध्य में है। साधक किसी शास्त्रजन्य प्रतीति को आत्मानुभूति के रूप में लाना चाहता है, तब उसे गुरु के उपदेश की आवश्यकता होती है। गुरु वह माध्यम है, जिसके

द्वारा शास्त्र-प्रतिपाद्य तथ्य साधक के अनुभव का पूर्ण भाजन बनता है। प्रत्येक साधना-मार्ग की भांति वेदान्त का गुरु के ऊपर विशेष आग्रह है।

गुरु का स्थान

प्रत्येक धर्म में, विशेषतः भारतवर्ष में उदय लेनेवाले धर्मों में गुरु का स्थान बड़ा ही ऊंचा और गौरवास्पद माना जाता है। गुरु अथवा आचार्य की सहायता के बिना कोई भी साधक अपने साधना-मार्ग में अग्रसर नहीं हो सकता। 'गुरु' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी उसकी महनीयता तथा गरिमा का स्पष्ट द्योतक है। 'गुरु' शब्द 'गु' अन्धकार का वाचक माना जाता है और 'रु' उसका दूर करनेवाला। फलतः 'गुरु' वह व्यक्ति होता है, जो अपने ज्ञान की सहायता से साधक के चित्त को मलिन बनानेवाले और उसकी दृष्टि को बन्द करनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर देता है तथा उसके नेत्र का उन्मीलन कर देता है—

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवेनमः॥

पुरुष में दिव्य दृष्टि का होना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है, परन्तु अज्ञान या माया के चक्कर में पड़नेवाला जीव अपना गन्तव्य स्थान भूलकर इधर-उधर भटका करता है। वह अपने गन्तव्य स्थान को न तो जानता है और न उधर जाने का उपाय ही करता है। सांसारिक जीव की यही स्थिति होती है। गुरु का उपयोग यही है कि वह अन्धे को दिव्य दृष्टि का दान करता है, स्वरूप-विस्मृत को आत्मस्वरूप का दर्शन कराता है, वह प्रज्ञानेत्र को खोल देता है।

गुरु माध्यम का काम करता है। जीव तथा भगवान् को एक सूत्र में बांधने का काम गुरु करता है। भगवान् को दूरस्थ तथा अगम्य मानकर जीव सर्वदा खिन्न तथा विषण्ण होता रहता है, परन्तु गुरु भगवान् को निकट लाकर शिष्य के लिए सुगम तथा सुबोध बना देता है। जिस प्रकार स्नेही पिता अपने भूले-भटके पुत्र को स्नेह तथा दया के वशीभूत होकर घर पर लाता है, उसी प्रकार गुरु भी भूले-भटके साधक को, अपने असली घर को भूलकर भटकनेवाले जीव को, उसके गन्तव्य स्थान पर पहुंचा देता है, जो भगवान् का धाम होता है। इसके लिए गुरु शिष्य को इष्ट मन्त्र की दीक्षा

देता है। दीक्षा का अर्थ ही है भगवान् की कृपा-प्राप्ति का उपाय बतलाना, जिससे प्रसुप्त चैतन्य जागरित होकर मानव-जीवन में कार्यशील बनता है। ज्ञान का दान तथा पशुबन्धन को क्षीण करनेवाला साधन ही दीक्षा कहलाता है—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धना।
दान-क्षपण-संयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तितः॥

उपनिषद् की स्पष्टवाणी है—**आचार्यदेवो भव**, अर्थात् अपने आचार्य को देव समझो और किसी महनीय देव के लिए उचित आदर तथा श्रद्धा की भावना गुरु में सर्वदा बनाये रखो; क्योंकि बिना आचार्य के ज्ञान का उदय नहीं होता। उपनिषदों की महनीय वाणी है—**आचार्यवान् पुरुषो वेद**, अर्थात् आचार्यवान् पुरुष ही ज्ञान को प्राप्त करता है। दिव्य ज्ञान की उपलब्धि उसी व्यक्ति को होती है, जो गुरु की कृपा पाने में सफल होता है। इस विषय में उपनिषद् में एक रोचक आख्यायिका उपलब्ध होती है। कोई व्यक्ति गन्धार देश जाना चाहता था। उसने अनेक उद्योग किये, परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। अन्ततः वह ऐसे पुरुष के पास पहुंचा, जिसने गन्धार देश को देखा था। उसकी शिक्षा के सहारे वह साधक भी गन्धार पहुंचने में समर्थ हुआ। इस कथा से गुरु की गरिमा का पता हमें चलता है; साथ-ही-साथ गुरु के स्वरूप का भी ज्ञान हमें होता है। आजकल के तथाकथित गुरुओं के समान आदर्श गुरु ज्ञान का बोझ लिये हुए ही इधर-उधर नहीं भटकता। वह स्वयं ज्ञानी तो होता है; पर साथ-ही-साथ वह उस ज्ञान को क्रिया रूप में परिणत कर अपने जीवन को उदात्त बनाने में समर्थ भी होता है। आचार्य का यही आदर्श है। मनु का कहना है कि आचार्य शास्त्र के अर्थों का चयन करता है (आचिनोति), स्वयं धर्म का आचरण करता है (आचरति) तथा उस धर्म का अन्यों से, शिष्य-साधकों से, आचरण करवाता है (आचारयति)। तभी वह आदर्श आचार्य अथवा गुरु की योग्यता से मण्डित होता है। भगवान् बचावे आजकल के दम्भी गुरुओं से, जो सर्वज्ञ होने का दावा करते हैं और शिष्यजनों को ठगकर अपना गौरव तथा यश बढ़ाया करते हैं।

ज्ञान-धारा या ज्ञान-गंगा का मूल स्रोत तो स्वयं परमात्मा ही है। इस-

लिए ज्ञान का आद्य उपदेशक होने के कारण भगवान् ही आदि गुरु हैं। महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्रों में ईश्वर के विषय में इसी तत्त्व को दुहराया है—पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (योगसूत्र, १।२६)। जितने प्राचीन गुरु हैं, वे समय के द्वारा अवच्छिन्न हैं अर्थात् सब गुरु किसी काल विशेष के द्वारा अवच्छिन्न हैं। परन्तु ईश्वर ही पूर्व आचार्यों का भी गुरु है, क्योंकि वह काल के द्वारा अवच्छिन्न नहीं होता। कहने का तात्पर्य है कि ज्ञान की धारा सबसे पहले परमात्मा से ही आरम्भ होती है। बिना ईश्वर की कृपा के ज्ञान का उदय हो ही नहीं सकता। इसलिए सच्चा गुरु तो ईश्वर ही है। देहधारी मानव गुरु उसी ईश्वरीय गुरु का मानव-प्रतिनिधि होता है। तन्त्र-सार में चार प्रकार के गुरुओं का उल्लेख मिलता है—

१. गुरु—उपदेष्टा,

२. परम गुरु—मन्त्रद्रष्टा ऋषि,

३. मन्त्र-शक्ति—(जिसमें मन्त्र अभिव्यक्त होता है) और

४. महाकाल—(अनादिनाथ, परमेष्ठी गुरु या परात्पर गुरु)।

इस प्रकार उपदेशक का महत्त्व साधना में विशेष है। सन्त लोग तो गोविन्द से भी गुरु का स्थान ऊंचा मानते हैं। बात यह है कि गोविन्द एक दुरूह तत्त्व है, जिसे सुबोध बनाने की क्षमता गुरु में ही होती है, क्योंकि वह आत्म-साक्षात्कार से सम्पन्न होता है, वह ईश्वर को जानता है और इसी-लिए उसे बतलाने में कृतकार्य होता है।

शिष्य को वेदान्त-ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त 'साधन चतुष्टय' से सम्पन्न होना आवश्यक है। साधन वे आवश्यक गुण हैं, जिनका सम्पादन साधक के लिए बहुत ही आवश्यक है। 'साधन चतुष्टय' के नाम ये हैं—

१. **नित्यानित्य वस्तु विवेक**—नित्य और अनित्य वस्तुओं में परस्पर पृथक् होने का ज्ञान। ब्रह्म सत्य तथा नित्य पदार्थ है तथा जगत् अनित्य है। ऐसा निश्चय कर लेना प्रथम साधन है।

२. **इहामुत्रफलभोग विरागः**—इस लोक में और परलोक में फल के भोगने से वैराग्य। दर्शन और श्रवणादि के द्वारा देह से लेकर ब्रह्मलोक-पर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग्य पदार्थों में जो घृणा-बुद्धि है, वही 'वैराग्य' कहलाता है। वैराग्य का होना साधन का दूसरा सोपान है।

३. **शमादि षट् सम्पत्ति**—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान—इन छः सम्पत्तियों की प्राप्ति तीसरा साधन है—

(क) शम—बारम्बार दोष-दृष्टि करने से विषयसमूह से विरक्त होकर जब चित्त लक्ष्य में स्थिर हो जाता है, तब उसे शम कहते हैं।

(ख) दम—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय—दोनों को अपने विषयों से खींचकर अपने-अपने गोलकों में स्थिर करना 'दम' कहलाता है।

(ग) उपरति—वृत्ति का बाहरी विषयों का आश्रय न लेना 'उपरति' कहलाता है। चक्षु बाहरी रूपों को देखता है, पर उसे बाहरी विषयों से हटा लेना 'उपरति' है।

(घ) तितिक्षा—चिन्ता और शोक से रहित होकर बिना कोई प्रतिकार किये सब प्रकार के कष्टों का सहन करना 'तितिक्षा' कहलाता है।

(ङ) श्रद्धा—**गुरु वेदान्त वाक्येषु विश्वासः श्रद्धा** अर्थात् गुरु के वचन में तथा वेदान्त के वाक्य में विश्वास कि ये सर्वथा सत्य हैं, 'श्रद्धा' कहलाता है।

(च) समाधान—बुद्धि को सब प्रकार से शुद्ध ब्रह्म में ही स्थिर करना 'समाधान' है (सम्=ठीक रूप से, आधान=रखना, चित्त को शुद्ध ब्रह्म में)।

४. **मुमुक्षता**—संसार के दुःखों से मुक्ति पाने की तीव्र अभिलाषा। संसार के विषयों में जबतक दोषदृष्टि नहीं होती, तबतक उन्हें छोड़ने को चित्त नहीं करता। बन्धन से छुटकारा पाने की इच्छा तीव्र होनी चाहिए।

ये ही चार एक साथ 'साधन चतुष्टय' कहलाते हैं। आचार्य शंकर की मान्यता है कि मुक्ति की कारण भूत सामग्री में भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है। परन्तु भक्ति है क्या? **स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।** अपने सच्चे रूप का बारम्बार चिन्तन करना ही भक्ति कहलाता है। साधक को चाहिए कि मुख्यतया भक्ति का आश्रय ग्रहण करे, अर्थात् बाहरी प्रपंचों को छोड़कर अपने आत्मा के सच्चे रूप का चिन्तन सर्वदा करते रहना चाहिए कि आत्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाववाला है। यह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त आदि से सर्वथा भिन्न है। यह अनुसन्धान बहुत

ही आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब चित्त अन्तर्मुख होता है। बहिर्मुख चित्त में प्रपंच ही भासता है और अन्तर्मुख चित्त में आत्मा भासता है—यही तथ्य है। इस तथ्य पर दृढ़ आस्था रखकर साधक को अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना चाहिए। इतने गुणों से सम्पन्न होने पर साधक किसी योग्य गुरु के पास उपदेश के निमित्त जाता है।

शिक्षा-विधि

ब्रह्म निष्प्रपंच तत्त्व है। उसकी शिक्षा देना ही गुरु का कार्य है, परन्तु यह शिक्षा होगी कैसे? ब्रह्म का न तो कोई लक्षण है, जिसके द्वारा वह लक्षित किया जा सके; न उसमें कोई गुण है कि उसकी सहायता से उसका रूप समझा जाय। परन्तु प्रपंच के भीतर से ही तो निष्प्रपंच के ज्ञान का उदय होता है। इसके लिए गुरु 'अध्यारोप और अपवाद' विधि का आश्रय लेता है। किसी अज्ञात वस्तु के ज्ञान के लिए यही विधि पूर्णतया उपयोगी, लाभदायक और वैज्ञानिक है। 'अध्यारोप' निष्प्रपंच ब्रह्म में जगत् का आरोप कर देता है और अपवाद से आरोपित वस्तु का युक्ति के द्वारा एक-एक करके निराकरण कर दिया जाता है। आत्मा के ऊपर पहले तो शरीर का आरोप किया जाता है कि आत्मा ही शरीर है, इन्द्रिय है, मन है आदि। तदनन्तर युक्ति के बल से यह सिद्ध किया जाता है कि आत्मा पांचों कोषों से भिन्न है; स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से चैतन्य को पृथक् कर देने पर अन्त में जो शुद्ध बोध बच जाता है, वही आत्मा है। इस विषय में आचार्य शंकर ने मूंज का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण दिया है। पाठक जानते हैं कि मूंज के भीतर एक लम्बी सींक होती है, जिसके ऊपर अनेक तह मूंज के जमे हुए होते हैं। बाहर से देखने में वह सींक दिखलाई नहीं पड़ती। प्रयत्न करके उन तहों को अलग करने पर सींक निकाल ली जाती है अथवा बाहरी तह ज्यों-की-त्यों बनी ही रहती है, परन्तु होशियार आदमी उनके भीतर से उस सींक को निकालने में समर्थ होता है। ठीक आत्मा के पहचानने की भी यही प्रक्रिया है।

मुञ्जादिषीकामिव दृश्यवर्गात्
प्रत्यञ्चमात्मानमसङ्गमक्रियम् ।

विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं
तदात्मना तिष्ठति यः स मुक्तः ।।

—विवेक-चूड़ामणि, श्लोक १५५

—मूंज में से जैसे सींक (इषीका) युक्ति के सहारे अलग कर दी जाती है, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने असंग और अक्रिय प्रत्यग् आत्मा का दृश्य-वर्ग से पृथक् कर देता है और उसका उसीमें लय करके आत्मभाव में स्थित होता है, वही 'मुक्त' है। भागवत में भी इस दृष्टान्त का प्रयोग किया गया है **'एरकां कटकृद् यथा'** (भाग १, प्रथम स्कन्ध)। इस प्रकार साधक को ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति होती है और तभी उसे मोक्ष प्राप्त होता है।

शास्त्र के द्वारा जो अनुभूति होती है, वह परोक्ष होती है। परन्तु गुरु के द्वारा जो उपदेश दिया जाता है, उससे अपरोक्षानुभूति सद्यः हो जाती है। इस विषय में वेदान्त-ग्रन्थों में एक बड़ा ही रोचक दृष्टान्त दिया गया है—**'दशमस्त्वमसि'**='तुम दसवां हो'। आख्यायिका का सार यह है कि कहीं गांव से काशी में चन्द्रग्रहण के अवसर पर कुछ तीर्थयात्री आये। वे संख्या में दस थे। नहाने के पहले उन्होंने अपनी गिनती कर ली। स्नान के अनन्तर जब गिनती होने लगी तब एक की कमी हो गई। बारी-बारी से सब लोगों ने गणना की, परन्तु एक की कमी बनी ही रही। कमी का कारण यह था कि गिननेवाला अपनेको उसमें सम्मिलित ही नहीं करता था; वह दूसरे साथियों को ही गिनता था। सब चिल्लाकर रोने लगे—हाय, हमारा एक साथी गंगा में डूब गया। मणिकर्णिका घाट पर बड़ा हो-हल्ला मचा। एक जानकार आदमी बेवकूफी का यह सब दृश्य देख रहा था। वह अपने सामने गिनती गिनाने लगा। जब गिननेवाला नव की गिनती करने के बाद ठिठक रहा, तब उस विज्ञ पुरुष ने उसके पीठ पर एक घूंसा मारकर जोरों से कहा—**दशमस्त्वमसि**—तुम ही तो दसवां हो। बस, क्या था ? यात्रियों में आनन्द की लहर दौड़ गई। वे अपने कल्पित डूबे साथी को पाकर प्रसन्न हो गये। शब्द के उच्चारण से ही उन्हें एक साथ ही ज्ञान तथा आनन्द हो गया। ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति का यही प्रकार है।

विद्यारण्य स्वामी ने अपनी 'पंचदशी' के तृप्तिदीप प्रकरण में (२३-२८ श्लोक) इस दृष्टान्त का विश्लेषण कर इसके भीतर सात अवस्थाओं का निर्देश किया है—१. अज्ञान, २. आवरण, ३. विक्षेप, ४. परोक्ष ज्ञान, ५. अपरोक्ष ज्ञान, ६. तृप्ति तथा ७. शोक-नाश। इन्हें उदाहरण से समझिये।

१. दसवां व्यक्ति नहीं है (अज्ञान),

२. न दसवां मुझे प्रतीत होता है और न दसवां है ही (आवरण),

३. यात्रियों का यह कल्पना कर रोना कि दसवां नदी में डूबकर मर गया (विक्षेप),

४. आप्त पुरुष के कहने पर कि दसवां मरा नहीं है, बल्कि वह यहां विद्यमान है, जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष ज्ञान हुआ (परोक्ष ज्ञान),

५. आप्त व्यक्ति के इस कथन से कि तुम ही दसवां हो, वह व्यक्ति जान लेता है कि मैं ही दसवां हूं। इस कथन से उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है कि मैं ही दसवां हूं। (अपरोक्ष ज्ञान),

६. सब यात्रियों को तृप्ति होती है कि उनके सब साथी जीवित हैं, कोई मरा नहीं है (तृप्ति),

७. वे सब अपने शोक को खो देते हैं। प्रसन्न होते हैं कि उनका कोई भी साथी गंगा में डूबकर नहीं मरा (शोक-नाश)।

गुरु के उपदेश से होनेवाले ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति में भी ये ही सातों अवस्थाएं विद्यमान रहती हैं। गुरु ने उपदेश दिया—तत्त्वमसि—तुम ही ब्रह्म हो। इसे सुनते ही उसे ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है और वह आनन्द से प्रसन्न हो जाता है। इन सातों अवस्थाओं को अब समझिये—

१. विषयोपार्जन के ध्यान में आसक्त पुरुष स्वयं-प्रकाश कूटस्थ आत्म-तत्त्व को नहीं जानता (अज्ञान दशा),

२. चिदात्मा के विषय में वह सदा यही कहता है—कूटस्थ का न तो मुझे भान ही होता है और न वह है ही (आवरण),

३. वह कहने लगता है—मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं (विक्षेप),

४. कोई व्यक्ति उससे बातचीत में कहता है कि कूटस्थ है, तब उसमें

आत्मा के विषय में परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है (परोक्ष ज्ञान),

५. वह उस वचन पर विचार कर इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि कूटस्थ मैं ही हूं, तब यह पांचवीं दशा उत्पन्न होती है (अपरोक्ष ज्ञान),

६. जब उसे कूटस्थ असंग आत्मा का ज्ञान हो जाता है, तब अपनेको कर्ता, भोक्ता आदि मानने से जो शोक उत्पन्न होते हैं, वे सद्यः नष्ट हो जाते हैं, यह छठी दशा हुई (शोकापगम),

७. अन्त में साधक को यह ज्ञान हो जाता है कि जो कुछ मुझे करना था, वह कर लिया तथा जो पाना था, वह पा लिया। मैं कृतकृत्य हो गया। अब करणीय शेष नहीं रहा। यह अन्तिम अवस्था है (तृप्ति)।

ध्यान देने की बात है कि ये सातों अवस्थाएं चिदाभास की ही हैं, कूटस्थ की नहीं। ये सातों बन्ध तथा मोक्ष के भीतर समाविष्ट हो जाती हैं। इनका विभाजन इस प्रकार है—

बन्ध—अज्ञान, आवरण तथा विक्षेप।

मोक्ष—परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान, शोक-नाश तथा तृप्ति।

मुक्ति का स्वरूप

मुक्ति का स्वरूप समझने के लिए वेदान्ती लोग एक बड़ा सुन्दर दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं। किसी मनुष्य के गले में सोने का हार था, परन्तु वह उसे भूलकर इधर-उधर खोजता था। किसी जानकार व्यक्ति ने बतलाया कि हार उसीके गले में लटक रहा है। फलतः उसे अपने हार का पता चला, जो वहीं उसके गले में लटक रहा था। मुक्ति की भी यही दशा है। जीव तो स्वभाव से शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाववाला है। मुक्ति तो स्वभाव-सिद्ध है। वह न तो प्राप्य है और न उत्पाद्य। अतः उसकी प्राप्ति और उत्पादन के लिए उसे परिश्रम तथा उद्योग करने की आवश्यकता नहीं होती। गुरु के उपदेश से उसे विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है और उसके होते ही मुक्ति उसके सामने अपने वैभव के साथ प्रकाशित होने लगती है। दुःख का पूर्ण नाश हो जाता है और आनन्द विराजने लगता है। अतः वेदान्त में मुक्ति की दशा आनन्दमयी दशा है। मुक्ति दो प्रकार की होती है—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। शरीर धारण करते हुए भी जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह है—जीवन्मुक्ति। शरीर-त्याग के अनन्तर होनेवाली मुक्ति 'विदेहमुक्ति' कही

जाती है। अद्वैत मत में साधना का यही लक्ष्य है—आत्मरूप में प्रतिष्ठित हो जाना। आत्मा सच्चिदानन्द रूप ठहरा। फलतः आत्मरूप में प्रतिष्ठित होने पर जीव सच्चिदानन्द रूप हो जाता है।

संक्षेप में वेदान्त का परिनिष्ठित यही है कि जीव और सम्पूर्ण जगत् केवल ब्रह्म ही है। उस अद्वितीय ब्रह्म में निरन्तर अखण्ड रूप से स्थित रहना ही मोक्ष है। ब्रह्म अद्वितीय है—इस विषय में श्रुतियां प्रमाण हैं—

वेदान्त सिद्धान्त-निरुक्तिरेषा
ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च।
अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो
ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम्॥

—विवेक-चूड़ामणि, श्लोक ४७९

खण्ड ४

वेदान्त के इतर सम्प्रदाय

१. रामानुज-मत
२. निम्बार्क-मत
३. माध्व-मत
४. चैतन्य-मत
५. वल्लभ-मत
उपसंहार

वेदान्त के इतर सम्प्रदाय

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता—ये तीनों मान्य ग्रन्थ प्रस्थान-त्रयी नाम से विख्यात हैं। इनकी दार्शनिक दृष्टि के सम्बन्ध में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। वेदान्त के इतिहास और उसके विकास को समझने के लिए इस मतभेद का ज्ञान होना आवश्यक है। दार्शनिक दृष्टि से इस मतभेद के आधार पर तीन प्रख्यात मत हैं—'अद्वैत', 'द्वैत' तथा 'द्वैताद्वैत'।

१. मूलतत्त्व एक अद्वितीय है—(अद्वैत)।

२. मूलतत्त्व परमात्मा तथा जीव दोनों मूलतः भिन्न हैं—(द्वैत)।

३. परमात्मा तथा जीव भिन्न भी हैं तथा अभिन्न भी, एक भी हैं तथा अनेक भी। यह पूर्व दोनों मतों का मिश्रण है—(द्वैताद्वैत)।

इन तीनों मुख्य पक्षों में द्वैतवाद का कोई भी अवान्तर पक्ष नहीं है। अद्वैत के अन्तर्गत चार अवान्तर पक्ष हैं—केवल रूप से ब्रह्म अद्वैत है—यह मत है शंकराचार्य का। माया-सम्बन्ध से रहित ब्रह्म एक है—यह शुद्धाद्वैत मत है वल्लभाचार्य का। चिद् तथा अचिद् से विशिष्ट ब्रह्म एक अद्वितीय है, यह विशिष्टाद्वैत दो अवान्तर भागों में विभक्त किया जा सकता है—एक आचार्य रामानुज का और दूसरा श्रीकण्ठ का। दोनों में अन्तर इतना ही है कि रामानुज के अनुसार परमात्मा की संज्ञा 'लक्ष्मी-नारायण' है, तो श्रीकण्ठ के अनुसार वह 'शिव' है। चौथे प्रकार के अद्वैत के समर्थक विज्ञानभिक्षु हैं, जिन्होंने 'अविभागाद्वैत' का प्रतिपादन किया है। इस मत में जगत् के समस्त पदार्थों से अविभक्त ब्रह्म एक अद्वैत तत्त्व है। 'द्वैताद्वैत' के अन्तर्गत तीन अवान्तर पक्ष मिलते हैं—

क. भर्तृप्रपंच—परमार्थ एक भी है तथा नाना भी। ब्रह्मरूप से एक है तथा जीवरूप से नाना है। जीव का नानात्व औपाधिक नहीं, अपितु

वास्तविक है। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र-तरंग-न्याय से द्वैताद्वैत है। समुद्र-रूप से समुद्र की एकता है तथा विकार रूप से (वीची, तरंग, बुद्बुद की दृष्टि से) नानात्व है। ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय से संसार के बन्धन से जीव मुक्त होता है—न केवल कर्म और न केवल ज्ञान से, अपितु दोनों के समुच्चय से (समुच्चयवादी)।

ख. भास्कर—यह सोपाधिक भेदाभेद मानते हैं। जीव अणु रूप है तथा ब्रह्म का अग्निस्फुलिंगवत् अंश है। जीव तथा ब्रह्म का अभेद स्वाभाविक है और भेद उपाधिजन्य है। कारण-रूप से अभेद है तथा कार्य-रूप से भेद है, जिस प्रकार सुवर्ण रूप से अभेद है, परन्तु कुण्डल, कटक आदि आभूषणों की दृष्टि से भेद है। निष्कर्ष यह है कि जीव का भेद उपाधियों के द्वारा होता है और इसीलिए इस मत की संज्ञा है 'सोपाधिक भेदाभेद'।

ग. इस मत के अनुसार भेदाभेद स्वाभाविक है। इस मत के व्याख्याता तथा पुरस्कर्ता आचार्य निम्बार्क हैं।

केवलाद्वैत अथवा अद्वैत वेदान्त का सविस्तर विवेचन 'वेदान्त' शीर्षक से पिछले खण्ड में कर दिया गया है। अन्य सम्प्रदायों का परिचय क्रमशः उनके पुरस्कर्ता प्रमुख आचार्यों के नामों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—रामानुज मत

यह मत रामानुज के द्वारा विशेषतः व्याख्यात होने के कारण ही उनके नाम से प्रख्यात है, अन्यथा इसका नाम है विशिष्टाद्वैत। इस मत के अनुसार तत्त्व तीन होते हैं—'चित्' (जीव), 'अचित्' (जगत्) तथा 'ईश्वर'।

ईश्वर

इन तीनों में ईश्वर ही प्रधान तत्त्व है। वह स्वतन्त्र तथा नियामक होता है। जीव तथा जड़—ये दोनों ईश्वर के अधीन रहते हैं। जीव तथा जगत् वस्तुतः नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं, परन्तु वे ईश्वर की अधीनता में ही रहते हैं। इसका एक कारण है। भोक्ता (जीव) तथा भोग्य (जड़ पदार्थ) के भीतर ईश्वर अन्तर्यामी रूप से रहता है अर्थात् वह इन दोनों के

भीतर रहकर इन्हें प्रेरणा दिया करता है और इसीलिए वह 'अन्तर्यामी' नाम से पुकारा जाता है। इसलिए चित् तथा अचित् ईश्वर के शरीर या प्रकार माने जाते हैं।

अद्वैतियों के समान रामानुज ब्रह्म (निर्गुण) तथा ईश्वर (सगुण) में पार्थक्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि में ब्रह्म सर्वदा सगुण ही होता है, 'निर्गुण' कभी नहीं हो सकता। तो उपनिषदों में ब्रह्म को निर्गुण कहने का तात्पर्य क्या है? इसका आशय इतना ही है कि अल्पज्ञ जीव के राग-द्वेष आदि गुण उसमें विद्यमान नहीं रहते, अन्यथा वह कल्याण-गुणों का आकर है, अनन्त ज्ञान, आनन्दरूप तथा ज्ञान, शक्ति आदि अनन्त कल्याण-गुणों से विभूषित रहता है। हेय गुणों से शून्य होने से ही वह निर्गुण कहलाता है। वेदान्तियों की दृष्टि में भेद तीन प्रकार का होता है—

१. **सजातीय भेद**—उसी जाति के पदार्थ का उसी जाति के अन्य पदार्थ से भिन्न होना। जैसे एक गाय का दूसरी गाय से भेद।

२. **विजातीय भेद**—एक जाति के पदार्थ का दूसरी जाति के पदार्थ से भेद। जैसे गाय का भैंस से भेद। दोनों की जातियां भिन्न हैं।

३. **स्वगत भेद**—किसी वस्तु के एक अंग का दूसरे अंग के साथ भेद। जैसे गाय के सींग तथा पूंछ में भेद।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म में ये तीनों भेद पाये जाते हैं, परन्तु रामानुज के अनुसार ब्रह्म में पहले के दो भेद तो अवश्यमेव मिलते हैं, परन्तु अन्तिम भेद नहीं मिलता। ईश्वर का चिद् अंश अचिद् अंश से भिन्न होता है। फलतः ईश्वर में स्वगत भेद विद्यमान रहता है। दोनों मतों की ईश्वर-कल्पना में यह भी पार्थक्य का एक विषय है। ईश्वर के साथ चित् तथा अचित् का सम्बन्ध है अंश-अंशी का। ईश्वर अंशी है तथा चित्-अचित उसके अंश हैं—आत्मा तथा शरीर की भांति। ईश्वर इन दोनों को भीतर से नियमित करता है और इसलिए वह 'अन्तर्यामी' कहलाता है। शरीर यदि अन्धा या लंगड़ा हो जाय तो आत्मा क्या इन दोषों से संस्पृष्ट होता है? नहीं, कभी नहीं। उसी प्रकार चिदचिद् के दोषों से ईश्वर संस्पृष्ट नहीं होता।

जीव, जगत्

चित् या जीव देह, इन्द्रिय, प्राण तथा मन से विलक्षण होता है। वह नित्य, अनन्त, आनन्दमय तथा अणु होता है। जीव को अणु मानना वैष्णव दर्शनों की विशिष्टता है। इससे विपरीत शंकर जीव को विभु मानते हैं। ऊपर जीव ईश्वर का अंश बतलाया गया है। इसका अर्थ यही है कि चिनगारी जैसे अग्नि का अंश है, देह देही का अंशहै, वैसे ही जीव ब्रह्म का अंश है। एक और भी सम्बन्ध दोनों में है—विशेषण-विशेष्य भाव का। जीव विशेषण है तथा ईश्वर है विशेष्य। जड़ तथा ईश्वर का सम्बन्ध भी इसी प्रकार है। जगत् या जड़ विशेषण है तथा ईश्वर विशेष्य है। रामानुज ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादी हैं, अर्थात् उनकी दृष्टि में न ज्ञान के द्वारा, न कर्म के द्वारा, प्रत्युत ज्ञान-कर्म के सम्मिलन द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विशिष्टाद्वैत का अर्थ

इस मत के नामकरण का क्या रहस्य है? इस मत के अनुसार ऐसी दशा कभी नहीं होती जब ब्रह्म विशिष्टता से हीन रहे, चाहे प्रलय-काल में वह कारण ब्रह्म के रूप में हो अथवा सृष्टिकाल में कार्य ब्रह्म के रूप में हो। प्रलयकाल में ब्रह्म सूक्ष्म चिदचित् से विशिष्ट होता है और सृष्टि-काल में ब्रह्म स्थूल चिदचित् से विशिष्ट रहता है। 'विशेष' रहता है प्रत्येक दशा में, प्रत्येक क्षण में। इस प्रकार विशिष्ट ब्रह्म का अर्थात् चित्-अचित् से विशिष्ट ब्रह्म का अद्वैत यहां अभीष्ट है। जहां शांकर अद्वैत 'केवलाद्वैत' कहलाता है, वहां उससे भिन्नता दिखलाने के लिए यह मत 'विशिष्टाद्वैत' की संज्ञा पाता है।

साधन तत्त्व

ईश्वर की प्राप्ति भक्ति के द्वारा ही प्राप्य है। भक्तों के ऊपर ही भगवान् का अनुग्रह होता है। भक्ति का सूक्ष्म रूप है शरणागति। यही ईश्वर-प्राप्ति का मुख्य साधन है। '**मामेकं शरणं व्रज**' में गीता इसी तत्त्व का स्पष्ट संकेत करती है। बिना शरणापन्न हुए भगवान् की दया जीव के ऊपर नहीं बरसती। फलतः 'शरणागति' ही भगवान् की प्राप्ति का सर्व-श्रेष्ठ सर्वाधिकशायी उपाय है। यामुनाचार्य ने अपने प्रख्यात 'स्तोत्ररत्न'

(या आलवन्दारस्तोत्र) में इस तत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन किया है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमान् त्वच्चरणारविन्दे ।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ।।

—अर्थात् न मैं धर्मनिष्ठ हूं, न आत्मज्ञानी हूं, न भगवान् के चरण कमलों में मेरी भक्ति है। मैं अकिञ्चन—निर्धन हूं। मेरी दूसरी गति नहीं है। मैं आपके शरण देनेवाले तथा उद्धार करनेवाले चरण की शरण में आया हूं।

यही साधन में मुख्य तत्त्व है। इसीके द्वारा साध्य—ईश्वर—की प्राप्ति जीव को सुलभ है। रामानुज-मत का यही संक्षिप्त परिचय है।

२—निम्बार्क-मत

निम्बार्क-मत का दार्शनिक विचार पूर्व-वर्णित रामानुज-मत से बहुत-कुछ मिलता है। अन्तर मौलिक है जीव तथा परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर, परन्तु जीव और ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन अनेक अंशों में समानता रखता है।

जीव

सब दशाओं में कर्ता और भोक्ता है। वह हरि के अधीन सर्वदा रहता है। जीव नियम्य है और ईश्वर नियन्ता है अर्थात् ईश्वर नियमन करता है सर्वदा, मुक्त दशा में भी और जीव सर्वदा उस नियमन में रहता है। मुक्त दशा में भी उसकी यह विलक्षणता च्युत नहीं होती। स्मरण रखने की बात है कि जीव का कर्तृत्व ईश्वर के अधीन है। इस विषय में श्रुति तथा गीता दोनों का प्रामाण्य 'वेदान्त कौस्तुभ' में उद्धृत किया गया है। "ईश्वर जिस व्यक्ति को लोक से ऊपर उठाना चाहता है, उससे वह साधु-कर्म करवाता है और जिसे वह नीचे ले जाना चाहता है, उससे असाधु कर्म करवाता है।" वह मनुष्यों के भीतर प्रवेश कर वहीं से उनका शासन करता है (**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्**)। गीता भी इन्हीं श्रुति-वाक्यों के आधार पर कहती है—

सर्वस्य चाहं हृदि स ंनविष्टः।
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपो ह नं च॥

जीव अणु रूप है तथापि वह समस्त शरीर को अपनी चेतना से उद्भासित करता है, जिस प्रकार घर के एक कोने में रखा गया दीपक समस्त घर को प्रकाशित करता है अथवा जिस तरह ललाट पर रहनेवाला चन्दन समस्त देह को विभूषित करता है। जीव प्रति शरीर में भिन्न है और इसलिए वह अनन्त माना जाता है।

जगत

जड़ तत्त्व (अचित्) चेतनाहीन पदार्थ को कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—१. 'प्राकृत'—महत्तत्त्व से लेकर महाभूतों तक प्रकृति से उत्पन्न जगत्। २. 'अप्राकृत'—प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत जगत्, जैसे भगवान् का लोक, जो 'परमपद', 'परमे व्योमन्', 'विष्णुपद' आदि नामों से अभिहित किया जाता है। ३. 'काल' भी अचेतन पदार्थ है, जो जगत् का नियामक होने पर भी ईश्वर के लिए नियम्य ही होता है।

ईश्वर

यहां ब्रह्म की सगुण रूप से कल्पना मानी गई है। वह समस्त प्राकृत दोषों—अविद्या, अस्मिता आदि—से रहित होता है तथा अनन्त ज्ञान, बल आदि गुणों से सम्पन्न होता है। इस जगत् में जो कुछ भी दृष्टिगोचर है या श्रुतिगोचर है, नारायण उसके भीतर और बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता है। नारायण या कृष्ण के नाम से ईश्वर ही अभिहित किया जाता है। ईश्वर प्राणियों के कर्मों के फलों को वितरण करता है। ईश्वर है सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता, निरतिशय सूक्ष्म, निरतिशय महान् तथा सबको अतिक्रमण करनेवाला। उसकी शक्तियों और सामर्थ्यों की अवधि नहीं है और वह अपनी इच्छामात्र से जगत् की सृष्टि आदि व्यापारों को करता है।

जीव तथा ईश्वर का सम्बन्ध कैसा है? रामानुज के मत में दोनों में अभेद प्रधान है तथा भेद गौण होता है, परन्तु निम्बार्क के मत में भेद तथा अभेद दोनों समान होते हैं। जीव की दो दशाएं होती हैं—बद्ध तथा मुक्त। दोनों दशाओं में जीव-ब्रह्म का सम्बन्ध 'भेदाभेद' रूप है और सम्बन्ध स्वाभा-

विक है। इसका तात्पर्य यह है कि बद्ध और मुक्त दोनों दशाओं में जीव ब्रह्म से भिन्न भी रहता है और अभिन्न भी रहता है। संसारी दशा में जब जीव बद्ध रहता है तब उसके अल्पज्ञ तथा एक देशव्यापी होने के कारण ब्रह्म से उसे भिन्न मानना स्वाभाविक प्रतीत होता है, परन्तु यहां अभिन्नता भी बनी रहती है। जिस प्रकार पेड़ से पत्तों की तथा प्रदीप से प्रभा की पृथक् स्थिति नहीं होती और न पृथक् प्रवृत्ति होती है, बद्ध जीव की भी वैसी ही दशा है। मुक्तावस्था में भी भेदाभेद-भाव रहता है। मुक्त जीव को ब्रह्म से अभिन्न मानना तो उपयुक्त ही प्रतीत होता है, परन्तु छान्दोग्य (८।३।४) मुक्त जीव के प्रसंग में कहती है—**स्वेन रूपेणैव सम्पद्यते**—अर्थात् मुक्तावस्था में जीव अपने ही स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है। इस श्रुति-वाक्य के आधार पर निम्बार्क मुक्तदशा में भी जीव को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं।[1]

आशय है कि जीव-ब्रह्म का स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध है।

साधन-तत्त्व

बन्धन तथा मोक्ष क्या तथा किस प्रकार होते हैं? अनादिकाल से जीव अज्ञान के वश में होकर कर्म करता है और इसी कर्म-सम्बन्ध से उसे 'बन्धन' प्राप्त होता है। मोक्ष होगा इस बन्धन से छुटकारा मिलने पर ही। नारायण के स्वरूप का ज्ञान होने पर ही मोक्ष होता है और यह तभी संभव है जब भगवान् का स्वतः अनुग्रह हो—'**हरेरनुग्रहात् तत्स्वरूपावगतौ मोक्षः**।'[2] अब यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान् का अनुग्रह जीव के ऊपर किस कारण से होता है? उत्तर है—शरणागति से, प्रपत्ति से, भगवान् के शरण में जाने से। 'शरणागति' के तत्त्व का विश्लेषण वैष्णवों ने बड़ी मार्मिकता से किया है। शरणागति के स्वरूप को प्रथमतः समझिये, तब उसके प्रकारों पर दृष्टिपात कीजिये। भगवान् से यह प्रार्थना करना कि मैं अपराधों का भण्डार हूं, दरिद्र हूं तथा मेरी गति अन्यत्र नहीं है, इसलिए आप ही मेरे उद्धार के लिए उपाय बनिये 'शरणागति' कहलाती है—

---

[1] **ब्रह्मसूत्र का 'वेदान्त कौस्तुभ', १।४।२१,** [2] **निम्बार्क-भाष्य**

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः ।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम् ।।

—अहिर्बुध्न्य संहिता ३७।३१

यह शरणागति छः प्रकार की होती है—१. मैं भगवान् के अनुकूल रहूंगा ऐसा संकल्प, २. भगवान् से प्रतिकूलता को छोड़ना, ३. भगवान् मेरी रक्षा करेंगे, इसमें पूर्ण विश्वास, ४. भगवान् को रक्षक वरण करना, ५. अपनेको भगवान् को समर्पण कर देना, ६. नितान्त दीनता (कार्पण्य) । ऐसी शरणागति ही पूर्ण कही जा सकती है, जो भगवान् को अपना अनुग्रह जीव पर करने के लिए विवश करती है । ऐसी शरणागति या प्रपत्ति तो प्रत्येक वैष्णव-सम्प्रदाय में साधन-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित की गई है, परन्तु इसका विशिष्ट विवेचन वैष्णव आचार्य की सूक्ष्म विवेचन-शक्ति का विलास है । तथ्य यह है कि शरण-तत्त्व श्रीभगवद्गीता का चरम लक्ष्य है, जिसकी ओर स्पष्टतः निर्देश किया गया है, और यह गीता है भागवत-धर्म का प्रमुख ग्रन्थ । इसलिए इसपर आस्था रखना प्रत्येक वैष्णव-सम्प्रदाय का मुख्य कर्तव्य है ।

३—माध्व-मत

द्वैत वेदान्त के प्रवर्तक श्री मध्वाचार्य हैं, जिनका नाम आनन्दतीर्थ था। माध्व-मत का अपर नाम 'ब्रह्म सम्प्रदाय' है। वायु से यह मत हनुमान को प्राप्त हुआ; हनुमान से भीम को और भीम से आनन्दतीर्थ को। इनका नाम पूर्ण बोध या पूर्णप्रज्ञ भी है और इसी लिए इसे पूर्णप्रज्ञ-दर्शन के नाम से माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन-संग्रह' में निर्दिष्ट किया है। मध्वाचार्य का जीवन-काल ११९९ ई० से लेकर १३०३ ई० तक माना जाता है।

इनके मत का संक्षिप्त वर्णन यह प्रसिद्ध श्लोक करता है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः, सत्यं जगत्, तत्त्वतो
भेदो, जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः ।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधनम्
अक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः ।।

इस पद्य की व्याख्या तथ्यों के प्रदर्शन के निमित्त इस प्रकार की जा सकती है।

१. **विष्णु की श्रेष्ठता**—विष्णु ही परतम तत्त्व हैं अर्थात् उनसे श्रेष्ठ अन्य तत्त्व की कल्पना इस मत में नहीं है।

२. **जगत्**—जगत् उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार विष्णु। आखिर यह जगत् भगवान् से तो पैदा हुआ है। ऐसी दशा में जगत् की सत्यता अक्षुण्ण है। मध्व अद्वैतवादियों के समान जगत् को माया का कार्य, अतएव 'मायिक' स्वीकार नहीं करते। अद्वैती जगत् की सत्ता को व्यवहार चलाने के लिए मानते हैं और इसे ही वे 'व्यावहारिक सत्ता' की संज्ञा से पुकारते हैं। परन्तु मध्वाचार्य न माया मानते हैं और न जगत् को मायिक जानते हैं। उनकी दृष्टि में जगत् एक सर्वथा ठोस सत्य है, जिसका अपलाप कभी भी नहीं किया जा सकता।

३. **भेद**—(क) जीव तथा परमात्मा का भेद वास्तविक है, यह तो एक प्रकार का भेद हुआ। अन्य चार भेद ये हैं—(ख) ईश्वर का जड़ से भेद, (ग) जीव का जड़ से भेद, (घ) जीव का दूसरे जीव से भेद; (ङ) एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद। इस प्रकार भेद पांच प्रकार के होते हैं और भेद का परिज्ञान मुक्ति का साधन है।

४. **जीव**—जीव भगवान् विष्णु का अनुचर है। वह स्वामी है और जीव दास है। जीव अपने कर्मों के अनुसार नीच-ऊंच गति को प्राप्त करते हैं तथा स्वर्ग, नरक और भू-लोक में विचरण किया करते हैं। प्रधानतया जीव तीन प्रकार के होते हैं—

(क) मुक्तियोग्य—मुक्ति पाने के अधिकारी जीव जो देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती और उत्तम मनुष्य के रूप में पांच प्रकार के होते हैं।

(ख) नित्यसंसारी—यह जीव सदा दुःख-सुख के साथ मिश्रित रहता है और अपने कर्मों के अनुसार नीची और ऊंची गति को पाता है। इसे 'मध्यम मनुष्य' कहते हैं।

(ग) तमोयोग्य—ये तामसिक जीव हैं, जिनमें दैत्य, राक्षस तथा पिशाच के साथ अधम मनुष्यों की भी गणना है।

५. **मुक्ति**—अपने सुख की अनुभूति मुक्ति कहलाती है। माध्व-मत में

मुक्त पुरुषों में भी भेद रहता है। मुक्त जीव आनन्द का अनुभव तो करते हैं अवश्य, परन्तु उनकी आनन्दानुभूति में भी पार्थक्य रहता है। मुक्त जीवों के ज्ञानादि गुणों के समान ही उनके आनन्द में भी भेद रहता है। यह माध्व-मत की विशिष्टता है।

६. **भक्ति**—मुक्ति तो साध्य ठहरा। उसकी प्राप्ति का साधन है निर्मला भक्ति—वह भक्ति, जिसमें किसी हेतु के बिना, किसी फल की अपेक्षा के बिना भगवान् के चरणारविन्द में सहज अनुराग होता है। माध्व-मत में 'दास्य भक्ति' श्रेष्ठ मानी जाती है। भगवान् ठहरे स्वामी और जीव ठहरा उनका दास। ऐसी दशा में दास्य भक्ति ही अमला भक्ति का निदर्शन है।

७. **प्रमाण**—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द ये ही तीन प्रमाण माने जाते हैं। उपमान आदि अन्य प्रमाणों की सत्ता इस मत को मान्य नहीं है।

८. **वेद**—वेद का प्रतिपाद्य विषय हरि स्वयं है। हरि, विष्णु या कृष्ण को छोड़कर अन्य किसी देव की स्तुति वेद में विद्यमान नहीं है। गीता का यह वचन इस मत को सर्वथा मान्य है—**वेदैश्च सर्वं रहमेव वेद्यः**। यह श्रीकृष्ण का वचन है कि सब वेदों के द्वारा मैं ही वेद्य हूं। वेद का प्रतिपाद्य तथा समन्वय विष्णु में ही है।

ये ही आठ बातें माध्व मत के सिद्धान्तों का निष्कर्ष हैं।

४—चैतन्य-मत

चैतन्य-मत माध्व-मत की ही एक शाखा है, जो बंगाल की उर्वर भूमि में विशेष फूला-फला और अपने वैभव से इस पूर्वीय प्रान्त को समधिक महत्त्वशाली बनाया। चैतन्य महाप्रभु (सोलहवीं शती) तथा उनके शिष्यों के द्वारा यह वैष्णव-सम्प्रदाय खूब ही समृद्ध हुआ। इस मत के सिद्धान्त का वर्णन श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस सुन्दर पद्य में बड़ी मार्मिकता के साथ किया है—

> **आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं**
> **रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।**
> **शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्**
> **श्री चैतन्य—महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥**

इस पद्य के भीतर निहित तथ्यों का प्रतिपादन इस प्रकार है—

१. आराध्य तत्त्व—इस मत में आराध्य हैं व्रजाधिपति नन्द बाबा के पुत्र श्री गोपालकृष्ण। श्रीकृष्ण की तीन लीलाएं प्रख्यात है—वृन्दावन-लीला, मथुरा-लीला तथा द्वारिका-लीला। इन तीनों में से वृन्दावन-लीला की प्रमुखता इस मत में मान्य है। अन्य लीलाएं भी गोपीवल्लभ की ही हैं, परन्तु गोपियों के साथ उनकी जो लीलाएं सम्पन्न हुई, वे ऐसी माधुर्यमयी है कि उन्हें छोड़ इस मत का साधक अन्य नीरस लीलाओं के चिन्तन में आसक्त नहीं होता।

२. धाम-तत्त्व—भगवान् का धाम है वृन्दावन, जो आनन्द का निकेतन, माधुर्य की खान तथा प्रेम का सरोवर है।

३. उपासना-तत्त्व—व्रज की बधुओं के द्वारा सम्पादित उपासना ही मुख्य उपासना है। इसका बीज है रागात्मिका भक्ति, अनुरागमूलक भक्ति। वैधी भक्ति की उपासना रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पटरानियां करती हैं, परन्तु इसमें विधि-विधान ही विशेष है, हृदय के अनुराग का सम्बन्ध बहुत ही न्यून है। परन्तु गोपियों की उपासना सर्वथा स्वार्थहीन, अहैतुकी तथा सान्द्ररसमयी है और यही आदर्श है उपासना-तत्त्व का।

४. शास्त्र-तत्त्व—सबसे श्रेष्ठ शास्त्र है भागवत पुराण, जिसमें श्रीकृष्ण की ललित लीलाओं का कीर्तन किया गया है और जिसमें भक्ति के नाना रूपों का सरस विवरण है।

५. पुरुषार्थ-तत्त्व—चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—से हमारा परिचय है, परन्तु चैतन्य-मत में इन चारों से भी बढ़कर पञ्चम पुरुषार्थ है, जिसका नाम है—'प्रेमा'। इसीकी उपलब्धि मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। चैतन्य महाप्रभु ने अपने जीवन की लीलाओं के द्वारा इन पांचों तत्त्वों को भली-भांति प्रदर्शित कर मानवों के कल्याण का एक मंगलमय मार्ग प्रतिष्ठित किया।

साध्य और साधन

गौडीय वैष्णवों ने मानव-जीवन की समस्याओं की मीमांसा बड़ी अन्तरंग दृष्टि से की है। मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है? किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव सर्वदा सचेष्ट रहता है? मनुष्य भगवच्चालित यन्त्र के समान

है अवश्य, फिर भी वह अपने भाग्य का विधाता है। अपना कल्याण वह अवश्य चाहता है, किन्तु वह ठीक-ठीक नहीं जानता कि उसका कल्याण किस मार्ग पर अग्रसर होने से सम्भव है। गुरु तथा शास्त्र का उपदेश उसे जीवन की सच्ची दिशा प्रदर्शित करने में समर्थ होता है। श्रीमद्भागवत का सुन्दर उपदेश है कि जब यात्रा करनेवाले जीव के संसार का नाश होनेवाला होता है, तब उसे भगवान् के किसी भक्त का समागम प्राप्त होता है। उस सत्संग के होने पर ही जीव भगवान् में प्रेम करने लगता है और उस प्रेम द्वारा ही वह सद्गति (मोक्ष) प्राप्त करता है।

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत्
जनस्य तर्ह्यच्युतसत्समागमः।
सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते रतिः॥

—भागवत, १०।५१।५५

जीवन का परम मंगलमय साध्य है—'प्रेमा'। यह मोक्ष से भी बढ़कर मान्य पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के चतुष्टय होने की बात ये वैष्णव लोग नहीं मानते। अन्य दर्शनवाले जहां मोक्ष को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं, वहां चैतन्य मत में प्रेमा या प्रेम ही जीवन का सार है और प्रेमा साक्षात् कृष्ण का ही रूप है। इसीलिए ये पंच पुरुषार्थ को माननेवाले दार्शनिक हैं।

रूप गोस्वामी ने इस प्रेमा-तत्त्व की बड़ी ही मनोवैज्ञानिक व्याख्या अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत की है, जो आधुनिक मनोविज्ञान के पण्डितों के लिए विशेष मनन करने योग्य है। उनका कथन है कि प्रेम विभिन्न क्रमों को पार करता हुआ अपने विशुद्ध रूप में आविर्भूत होता है। इसकी क्रमिक दशाओं के नाम नीचे दिये जाते हैं, जिनको पार करने के बाद यह शुद्ध तत्त्व उद्भूत होता है। इन भावनाओं की क्रमबद्ध शृंखला यह है—स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव तथा महाभाव। इन मानस-वृत्तियों के द्वारा प्रेम किस तरह परिनिष्ठित प्रेमा के रूप में प्रतिष्ठा पाता है, इसपर विचार करना आवश्यक है।

१. स्नेह—जब प्रेम घनीभूत दशा में ऐसा प्रभावशाली बन जाता है कि हृदय पिघल उठता है, तब इसका नाम 'स्नेह' होता है।

२. **मान**—यह प्रेम के परिवर्धन तथा विकास की अग्रिम दशा है। जब स्नेह विकास की ऊर्ध्वगामी दिशा में उपभोग के माधुर्य को बढ़ाने और पुष्ट करने के लिए औदासीन्य की भावना को अपनाता है, तब यह 'मान' कहलाता है। यह भाव क्रोध नहीं है, किन्तु बाहरी दृष्टि से क्रोध के समान प्रतीयमान होता है।

३. **प्रणय**—(प्रकर्षेण नयति सामीप्यम्)। जब प्रेमी प्रेमिका के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है, तब यह 'प्रणय' कहलाता है। यह एक का दूसरे के साथ पूर्ण ऐक्याकी दशा का सूचक है, जब दोनों में आपाततः प्रतीयमान-भेद अभेद के रूप में विकसित हो उठता है।

४. **राग**—प्रेमपात्र के लिए नाना यातनाएं सहने पर भी जब प्रेमी के हृदय में आनन्द-ही-आनन्द विद्यमान रहता है, वह किसी प्रकार का न तो खेद पाता है और न विषाद, तब वह स्नेह 'राग' की संज्ञा पाता है।

५. **अनुराग**—राग के पश्चात् होनेवाली यह मानसवृत्ति 'अनुराग' कहलाती है (अनु=पश्चात्, राग)। इस दशा में प्रेमी प्रेमपात्र के रूप में, व्यवहार में तथा आचरण में नवीन माधुर्य तथा आस्वाद पाता है।

६. **भाव**—'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भाव का लक्षण इस प्रकार किया गया है :

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥

—अर्थात् भाव वह मानस-दशा है, जिसकी आत्मा है शुद्ध सत्त्व। साधारण मायामिश्रित सत्त्व से पृथक् करने के लिए यहां 'शुद्ध सत्त्व' कहा गया है। यह प्रेमरूपी सूर्य की किरणों के साथ समता रखता है अर्थात् जिस प्रकार किरणें सूर्य के आगमन तथा उदय की सूचना देती हैं, उसी प्रकार भाव कृष्णप्रेम की सूचना देता है। यह श्रीकृष्ण के पाने की अभिलाषाओं द्वारा चित्त को पिघला देता है। इससे पूर्व उपासक के चित्त में कठोरता और काठिन्य की स्थिति बनी रहती है, किन्तु इस दशा के उदयकाल में चित्त पिघल जाने के कारण मसृण (चिकना) बन जाता है। ऐसी मानसिक वृत्ति 'भाव' के नाम से अभिहित की जाती है। इसमें सत्त्व की शुद्धता भाव का 'स्वरूप' लक्षण है और चित्त की मसृणता 'तटस्थ'-लक्षण है। इसीका अन्य

नाम 'रति' है।

७. **महाभाव**—भाव जब अपनी पूर्णता पर पहुंच जाता है, तब उसे 'महाभाव' कहते हैं। यही प्रेमा के नाम से साधारणतया अभिहित किया जाता है। इसका शास्त्रीय लक्षण इस प्रकार है :

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयान्वितः।
भाव एव स सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

—अर्थात् जब रति (भाव) परिबृंहित दशा में चित्त को पूर्व आरम्भिक दशा की अपेक्षा और भी अधिक कोमल तथा मृदुल बना देती है, तब उसे 'प्रेमा' कहते हैं। इस दशा में कृष्ण के प्रति अत्यधिक ममता या स्नेह या आसक्ति उत्पन्न होती है। यही प्रेमा 'भक्तिरस के लिए स्थायी भाव का कार्य करती है।

'प्रेमा' के उदय का भी एक मनोवैज्ञानिक क्रम है। कार्यकारण की एक शृंखला है, जिसके भीतर से जाने पर ही भक्त के हृदय में यथार्थ प्रेमा की उत्पत्ति होती है। 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' के अनुसार इस सोपान का क्रम नीचे दिया जाता है। सर्वप्रथम उत्पन्न होती है 'श्रद्धा' (दृढ़ विश्वास)। तब होता है साधु का समागम। तब भजन की क्रिया (श्रीकृष्ण के नामों का जप) आरम्भ होती है, जिससे भक्तों के अनर्थ का निवारण हो जाता है। अनन्तर उदित होती है 'निष्ठा' अर्थात् अत्यन्त उत्साह के साथ भजन का सन्तत सेवन और अनुष्ठान। तब होती है रुचि अर्थात् भजन करने तथा लीला-श्रवण में प्रेम, जिससे उत्पन्न होती है 'आसक्ति' अर्थात् दृढ़ गम्भीर स्नेह। इसके पीछे तथा अन्त में प्रेमा का उदय होता है। प्रेमा की समता सूर्य से दी जाती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय होने पर निशा का अवसान हो जाता है और सर्वत्र किरणों का विस्तार होता है, प्रेमा की भी यही दशा होती है। इस महाभाव के चित्त में उदय होते ही साधक का चित्त आह्लाद से प्रफुल्लित हो उठता है। प्रेमा के 'महाभाव' कहने का आशय यह है कि सांसारिक रति तो भावरूपा ही होती है, किन्तु श्रीकृष्णविषया रति ही महान् भाव (या स्थायीभाव) बनने की अधिकारिणी है।

चैतन्य-मत में श्रीकृष्ण-प्रेम ही 'साध्य-तत्त्व' है। इसकी प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है, कृष्णभक्ति। इस प्रकार वैष्णव-सम्प्रदाय में भक्ति ही

'अभिधेयतत्त्व' है। श्रीमद्भागवत के अनुसार ज्ञानयोग की प्राप्ति में महान् क्लेश होता है। इसे प्राप्त करने में साधक को केवल क्लेश ही हाथ लगता है, जैसे भूसा के कूटने में कष्ट-ही-कष्ट होता है—उससे एक भी दाना अन्न का नहीं मिलता। उधर भक्ति के आश्रयण से कल्याण बरसने लगता है। न तो उसमें कहीं क्लेश है, और न फल का अभाव :

श्रेय-स्त्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेसामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

—भागवत, दशम स्कंध, अ० १४, ब्रह्मा-स्तुति

ज्ञानी लोग समझते हैं कि उन्होंने जीवन्मुक्ति को पा लिया है अर्थात् जीवनकाल में ही सर्वदुःखों से मुक्त होकर आनन्द का अनुभव कर लिया है। किन्तु तथ्य तो यह है कि उनकी बुद्धि (विषय को समझनेवाली शक्ति) तबतक विशुद्ध, निर्मल, दोषरहित तथा पवित्र नहीं होती, जबतक उनके हृदय में श्रीकृष्ण के चरणारविन्द भक्ति का उदय नहीं होता। वे बड़े क्लेश से परम पद पर चढ़ भी जाते हैं, किन्तु भक्ति से हीन होने के कारण वे उस उच्च पद से गिर जाते हैं :

येऽन्येऽरविन्दाक्ष ! विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधो नाद्रितयुष्मदङ्घ्रयः॥

—भागवत, १० स्कन्ध

इस प्रकार मोक्ष की पदवी पाने के लिए भक्ति ही एकमात्र सुलभ साधन है। भक्ति के सहारे ही साधक परम पद को सर्वदा के लिए प्राप्त कर लेता है। उसे पाने पर उससे भक्त का कभी पतन नहीं होता। इस तरह चैतन्य मत में श्रीकृष्ण-प्रेम ही 'साध्य-तत्त्व' है तथा उसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय होने से श्रीकृष्ण-भक्ति ही 'साधन-तत्त्व' है।

५—वल्लभ-मत

वल्लभाचार्य भारतवर्ष के माननीय आचार्यों में अन्यतम हैं। इन्होंने पन्द्रहवीं शताब्दी में रुद्र-सम्प्रदाय की पुनः प्रतिष्ठा की। इस सम्प्रदाय के माननीय आचार्य थे—श्री विष्णु स्वामी, परन्तु कराल कलि के विलास से

उनका आचार्य रूप में केवल अभिधान ही अवशिष्ट है। आचार्य वल्लभ की दार्शनिक दृष्टि 'शुद्धाद्वैत' की है, जिसका व्यवहार-पक्ष 'पुष्टिमार्ग' के नाम से प्रख्यात है।

दार्शनिक तत्त्व

आचार्य जीव और ब्रह्म की नितान्त एकता के पक्षपाती हैं, परन्तु उनके विचार में ब्रह्म नितान्त विशुद्ध, माया के सम्पर्क लेश से भी सर्वथा अस्पृश्य, रहता है।

माया से सम्बन्धरहित होने के कारण ब्रह्म शुद्ध कहा जाता है और यही मायारहित स्वतन्त्र ब्रह्म इस संसार में कार्य तथा कारण रूप सर्वत्र व्यापक है। इसी कारण यह मत 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस मत में ब्रह्म सर्व-धर्म-विशिष्ट अंगीकृत किया गया है। अतः उसमें विरुद्ध धर्मों की सत्ता भी नित्य है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का श्रेष्ठ रूप निर्गुण है। वह माया के सम्बन्ध से सगुण रूप धारण करता है। वह सगुण के सम प्रतीत होता है। परन्तु शुद्धाद्वैती वल्लभ माया की सत्ता स्वीकार नहीं करते। ब्रह्म विरुद्ध धर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित नहीं होती, प्रत्युत वह स्वाभाविकी है। अखिल रसामृत मूर्ति श्री आनन्द कन्द कृष्ण ही परम ब्रह्म हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म ही जीव तथा जगत् के रूप में आविर्भूत होता है। भगवान् सच्चिदानन्द रूप हैं। वह अपनी इच्छा से अपने तीनों गुणों को लेकर ईश्वर रूप से प्रकट होते हैं। वह अपने आनन्दांश को तिरोहित कर जीव की सृष्टि करते हैं, और चित् तथा आनन्द दोनों को तिरोहित कर जड़ जगत् की सृष्टि करते है। इस प्रकार ईश्वर में सत्, चित् तथा आनन्द इन तीनों गुणों का विकास रहता है और 'आनन्द' की ही प्रधानता रहती है। जीव में आनन्द को छोड़कर शेष दो गुण विद्यमान रहते हैं और चित् की प्रधानता रहती है। जगत् में एक ही गुण विद्यमान रहता है और वह है केवल 'सत्', अर्थात् जड़ में सत्ता की ही एकमात्र स्थिति रहती है।

भगवान् इस सृष्टि के कर्त्ता हैं। इच्छावाला व्यक्ति ही किसी कार्य का कर्त्ता या सम्पादक बनता है, भगवान् तो ठहरे आप्तकाम।

तब स्पृहा कैसी ? **'आप्त कामस्य का स्पृहा'**। इसका उत्तर वल्लभाचार्य देते हैं कि भगवान् स्वतन्त्र हैं। यह जगत् उनकी लीला का विलास है। वह स्वेच्छया क्रीड़ा में निरत होते हैं। सृष्टि जिस प्रकार लीला है, संहार भी उसी प्रकार लीला है। वह लीला-निकेतन ललित लीलाएं किया करता है। हमारी क्रीड़ा या बालक की क्रीड़ा तथा भागवती क्रीड़ा में विशेष अन्तर है। इस भेद का स्पष्टीकरण यह श्लोक करता है—

"क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषाऽन्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृतस्य सदाऽन्यतः।"

अर्भक की क्रीड़ा में तीन बातें साफ दीख पड़ती हैं—उद्यम, बालक का प्रयत्न, काम-इच्छा तथा दूसरे के साथ की अपेक्षा, परन्तु भगवान् तो स्वतः तृप्त ठहरे, समग्र कामनाएं तृप्त हैं तथा सदा दूसरे से निवृत्त ठहरे। अतः उनमें उद्यम तथा अन्य-सम्पर्क की आवश्यकता ही नहीं रहती। हां, विलास की इच्छा अवश्य रहती है। यही तो लीला है, परन्तु पूर्णानन्द रूप भगवान् में यह न तो कोई प्रयास उत्पन्न करती है और न कोई बाहरी कार्य ही पैदा करती है। इस लीला-तत्त्व की व्याख्या सुबोधिनी में आचार्य चरण ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में की है—

"लीला नाम विलासेच्छा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्याबहिः कार्य जन्यते जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयासं जनयति। किन्तु अन्तः करणे पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्यजनन सदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते।"

—सुबोधिनी, भागवत, तृतीय-स्कन्ध

मर्यादा-मार्ग

वल्लभाचार्य के अनुसार मार्ग दो प्रकार के होते हैं—मर्यादा-मार्ग और पुष्टि-मार्ग। मर्यादा-मार्ग वैदिक मार्ग है, जिसमें लोक-मर्यादा की रक्षा प्रधान लक्ष्य है। मर्यादा-मार्ग का मूल मंत्र है—**'कर्मानुरूपं फलं'**। जीव जैसा कर्म करेगा, भगवान् उसे वैसा ही फल देते हैं। कर्म की विशेष महिमा है। कर्म के द्वारा जीव बद्ध है और फल देने के लिए भगवान् भी कर्म के द्वारा परतंत्र हैं। भगवान् फल देने के लिए जीव के कर्मों की अपेक्षा रखते हैं। कर्म का करना प्रयत्न के ऊपर साक्षेप है। प्रयत्न में काम की अपेक्षा है। काम में

प्रवाह की अपेक्षा रहती है। इसी मर्यादा की रक्षा करने के लिए भगवान् ने वेद की रचना की। इसलिए ब्रह्म में दोष का गन्ध भी नहीं है और न इससे उनमें ऐश्वर्य-भाव का ही अभाव सम्पन्न होता है। मर्यादा-मार्ग की विशिष्टता ही ऐसी है कि ब्रह्म फल प्रदान करने के लिए जीवों के कर्मों की अपेक्षा रखता है। वह स्वयं इस विषय में परतन्त्र है। आचार्य के शब्दों में ही मर्यादा मार्ग की विचित्रता देखिये—

"फलदाने कर्मापेक्षः। कर्म कारये प्रयत्नापेक्षः। प्रयत्ने कामापेक्षः। कामेप्रवाहापेक्षः। इति मर्यादा रक्षार्थं वेदं चकार। ततो ब्रह्मादि दोष-गंधोऽपि न चानीश्वरत्वम्। मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्।"

—अणु-भाष्य-सूत्र, २।३।४२

मर्यादा-मार्ग का भी अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है और यह फल शास्त्र-विहित ज्ञान और कर्म के आचरण से ही मिलता है। इस मार्ग का पथिक शास्त्रों में विहित स्वकीय आश्रम-धर्म तथा कर्म का विधिवत् निष्पादन करता है और ज्ञान के द्वारा दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति पाने में समर्थ होता है।

पुष्टि-मार्ग

पुष्टि-मार्ग इससे नितान्त विलक्षण है। यह मार्ग श्रीमद्भागवत पुराण के ही सुन्दर सिद्धान्तों का विलास है। 'पुष्टि' शब्द भी भागवत की देन है। पुष्टि का अर्थ है 'भगवदनुग्रह', भगवान् का अनुग्रह, भगवान् की कृपा, उनकी दया—

"पोषणं तदनुग्रहः।"

—भागवत, २।१०।४

पुष्टि का प्रधान साधन है भक्ति-प्रपत्ति। बिना भगवान् के शरणापन्न हुए मुक्ति नहीं होती और यह भक्ति भी 'आनन्दकन्द श्री ब्रजचन्द' के अनुग्रह से ही साध्य है। जगत का साधारण व्यापार भी बिना भगवती कृपा के सुलभ नहीं होता, तब भक्ति जैसे पदार्थ की प्राप्ति भी उसके बिना सुतरां दुष्कर है। भागवत् जिसे 'पुष्टि' के नाम से पुकारता है, वही है तन्त्रों की भाषा में 'शक्तिपात'। क्रिष्टी धर्म में इसीका नाम है 'डिसेंट ऑव डिवाइन ग्रेस।' जीव में भगवत् कृपा का पतन होने पर ही वह अकुं-

ठित शक्ति होकर मुक्ति की ओर अग्रसर होता है, भक्ति करने का अधिकारी बनता है। वल्लभाचार्य के शब्दों में पुष्टि-मार्ग है--

"अनुग्रहैक साध्यः प्रमाणामार्गाद् विलक्षणः।"

—ब्रह्मसूत्र, अणुभाष्य ४।४।६

पुष्टि-मार्ग केवल अनुग्रह के ही द्वारा साध्य होता है, इसकी सिद्धि का अन्य मार्ग है ही नहीं। इसलिए यह मर्यादा-मार्ग से विलक्षण है। पुष्टि-मार्ग वही है, जिसमें साधक सर्वथा समग्र विषयों को त्यागकर अपनी देह, वासना, कामना आदि समस्त पदार्थों का समर्पण भगवान् में कर देता है--

"समस्त विषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि।
समर्पणं च देहादेः 'पुष्टिमार्ग' सकथ्यते।"

इस मार्ग में भक्ति ही प्रधान है। भगवान् सर्वथा स्वतन्त्र हैं। फल देने के लिए कर्म की तनिक भी अपेक्षा नहीं रखते। वह सर्वशक्तिशाली प्रभु अपनी दया से आत्म-समर्पणशील जीवों का उद्धार करते हैं। वह न तो उनके कुकर्मों पर दृष्टि डालते हैं और न वह उनके अज्ञान की ओर अपना ध्यान देते हैं। इस मार्ग में भगवान् की भगवत्ता तथा सर्वशक्तिमत्ता का पूर्ण रक्षण है। भगवान् को कर्मापेक्षी माननेवाले मार्ग भगवान् की शक्तिमत्ता का निर्वाह क्या अच्छे ढंग से कर सकते हैं?

यह तो हुआ पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त। अब इसके व्यावहारिक साधन की ओर ध्यान दीजिये। इसका जिस विधि से व्यावहारिक रूप निष्पन्न होता है, उसका सम्प्रदाय में अभिधान है—'ब्रह्म-सम्बन्ध'। आचार्य वल्लभ ने अपने 'सिद्धान्त-रहस्य' नामक प्रख्यात स्तोत्र में इस अनुष्ठान में का उल्लेख किया है। इस अनुष्ठान के द्वारा भागवत-तत्ववेत्ता गुरु, मुमुक्षु तथा शिष्य का भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ देता है। अधिकारी शिष्य को ही सुयोग गुरु 'शरणमंत्र' का उपदेश देते हैं। यह माननीय मन्त्र है—

"श्रीकृष्णः शरणं मम।"

आचार्य पाद ने स्वयं इस मंत्र के विषय में अपने 'नवरत्न' में कहा है—

"तस्मात् सर्वात्मना नित्यं 'श्रीकृष्णः शरणं मम।'
वदद्भिरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः।"

—नवरत्न, ६

इसके अनन्तर गुरु शिष्य को भगवान् के विग्रह के पास ले जाता है, कंठी और माला देकर 'दीक्षामंत्र' उपदेश देता है। यह सुतरां गोप्य मंत्र 'आत्मनिवेदन मंत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें साधक अपनी समस्त वस्तुओं को, अपनी देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण को, उनके धर्मों के साथ अपनी आत्मा को भी भगवान् को निवेदन कर देता है। वह मन्त्र यह है—

"सहस्र परिवत्सरमितकालजात कृष्ण वियोग-जनित तापक्लेशानन्द तिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रिय प्राणान्तःकरणानि तद् धर्माश्च दारागार पुत्राप्तवित्तेहापराणि, आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि।"

इस मंत्र-दीक्षा के अनन्तर साधक का नवीन जन्म सम्पन्न हो जाता है। भक्त को गोपियों के आदर्श का पालन करना चाहिए। भगवान् को आत्म-समर्पण के अनन्तर भक्त को अपने जीवन पर तनिक भी ममता नहीं—स्वतन्त्रता नहीं। वह तो यन्त्रवत् भगवान् की ही प्रेरणा से प्रपंच में निरत रहे, तो भी उसके पतन का कोई भय नहीं, परन्तु साधक में होनी चाहिए सच्ची प्रपत्ति, सत्यनिष्ठा, ऐकान्तिकी भक्ति, अनन्या भक्ति। भागवत की यह उक्ति यथार्थ है—

"तावद् रागादयः स्तेनास्तावद् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण! न ते जनाः॥"

—भागवत, १०।१४।३६

राग-द्वेष तभी तक चोर के समान हृदय की शान्ति को चुराते हैं, तभी तक गृह कारागृह है—जेलखाने के समान भयानक तथा स्वतन्त्रता का अपहर्ता है, तभी तक मोह पैर का बंधन है; जबतक, हे कृष्ण, हम आपके जन, सेवक, दास, शरणापन्न नहीं हो जाते।

जगत् के प्रपंच से भागने की आवश्यकता नहीं है। भागकर कोई जा ही कहां सकता है? आवश्यकता है इसी ब्रह्म-सम्बन्ध की; अपनी समग्र वृत्तियों को, समग्र कामनाओं को भगवान् के समर्पण कर देने की। भगवान् के दास, भगवज्जन, भवदीय होते ही भक्त की सत्ता ही पृथक् नहीं रहती। उसका जीवन भगवन्मय हो जाता है और इसी कारण संसार में साधारणतया जो पदार्थ बंधन का कार्य करते हैं, वे ही इस दशा में मुक्ति के

साधक बन जाते हैं। यह परिवर्तन तथा परिणाम ब्रह्म-सम्बन्ध की स्थापना पर ही सिद्ध होता है।

अतः उपर्युक्त विवेचन से मर्यादा-मार्ग से पुष्टि-मार्ग की विलक्षणता स्पष्ट है। मर्यादा-मार्ग वैदिक है, जो 'अक्षर-ब्रह्म' की वाणी से उत्पन्न हुआ है, परन्तु पुष्टि-मार्ग पुरुषोत्तम के साक्षात् शरीर से निकला है। ध्येय की भी दोनों में विभिन्नता है। मर्यादा-मार्ग में ज्ञान तथा श्रवण आदि साधनों द्वारा सायुज्यमुक्ति की प्राप्ति ही ध्येय है। परन्तु पुष्टि-मार्ग में सर्वात्मना 'आत्मसमर्पण' तथा 'विप्रयोग' रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनन्द-धाम भगवान् के साक्षात् अधरामृत का पान ही मुख्य फल है।

भक्ति-मीमांसा

भक्ति साधन भी है और साध्य भी। साधन-भूता भक्ति से ज्ञान का उदय होता है और इस ज्ञान के उदय से भक्ति उत्पन्न होती है। गीता के अनुसार भी साधन-मार्ग का यही क्रम है। गीता का साधन-क्रम भी यही है—कर्म-ज्ञान-भक्ति। कर्म के यथावदनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होती है और शुद्ध चित्त में ही ज्ञान-धारण करने की योग्यता है। पूर्णज्ञान के उदय होने पर भक्ति की उत्पत्ति होती है। परन्तु यह भक्ति साधन-रूपा न होकर साध्य-रूपा है। साध्य-रूपा भक्ति ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक है, परन्तु प्रेम-रूपिणी भक्ति का अधिकारी वही व्यक्ति होता है, जो पूर्ण ज्ञान से सम्पन्न होता है। गीता ने भक्ति को ज्ञान का साधन स्पष्टतया उद्घोषित किया है—

> **"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।**
> **ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम्॥"**
>
> —श्रीमद्भगवतगीता, १८।५५

साधक भक्ति के द्वारा भगवान् को तत्त्वतः जानता है। तत्त्व-ज्ञान की दो रूप से प्राप्ति होती है। **"यावान् और यः"**—भगवान् का विस्तार तथा भगवान् का तात्विक स्वरूप। जगत का यह विस्तार उपाधिकृत है। यह समग्र जगत् ही उसके विस्तार का पर्यवसान है, परन्तु यह समस्त उपाधि-निर्मित है, भगवान् का तात्विक रूप समग्र उपाधियों से रहित है। वह उत्तम पुरुष है तथा आकाश के समान निरंजन, अद्वैत तथा अमर है। इसकी

उपलब्धि भक्ति के द्वारा होती है।

सम्पूर्ण ज्ञान होने पर ही सच्ची भक्ति का उदय होता है। शांडिल्य के शब्दों में भक्ति ईश्वर में परा, श्रेष्ठ अनुरक्ति है—**"सा परानुरक्तीश्वरे।"** भक्ति परम प्रेम-रूपा है। भक्त-शिरोमणि रूपगोस्वामी ने भक्ति का बड़ा ही सुन्दर तथा तात्त्विक लक्षण इस प्रकार किया है—

"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥"

—भक्तिरसामृतसिन्धु, १।१।११

भगवान् श्रीकृष्ण परम स्नेहास्पद हैं। अतः उनके अनुशीलन को भक्ति कहते हैं, जिसमें अन्य किसी पदार्थ की अभिलाषा न हो, ज्ञान (निर्गुण ब्रह्मानुसंधान) तथा कर्म (स्मृति में प्रतिपादित नित्य-नैमित्तिक आदि) का आवरण न हो, परन्तु कृष्ण के अनुकूल होनेवाली प्रवृत्ति की सत्ता हो। इस भक्ति का उदय ज्ञान के अनन्तर होता है। इसलिए ज्ञानी भक्त की गीता में सर्वश्रेष्ट भक्त के रूप में गणना है। इतना ही क्यों? ज्ञानी भक्त तो भगवान् की ही आत्मा है—**"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।"** ज्ञानी भक्त की इस महती प्रतिष्ठा का एक कारण है। आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्त सकाम होते हैं, क्योंकि वे अपनी आत्मा की तृप्ति में निरत रहते हैं। परन्तु ज्ञानी होता है आप्तकाम अर्थात् निष्काम भक्त। कामना-विरहित होने से ही ज्ञानी भक्त भगवान् का विशेष प्यारा होता है। गीता के ऐसे कथन को ब्रह्मसूत्र भी प्रमाणित कर रहा है। ब्रह्मसूत्र का स्पष्ट कथन है कि भगवान् मुक्त पुरुषों के द्वारा उपसर्पणीय होते हैं—

"मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात्।"

—ब्रह्मसूत्र, १।२।४

भागवत पुराण भी इसी तत्त्व का प्रतिपादन विभिन्न शब्दों में इसी प्रकार करता है—

"आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥"

आशय यह है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र इतने कमनीय गुणों के आगार हैं कि संसार की ग्रन्थियों का उन्मोचन करनेवाले, आत्मा में रमण करने-

वाले सन्त लोग भगवान् में बिना किसी कामना के ही भक्ति किया करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्ण ज्ञानी ही भक्ति का विशिष्ट अधिकारी होता है, परन्तु यह साधनारूपा भक्ति न होकर साध्यरूपा भक्ति है।

चैतन्य मत के अनुयायी भक्ति की तीन भूमिका मानते हैं—१. साधन-भक्ति, २. भाव-भक्ति तथा ३. प्रेमा-भक्ति। साधन-भक्ति वैधी तथा रागानुरागा रूप से दो प्रकार की होती है। साधन-भक्ति का उत्कृष्ट रूप भाव-भक्ति है और यही घनीभूत भाव भक्ति ही प्रेमाभक्ति के नाम से पुकारी जाती है। रूपगोस्वामी के शब्दों में अन्तिम दोनों भक्तियों के रूप इस श्लोक में प्रकट किये गए हैं—

रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

गौड़ीय वैष्णवों की भक्ति के इन तीन प्रकारों को वल्लभ ने दो ही प्रकार की भक्ति के भीतर माना है। एक है मर्यादा-भक्ति और दूसरी है पुष्टि-भक्ति, जिनमें पहली साधना रूपा है और दूसरी साध्यरूपा। भक्ति होने में यही सर्वश्रेष्ठ साधन है।

वल्लभ के सिद्धान्त का यही निष्कर्ष है—

१. भगवान् श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म हैं।

२. उनके अनुग्रह से ही जीव को मुक्ति मिलती है।

३. मुक्ति का प्रधान साधन साध्यरूपा भक्ति है।

४. संसार में तीन ही जीवन के उद्देश्य हैं—

(क) आचार्य वल्लभ का आश्रय; (ख) सुबोधिनी (भागवत की वल्लभ-प्रणीत टीका) का अध्ययन; (ग) भगवान् श्री राधिकानाथ की उपासना।

नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी।
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले॥

उपसंहार

इस प्रकार इस ग्रन्थ में भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में परस्पर-विरोध दृष्टिगोचर होता है, परन्तु भीतर प्रवेश करने पर उनमें विरोध का परिहार कर एकवाक्यता लाई जा सकती है। भेद का कारण दृष्टि-भेद है। न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा का दृष्टि-भेद प्रारम्भिक माना जाता है। उससे अधिक विकासशील दृष्टि है सांख्ययोग की और इसलिए वह आगे की कोटि में आता है। वेदान्त की दृष्टि भारतीय दार्शनिक चिन्तनों में अन्तिम मानी जाती है। कार्यकारण की शृंखला पर दृष्टिपात करने से तीन सिद्धान्त मुख्यतया सामने आते हैं, जो क्रमशः विकास की योजना प्रस्तुत करते हैं—

आरम्भवाद—न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा।

परिणामवाद—सांख्य, योग, विशिष्टाद्वैत आदि वैष्णव सम्प्रदाय।

विवर्तवाद—अद्वैत वेदान्त।

'आरम्भवाद' की दृष्टि में यह विश्व विभिन्न परमाणुओं के पुंज से उत्पन्न होता है। कारण में कार्य की सत्ता पहले से नहीं रहती। उत्पत्ति एक नवीन घटना है। कार्य का आरम्भ नूतन घटना है। इस दृष्टि से तन्तुओं से पट की उत्पत्ति एक नई वस्तु है, क्योंकि तन्तुओं में पट पहले से वर्तमान नहीं था, प्रत्युत जुलाहे के द्वारा वह नये रूप में उत्पन्न किया जाता है। यह दृष्टि है न्याय, वैशेषिक तथा कर्म-मीमांसा की।

'परिणामवाद' एक डग आगे बढ़ता है। इसके अनुसार कार्य और कारण में अन्तर या पार्थक्य नहीं रहता। कार्य के व्यापार होने से पूर्व

कारण में कार्य अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। कार्य-व्यापार द्वारा वही अव्यक्त वस्तु व्यक्त बनाई जाती है। इस मत से तन्तुओं में पट आरम्भ से ही वर्तमान रहता है। जुलाहे के व्यापार से वह अव्यक्त पट व्यक्त पट के रूप में आविर्भाव पाता है। कार्य व्यक्त दशा का सूचक, और कारण है अव्यक्त दशा का द्योतक। सांख्य, योग तथा विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि भक्तिपरक वैष्णव वेदान्त की दृष्टि है।

'विवर्तवाद' के अनुसार कारण ही एकमात्र सत्ता है। कार्य कारण से अभिव्यक्ति पाने पर भी वास्तविक नहीं होता। ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और यह जगत् उससे आविर्भूत असत् पदार्थ है। इनका नाम विवर्तवाद है। यह दृष्टि अद्वैत वेदान्त के अनुयायियों की है। इस प्रकार दृष्टिभेद से दर्शनों में परस्पर भेद है।

इस दृष्टि-भेद को एक उदाहरण की सहायता से समझिये। भारतीय दर्शन एक विशाल महल के समान है, जिसके अवान्तर सम्प्रदाय विभिन्न खण्डों के सदृश है। जिस प्रकार कई खण्डवाले मकान का प्रत्येक खण्ड स्वतन्त्र होता है, वही दशा वहां दार्शनिक सम्प्रदायों की है। एक खण्ड में रहने-वाला व्यक्ति ऊपर के खण्ड की बात नहीं जानता और उसे जानने की जरू-रत ही नहीं है। वह स्वतः पूर्ण है। दार्शनिक विकास की जिस सीढ़ी पर वह ठहरा है, वहां वह अपने-आप पूरा है। इस प्रकार दर्शनों में सविरोध दिख-लाया गया है। यह तो षड्दर्शन की बात ठहरी। जैन तथा बौद्ध दर्शनों का भी षड्दर्शन के साथ मंजुल सामंजस्य दिखलाने की ओर प्राचीन विद्वानों की दृष्टि गई थी, जिसका संकेत इस श्लोक में किया गया मिलता है—

श्रोतव्यः सौगतो धर्मः कर्तव्यः पुनरार्हतः।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः॥

—बुद्ध धर्म को केवल सुन लेना चाहिए। जैन-धर्म को कर्तव्य मानना चाहिए। वैदिक धर्म को व्यवहार में लाना चाहिए तथा परम शिव का ध्यान करना चाहिए। अद्वैत सत्ता ही वास्तव सत्ता है। वर्तमान विज्ञान भी उसी ओर लक्ष्य कर रहा है। सिद्धसेन दिवाकर की यह उक्ति कितनी सटीक है—

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥

—हे प्रभु, जैसे समुद्र में सब नदियां मिल जाती हैं, ऐसे ही सब दार्शनिक दृष्टियां आपमें समन्वित हैं। किन्तु पृथक्-पृथक् उनमें आप दृष्टिगोचर नहीं होते, जैसे अलग-अलग नदियों में समुद्र का परिच्छेद नहीं है।

आर्य समाज पंजाबी बाग
पुस्तकालय
सं०..................
नई दिल्ली-२६

अनुक्रमणिका

[दर्शन के महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों का समावेश इस अनुक्रमणिका में किया गया है। मूल शब्दों के अन्य रूपों और भेदों को अलग न रखकर उन्हींके साथ दे दिया गया है।]

अंतर्बुद्धि १४
अंतराय १५१
अंतर्यामी ३७०, १
अंतःकरण २७८, ३४८, ५०
अंश, (अंशी) ३७१
अक्षर ९१, ३३५
अचित् ३७०, ४
अजीव १४२
अज्ञान ३३९, ६४
अणुवाद ३१५
अदृष्ट २१५
अद्वैत—(द्वैत+) ३६९ (विशिष्ट+) ७०, (केवल+) २, ८४
अधर्म २४५
अधिभूत ८७
अध्यारोप ३६२
अध्यास ३४०, ५१
अनन्त चतुष्टय १४६
अनन्या १०४
अनास्रव १८०
अनिर्वचनीय ३३०, ६
अनुपलब्धि ३१४
अनुभूति—(अपरोक्ष—) ३५७, ६३
अनुमान २१९, २०, (स्वार्थ+), (परार्थ+) १ (केवलान्वयी–) (केवल व्यतिरेकी) (अन्वय-व्यतिरेकी–) ३, ३११
अनुमिति २१७, २०
अनुराग ३८१
अनेकांत १३७
अन्योन्याभाव २४९
अपरत्व २४३
अपवर्ग २१३, २८
अपवाद ३६२
अपान २३७
अपूर्व १८१, ३१८९
अपेक्षावाद १३८
अपौरुषेय ३१२
अप्राकृत ३७४
अभाव, (अत्यंत+) २४९, ३१६
अभिनिवेश २९०
अमूर्त ३३४
अर्थ २१२, (–वाद) ३१२
अर्थापत्ति ३१३
अर्हन्त या अरिहन्त १४७
अवक्षेपण २४७
अवयव २०९, ७२
अवस्था—(जाग्रत—), (स्वप्न–) ३४७

अविज्ञप्ति १८१
अविद्या १७१, २, ८६, ३३५, ८, ९
अव्यक्त ९१, २६६, ७१, ७३, ३३४, ५
असत्कार्यवाद २५८
असिद्ध २२५
अस्तिकाय १४४
अस्मिता २०३, ९०
अहंकार २७७, ३५०
अहिंसा १५६
आकाश १४३, २३७
आकुंचन २४७
आचार्य ३५९
आत्म-साक्षात्कार ३०५
आत्मा ८९, १२४, २११, (मुक्त–) ३०, ९, ३४९
आधिदैविक २३
आधिभौतिक २३
आध्यात्मिक २३
आनन्द ३८४
आयतन १७२
आरंभवाद ३९२
आर्य अष्टांगिक मार्ग १७२
आर्य सत्य १७३
आवरण १९७, ३३७, ६४
आशय ३०१
आसक्ति ३८२
आसन २९२
आस्तिक २०
आस्रव १४४

इंद्रिय २१२, ७७, (ज्ञान +) (कर्म +) ३४७, ५०
इच्छा २४४

ईश्वर १४७, २१३, (—प्रणिधान) ८८, ३०१, ५, २१, ३३, ४९, ५३, ४, ५, ७०

उच्छिष्ट ४२, ७०
उत्क्षेपण २४७
उदान २३७
उदाहरण २२२
उन्मेष १४
उपनय २२२
उपमान २१८, २६, ३११
उपमिति २१७
उपरति ३६१
उपस्थ ३५०
उपादान १७०, २
उपाय प्रत्यय २८६
ऊर्मि २३०

एकाग्र २८७
एकान्त १३७

कथा २१०
करण या असाधारण कारण (समवायी–), (असमवायी–), (निमित्त—) २२७
कर्म (—योग), (—वाद) ९३, (नियतं—) १०१, ३१६, (काम्य–), (निषिद्ध–), (नित्य–) २३, (नैमित्तिक–), (प्रारब्ध–), (—ज्ञान-समुच्चयवाद) ४
काम १२९
काल ३, १९, १४३, २३८
कूर्म २३७, ४७

कृकर २३७
केवली १४७
कैवल्य ३००
कोष–(अन्नमय–), (प्राणमय–), (मनोमय–), (विज्ञानमय–) ३४५, (आनन्दमय–) ६
क्रियायोग २८८, ९
क्लेश २८९
क्लेशावरण १९७, ८, २०४
क्षिप्त २८७
क्षेत्र ३३२
क्षेत्रज्ञ ८९, २४०, ३३२

गंध २४२, ३५०
गमन २४७
गुण २४१, ६०, ३१६
गुरु ३५८, (परम–) ६०
गुरुत्व २४४

घ्राण ३५०

चक्षु ३५०
चार्वाक १२०
चित् ३७०, २
चित्त १७८, (—विप्रयुक्त) ८१, (–धर्म) २, २८६, ३५०
चिदाभास ३४३
चैतन्य १२३, ४
चैतसिक १८१, २
चोदना ५५

छल २१०

जगत् ३३१, ५१, ७४, ७
जरा-मरण १७०, २
जल २३५
जल्प २१०
जाति १७०, २११
जीव १४१, ३४८, ५५, ७२, ३, ४, (मुक्तियोग्य–) (नित्य-संसारी–), (तमोयोग्य–) ७
जीवन (मुक्त) ११४, (–मुक्ति) २८२, ३६५

ज्ञ २७१
ज्ञान–(परोक्ष–), (अपरोक्ष–) ३६४
ज्ञानयोग १०२
ज्ञानावरणीय १५१
ज्ञेयावरण १९७, ८, २०४

तत्व–(आराध्य–), (धाम–), (उपासना–), (शास्त्र–), (पुरुषार्थ–) ३७९, (प्रेमा–) ८० (लीला—) ५
तन्मात्र २७८, ३४८, ५५
तमोगुण २६३
तर्क २०९
तितिक्षा ३६१
तृष्णा १७०, २
तेज २३५
तैजस २७७, ३४९
त्र्यणुक (त्रसरेणु) २५०, ३१५
त्वक् ३५०

दंडनीति १३१
दम ३६१
दर्शन (–या दृष्टि) (–या साक्षा-त्कार) १६

दर्शनावरणीय १५१
दिक् २३९
दुःख १५८, दुखम्, (–समुदयः) (–निरोधः) १७३, (–निरोध-गामिनीप्रतितत्–) ४, २१३, ४४
दृष्टांत २०९
देवदत्त २३७
दोष २१३
द्रव्य—(धर्म–) (अधर्म–) १४३, २३४, ३१६
द्रव्यत्व २४४
द्व्यणुक २५०
द्वेष २४४, ९०
द्वैत ३६९

धनंजय २३७
धर्म १२९, ७९, (असंस्कृत–) १८०, (संस्कृत–) १, (–नैराश्य) ९७, २४५
धारणा २९४
ध्यान २९४

नाग २३७
नाम-रूप ४२, १७०, २, ३३१
नास्तिक २०
निगमन १६, २२२
निग्रह स्थान २११
नित्य–(परिणामी—), (कूटस्थ–) ३३६
निदिध्यासन ८१
नियम २९२
निर्गुण ७२, ३७१
निर्जरा १४६
निर्णय २१०
निर्वाण १९०, (अप्रतिष्ठित–), (सोपाधिशेष–), (निरुपाधि-शेष–), (प्रकृति-शुद्ध–) २००
निरुद्ध २९९
निरोध १५८, ७९, ९०
निश्चय ३५०
निष्ठा १०९, ३८२

पंचभूत २७४
पंचीकरण ३५४
पंडित १०३
पक्ष २२०
पदार्थ २३३
परत्व २४३
परतंत्र २७२, (–ता) ३१६
परप्रत्यक्ष १४
परम पद ३७४
परमाणु १४२, २३५, (–वाद), (–ओं) ३०८, १५
परावाक् १५
परिणाम—(विसदृश–), (सदृश–) १९, २६०, (स्वरूप–), (विरूप–) ४, (–वाद) ३९२
परिमाण २४२
परिवर्तन–(तात्विक–), (अतात्विक–) ३५३
पर्याय १४०
पाणि ३५०
पाद ३५०
पायु ३५०
पुद्गल १४२, (–नैरात्म्य) १९७
पुरुष ९९, ७७, २६७, (–की सिद्धि) ६८, (–की अनेकता) ६९, ७३

पुरुषार्थ १२९
पुरुषोत्तम ९१, २
पुर्यष्टक ३५४
पुष्टि ३८६
पृथ्वी २३५
पृथक्त्व २४३
पौरुषेय ३१२
प्रकृति (अपरा–), (परा–) ८६, २६२, (मूल–) ६, (–विकृति) ७४, ३३४, ९
प्रणय ३८१
प्रणिधान २८८
प्रतिज्ञा २२१
प्रति प्रसव ३००
प्रतीत्य समुत्पाद १७२
प्रत्यक्ष १२७, २१८, (निर्विकल्पक–), (सविकल्पक–) ९
प्रत्याहार २९३
प्रधान २६६, ३३४, ५
प्रमा (प्रत्यक्ष–) २१७ (शाब्दी–) ८, ३१२
प्रध्वंसाभाव २४९
प्रमाण २०९, १७, (शब्द–) ८, ३७८
प्रमेय २०९
प्रयत्न २४४
प्रयोजन २०९
प्रवृत्ति २१३, २८
प्रसारण २४७
प्राकृत ३७४
प्राख्या २८६
प्रागभाव २४९
प्राज्ञ ३४९
प्राण ६५, २३६, ३४८
प्राणायाम २९३
प्रेत्यभाव २१३

फल २१३

बंध १४५, २८०, ३६५
बंधन ३७५
बल ७६
बाधित २२५
बुद्धि २१३, ४३, ३५०
ब्रह्म ६९, (महद्—) ८७ ९०, ३२८, ३०, (निर्विशेष–) ४०, २, (सविशेष–) ५५ (—संबंध) ८७
ब्राह्मी स्थित १०३

भक्ति–(अनन्य) ११२, ३६१, ७८
भगवान ३८४
भव १७०, २
भाव ३८१
भावना २४४
भूतादि २७७
भेद–(सजातीय–), (विजातीय–), (स्वगत–) ३७१, ७
भेदाभेद–(सोपाधिक–), (स्वाभाविक) ३७०, ४, ५
भोगायतन १२५

मन २१३, ४०, ७४, ८, ३५०
मनन १८, ८१
महत् २७७
महाकाल ३६०
महाभाव ३८२
महाभूत २३४

महेश्वर ३५५
मान ३८१
माया ७७, २०४ (–वाद) ३२९, ३४, ६, ९
मार्ग–(पुष्टि–), (मर्यादा–) ३८५
मीमांसा—(कर्म–), (ज्ञान–), (पूर्व–), (उत्तर–) ३०७
मुक्त ३६३
मुक्ति २२८, ३६५, ७७
मूढ़ २८७
मूर्त ३३४
मुमुक्षता ३६१
मोक्ष १२५, ४६, २८०, ३२२, ३, ६५, ६, ७५
मोहनीय १५१

यम ११, २६२
युक्त ९६
योग ९९, २८५
योगांग २९१
योगाचार १८५

रजोगुण २६३
रयि ६५
रस २४२, ३५०
रसना ३५०
राग २९०, ३८१
रूप १८१, २४१, ३५०

लक्षण–(स्वरूप–), (तटस्थ–) ३४२
लोकायत १९, १२०
लिंग २७२

वाक् ३५०
वाणी (वंचिता–), (भ्रांत–) १२
वाद २१०
वायु २३६
वार्ता १३१
वासना २४५
विकृति २७४
विक्षिप्त २८७
विक्षेप ३३७
विचारणा (यौक्तिक–) १७
विज्ञान १७१, २, (–वाद) ७, (आलय–) ८, ८२, ६
वितण्डा २१०
विदेहमुक्ति २८२, ३६५
विपाक ३०१
विभाग २४३
विवर्तवाद २६०, ३५३, ९२, ३
विवेक—(–ख्याति) २०४, ७९ (–ज्ञान) ८१
विरुद्ध २२५
विशेष २४८, (धर्मि–), (धर्म–), (आधार–), (प्रदेश–) ३१६, ७, ७२
विश्व ३४९
वृत्तियां २८६
वेग २४४
वेद ३७८
वेदना १७०
वेदांत ३२६
वैकृत २७७
वैभाषिक १७७, ८
वैराग्य २९१, (पर–) ९
वैश्वानर ३४९
व्यक्त २६६, २७१, ३
व्यान २३७

व्यापक २२०
व्याप्य २२०
[illegible]प्ति—(अन्वय–),(व्यतिरेक–)
[illegible]२
[illegible] ३१६, (आवरण–),
[illegible] ३७, (मंत्र–)
[illegible]त) ८६
श[illegible] [illegible]२२६, ४५, ३१२, ५०
शम ३६१
शरणागति १०६, ३७२, ५
शरीर २१२, (सूक्ष्म–),(कारण–) ३४५
शून्य १७८, (–वाद) १७८, ८८
श्रवण ८१
श्रद्धा ३६१, ८२
श्रोत्र ३५०

षडायतन १७०

संकल्प २७८, ३५०
संख्या २४२, ३१६
संग १०१
संन्यास १००
संयम २६५
संयोग २४३
संवर १४६
संशय २०६
संसर्गाभाव २४६
संस्कार १७१, २, २४४
संस्कृत १८०
सक्त ९६
सगुण ७१
सत् १३६, ३८०
सत्कार्यवाद २५७
सत्प्रतिपक्ष २२५
सत्य १०, ११, (—ता) १८६
सत्वगुण २६२
सप्तभंगी १३८
समवाय २४८, ६६
समाधान ३६१
समाधि १७४, २९४, (संप्रज्ञात–), (असंप्रज्ञात–), (सवितर्क–) ६, (सविचार–), (सानंद–) (सास्मिता–)७, (ग्राह्य–), (सबीज–) (निर्बीज–) ९
समान २३७,(–तंत्र) ५१
समापत्ति —(ग्राह्य–), (ग्रहण), (ग्रहीत–) २९७, ८, ९
समुदय १५८
समुच्चयवादी ३७०
सम्यक्—(–ज्ञान), (–संकल्प), (–वचन), (–कर्मांत), (आजीव), (–व्यायाम) (–स्मृति),(–समाधि) १७४
सर्वज्ञ १४७, २४०, ३२१
सर्वास्तिवादी १८३
सव्यभिचार २२४
सादृश्य ३१६
साधन चतुष्टय ३६०
साध्य २२०
सामान्य —(पर–), (अपर–), (परापर–) २४७, ३१६
सास्रव १८०
सिद्धांत २०९
सुख २४४
सुषुप्ति २८५, (–दशा) ३४७
सूत्रात्मा ३४६

सौत्रान्तिक १७७, ८३
स्कंध १४३
स्कम्भ ४२
स्थित (—धी), (—प्रज्ञ) ११५,
(—स्थापक) २४५
स्थिर धी ११५
स्नेह २४४, ३८०
स्पर्श १७०, २, २४२, ३५०
स्मरण ३५०
स्याद्वाद १३८, ५४
स्वकर्म ११४
स्वभाववाद १६
स्वर्ग १२६

हेतु १७६, २२०, '
हेत्वाभास २१०, २-